

५३

# आनन्द-प्रवचन

आचार्य श्री आनन्द ऋषि

## प्रस्तुत कृति : विद्वानों की दृष्टि में

‘आनन्द-प्रवचन’ में अज्ञेय महामहिम आचार्य देव श्री आनन्दभारिणी म. के धीर-गम्भीर वचनों का सुन्दर प्रवाह ‘प्रवचन’ के रूप में प्रस्तुत हुआ है। वे आकृति से भी महासागर की तरह प्रशान्त, कान्त प्रतीत होते हैं और प्रकृति से भी। उनके मन की निर्मलता, सरलता, शैम्यता और भद्रता उनकी वाणी में पद-पद पर प्रस्फुटित होती पाई जा सकती होगी।

लगता है, आचार्य श्री जिन्हा से नहीं, हृदय से बोलते हैं, इसलिए उनकी वाणी मन पर सीधा असर करती है।

उनके अन्तर में वैराग्य की जो पावन धारा बह रही है, वाणी में उसका शीतल-स्पर्श सहज अनुभव किया जा सकता है।

—उपाध्याय अमर सुनि

भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

# आनन्द प्रवचन

(छठा भाग)

प्रवक्ता

राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्दऋषि

संपादिका

कमला जैन 'जीजी' एम. ए.

प्रकाशक

श्री रत्नजैन, पुस्तकालय, पाथर्डी

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अमृत महोत्सव प्रसंग पर प्रकाशित

पुस्तक

आनन्द प्रवचन [छठा भाग]

संप्रेरक

श्री कुन्दन ऋषि

प्रथमबार

वि. सं. २०३१ माघ

ई. सं. १९७५ फरवरी

महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष

प्रकाशक

श्रीरत्न जैन पुस्तकालय

पाथर्डी [अहमदनगर—महाराष्ट्र]

मुद्रक

श्रीचन्द्र सुराना के लिए

राष्ट्रीय आर्ट प्रिंटर्स, आगरा

**मूल्य १५-०० रुपये सिर्फ**

**प्लास्टिक कवर युक्त १०) रुपये**

## प्रकाशकीय

आनन्द प्रवचन का यह छठा भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। अभी १३ फरवरी को अमृत महोत्सव के प्रसंग पर पाँचवें भाग का विमोचन सम्पन्न हुआ था, हम दोनों भाग का विमोचन साथ ही कराना चाहते थे, किन्तु मुद्रण कार्य में कुछ विलम्ब हो जाने से वैसा सम्भव नहीं हुआ। अस्तु—

आनन्द प्रवचन के पिछले पाँच भाग पाठकों ने बड़े उत्साह और प्रेम के साथ अपनाये हैं। स्थान-स्थान से उनकी माँग बराबर आ रही है। सामान्य पाठकों को प्रेरणाप्रद सामग्री उसमें मिली है। इसी प्रकाशन शृंखला में अभी-अभी 'भावना योग' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक भी प्रकाश में आई है। भावनायोग में भावना के सम्बन्ध में बड़ा ही मौलिक तथा अनुसंधानपरक जीवनोपयोगी विवेचन किया गया है। इस पुस्तक का सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान श्रीचन्द्र जी सुराना 'सरस' ने किया है।

प्रस्तुत छठे भाग में संवर तत्त्व के विवेचन पर आचार्य श्री के २८ प्रवचन हैं। कुशल सम्पादिका बहन श्री कमला "जीजी" ने बड़े ही श्रम और अध्यवसाय के साथ इन प्रवचनों का सम्पादन किया है। 'जीजी' ने साहित्य सेवा के क्षेत्र में जो उपलब्धि की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी।

इस पुस्तक का मुद्रण पूर्व भागों की भाँति श्रीयुत श्रीचन्द्र जी सुराना की देल्ल-रेख में हुआ है। उनका योगदान बहुमूल्य है।

प्रकाशन-मुद्रण में श्री गुलशनराय जैन एन्ड संस देहली एवं श्री श्यामलाल जैन भटिंडा आदि सज्जनों का उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ तदर्थ हम उनके आभारी हैं। आशा है पाठक इसे भी उत्साहपूर्वक अपनायेंगे।

मन्त्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

## भूमिका

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी इस युग के एक महान प्रकाश स्तम्भ हैं। जिनके आलोक में समस्त जैन शासन विश्व को अहिंसा, सत्य एवं प्रेम का सन्देश फैला रहा है। वे एक उत्कृष्ट साधक, मनीषी और तत्त्ववेत्ता हैं—जिनके विचारों में आज के उलझे हुए मण्डितस्क को सही दिशा में आने की प्रेरणा है। “आनन्द-प्रवचन” में उनके कुछ प्रवचन संग्रहीत हैं ! सन्तों की आध्यात्म-साधना, गूढ़ ज्ञान और निर्मल चारित्र्य न चर्म चक्षुओं से देखे जा सकते हैं और न उन्हें कोई मूर्तिमान आकार ही दिया जा सकता है। उनकी अमृतमयी वाणी का सिर्फ श्रवण किया जा सकता है। जिसमें उनके उज्ज्वल ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती रहती है। देशकाल की सीमाओं से मुक्त वह शाश्वत चिरन्तन और चिर-नूतन होती है। “आनन्द प्रवचन” में भी आचार्य श्री की वही विचारधारा है, जिसमें आज के भौतिकवादी युग में महावीर वाणी का आध्यात्मिक सन्देश निहित है। हमें अपने महान् धर्म, साहित्य और संस्कृति की ज्ञांकी भी उनमें मिलती है। जिन्हें हम भुलाकर खो बैठे हैं।

धर्म, बुद्धि, तर्क और चिन्तन का विषय नहीं है। दर्शन और तर्कशास्त्र अपने-अपने सिद्धान्तों में वस्तुतत्त्व की परिभाषा करते आए हैं और बुद्धि उनके विषय में सोचती हुई भ्रमित हो रही है। आवश्यकता है आस्था, श्रद्धा और विश्वास की, जो धर्म को ग्रहण करे—अन्तर्मन से स्वीकार करे और उसे आत्मसात कर ले। संसार के दुखों के निवारण की यही एक अमृतोपम औषधि है। धर्म और धर्म के सिद्धान्तों को सहज स्वाभाविक रूप से जीवन में उतारने का सन्देश ही “आनन्द-प्रवचन” में समाहित है।

मेरे लिए यह भी हर्ष की बात है कि इन प्रवचनों का सम्पादन मेरी बड़ी बहिन सुश्री कमला जैन ‘जीजी’ के द्वारा हुआ है। “आनन्द प्रवचन” के पिछले भागों की तरह ही पाठकगण इस नूतन कृति का स्वागत करेंगे। ऐसी आशा है।

—विज्ञान भारिल्ल

## उदार अर्थ-सहयोगी

|      |                                  |              |
|------|----------------------------------|--------------|
| १००१ | फकीरचंदजी रामचंदजी खिबसरा        | पूना         |
| ११०० | रामलालजी सालीग्रामजी             | लुधियाना     |
| ५०१  | मानकचंदजी डुंगरचंदजी रांका       | कुत्लाकुर्वा |
| ५०१  | शुभकरणजी नथमलजी खिबसरा           | धामक         |
| ५०१  | कामदार प्रेमराजजी मिट्टालालजी    | बंगलौर       |
| ५०१  | गेशीलालजी घीमुलालजी कोठारी       | बम्बई        |
| ५०१  | हसरजजी मनसुखलालजी काठेड़         | अहमदनगर      |
| ५०१  | पदमसेनजी राजकुमारजी गोयल         | सरसा         |
| ५०१  | जयन्तराजजी सोहनराजजी बाफना       | बंगलौर       |
| ५०१  | शान्ताबाई भ्र० बाबूलालजी रेदासनी | जलगांव       |
| ५०१  | सोमविहनजी लालचंदजी पुनमिया       | बम्बई        |
| ५०१  | लछ्मनदासजी मोतीलालजी जैन         | दिल्ली       |
| ५०१  | आनन्दीबाई भ्र० मानकचंदजी चोरडिया | बोरी         |
| १००० | गुलशनरायजी जैन                   | देहली        |
| ५०१  | सन्तरामजी जैन                    | भटिण्डा      |
| २५०  | नथमलजी धरमचंदजी भण्डारी          | मलकापुर      |
| २५१  | लाला लालजीमलजी मौजीरामजी जैन     | देहली        |
| २००  | तिलोकचंदजी जैन                   | धुरी         |
| २५१  | जवहारमलजी सायरचंदजी धोका         | यादगरी       |
| २५१  | सुकुमालचंदजी जैन                 | देहली        |
| ५०१  | इचरजबाई धनराजजी ओस्तवाल          | हिंगानघाट    |

हम उक्त दानदाताओं के आर्थिक सहयोग के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं ।





## सम्पादकीय

बन्धुओ !

आज आपके समक्ष 'आनन्द-प्रवचन' का छठा पुष्प सम्पादित करके पहुँचाने में मुझे अतीव हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसके पूर्व पाँच पुष्प आपके कर-कमलों तक पहुँच चुके हैं और आप सबने उनके सौरभ एवं माधुर्य की मूरि-मूरि सराहना की है, इससे मेरा उत्साह बढ़ता रहा है एवं मुझे आन्तरिक संतुष्टि का अनुभव हुआ है।

स्वनाम धन्य आचार्य प्रवर श्री आनन्दऋषि जी म. के प्रवचनों की महत्ता एवं उपयोगिता के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आपके सम्मुख पाँच भागों में वे संग्रह के रूप में आ चुके हैं। अतः 'हाथ कंगन को आरसी क्या ?' यह कहावत यहाँ चरितार्थ हो जाती है।

संक्षेप में यही कहना काफी है कि जीवन में निकट संघर्ष की घड़ियों से किस प्रकार जूझा जाय ? सांसारिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं को किस प्रकार सुलझाया जाय ? किस तरीके से आत्मा को कर्म-मुक्त करते हुए साधना-पथ पर बढ़ा जाय और किस प्रकार जीव एवं जगत के रहस्यों से अवगत होते हुए संवर-धर्म की आराधना की जाय ? इन सभी प्रश्नों का समाधान आचार्य श्री के प्रवचनों में मिलता है।

प्रस्तुत संग्रह में संकलित प्रवचन संवर तत्व के सत्तावन भेदों में से पूर्व के कुछ भेदों पर प्रकाश डालते हैं। इन भेदों को क्रमशः लिया गया है और बड़े ही सुन्दर एवं सरल ढंग से श्रोताओं के समक्ष रखा गया है। साथ ही सुदूरवर्ती श्रद्धालु पाठक भी इनसे लाभ उठाते हुए अपने जीवन को उन्नत बना सकें, यही इनके संग्रहित रूप में प्रकाशित किये जाने का उद्देश्य है।

आशा ही नहीं, अपितु विश्वास है कि पाठक इस उद्देश्य को पूर्ण करेंगे तथा इन मासिक प्रवचनों के द्वारा इहलौकिक सफलता की प्राप्ति के साथ-साथ आत्मा के शाश्वत कल्याण के प्रयत्न में भी जुट जाएँगे। इन्हीं प्रवचनों के माध्यम से वे आत्मिक गुणों को अंकुरित करते हुए अपने मानस को विशुद्ध एवं परिष्कृत बनायेंगे तथा

अहिंसा, सत्य और संयम की शास्वत आभा से अपने अंतर्मन को ज्योतिर्मान करेंगे ।

अन्त में केवल इतना ही कि आचार्य देव के प्रवचन-संग्रहों के सभी भागों का संपादन करने का जो सुअवसर मुझे मिला है यह मेरे लिए बड़े गर्व और गौरव की बात है । साथ ही असीम हर्ष एवं सन्तोष इस बात का भी है कि पाठकों ने मेरे सम्पादन की पसन्द किया है । समय-समय पर यह ज्ञात होने से मुझे बड़ी प्रेरणा मिली है और मेरे उत्साह में अभिवृद्धि होती रही है ।

आशा है मेरे इस प्रयास का भी पाठक पसंद करेंगे तथा असावधानीवश कोई त्रुटि रह गई हो तो उदारतापूर्वक उसे क्षमा करते हुए प्रवचनों के मूल विषयों को हृदयंगम करेंगे । कि बहुता.....।

—कमला जैन 'जीजी' एम. ए.

## अनुक्रमणिका

|  |     |
|--|-----|
| १. कहो क्या रे पछी तरशो ?                | १   |
| २. धर्मो रक्षति रक्षितः                  | १३  |
| ३. परतये दुःख दूबरे                      | २६  |
| ४. चार दुर्लभ गुण                        | ४२  |
| ५. देवत्व की प्राप्ति                    | ५५  |
| ६. चिन्तामणि रत्न, चिन्तन                | ६५  |
| ७. ब्रह्मलोक का दिव्य द्वार : ब्रह्मचर्य | ७३  |
| ८. आगलो अगन होवे आप होजे पाणी            | ८१  |
| ९. आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्  | ९५  |
| १०. सबके संग डोलत काल बली                | १०६ |
| ११. याचना परीषह पर विजय                  | १२० |
| १२. याचना-याचना में अन्तर                | १३१ |
| १३. हानि-लाभ को समान मानो                | १४४ |
| १४. अलाभो तं न तज्जए                     | १५८ |
| १५. शरीरं व्याधि-मन्दिरम्                | १७२ |
| १६. समाज बनाम शरीर                       | १८२ |
| १७. यह चाम चमार के काम को नाहीं          | १९२ |
| १८. अचेलक धर्म का मर्म                   | २०७ |
| १९-२०. पास हासिल कर शिवपुर का            | २२२ |
| २१. तप की ज्योति                         | २३८ |
| २२. क्यों डूबे मँझधार                    | २४८ |
| २३. न शुचि हीगा यह किसी प्रकार           | २६२ |
| २४. अस्नान व्रत                          | २६६ |
| २५. आर्यधर्म का आचरण                     | २७६ |
| २६. पौरुष थकेंगे फेरि पीछे कहा करि है    | २९१ |
| २७. चार दुष्कर कार्य                     | ३०१ |
| २८. सम्मान की आकांक्षा मत करो            | ३१६ |
| २९. साधक के कर्तव्य                      | ३२३ |

---

### संशोधन

प्रवचनों के क्रम में १८ के बाद १९ अंक के स्थान पर २० हो गया है।  
कृपया पाठक एक अंक की भूल सुधार लें। कुल प्रवचन संख्या २८ समझें।

—प्रकाशक

---

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज भगनमुनि जी म० की तपश्चर्या का इकतीसवाँ दिन है । तपश्चर्या करना सहज नहीं है, यह मनुष्य के लिए सबसे कठिन कार्य है । यद्यपि तप के बारह प्रकार होते हैं और वे सभी तप कहलाते हैं किन्तु उनमें से अनशन तप करना साधक के लिए कठिन होता है क्योंकि शरीर प्रतिदिन खुराक माँगता है और उसके अभाव में वह दैनिक कार्य करने से इन्कार करने लगता है । किन्तु शरीर के विद्रोह की परवाह न करते हुए तथा इन्द्रियों की शिथिलता पर भी विजय प्राप्त करते हुए जो मुमुक्षु 'अनशन' तप जारी रखता है और अपने आत्मबल की असाधारण शक्ति का परिचय देता है वह तपस्वी सराहना के योग्य होता है ।

हमारे तपस्वी सन्त भगनमुनि जी ने भी अपनी दृढ़ आत्मशक्ति से निरन्तर इकतीस दिन का तप किया है और इससे नागपुर श्री संघ ने प्रभावित होकर इस प्रसंग पर सोल्लास जिससे जितना बन सके और जिस प्रकार बन सके, कुछ न कुछ करने का विचार किया है । उदाहरण स्वरूप अनेक भाई-बहनों ने तेले किये हैं । हमारे मुनि जी ने तो केवल इक्यावन तेलों के किये जाने की इच्छा प्रकट की थी किन्तु संघ ने इससे दुगुने करके अपने हर्ष एवं उत्साह का परिचय दिया है ।

इसके अलावा इस अवसर पर संघ ने दान के द्वारा धनराशि इकट्ठी करते हुए अनेक लोकोपयोगी कार्य करने का भी निश्चय किया है और मनोज जी एवं गामाना जी आदि ने अभी-अभी इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं । साथ ही स्व० दानवीर सेठ सरदारमल जी पुंगलिया की धर्मपत्नी श्रीमती भगनबाई ने इस कार्य में अग्रणीपद लेने की तथा अपने उदार अन्तःकरण से सहयोग देने की स्वीकृति दी है और इसी प्रकार संघ के अन्य सदस्यों ने भी अपना योगदान देने की प्रशंसनीय अभिलाषा व्यक्त की है । नागपुर क्षेत्र का यह सराहनीय एवं आदर्श व्यवहार है । ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि अपने परिवार के लिए तो जीवन भर आप हजारों लाखों रुपये खर्च करते रहते हैं किन्तु परोपकार के लिए उस धन का थोड़ा सा अंश भी अगर नहीं लगाया तो मनुष्य जन्म पाकर आप आगे के लिए क्या संचय करेंगे ?

पूर्व जन्मों में संचित किये हुए अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप तो इस बार आप को उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम क्षेत्र और सबसे उत्तम मनुष्य जन्म मिल गया है पर इससे लाम उठाकर अगर पुनः पुण्य-संचय न किया तो पूर्व-पूजी समाप्त हो जायगी और फिर अनन्त काल तक संसार-परिभ्रमण करना पड़ेगा।

इसीलिए हमारे शास्त्र एवं सन्त-महापुरुष आपको सेवा, परोपकार एवं दानादि शुभ-कार्य करने की बार-बार प्रेरणा देते हैं। इन कार्यों से पुण्य-संचय होता है। परोपकार के लिए तो भिक्षा माँगने में भी किसी प्रकार की लज्जा नहीं होनी चाहिए। वैसे आपके द्वार पर आया हुआ प्रत्येक भिक्षुक ही आपको मूक शिक्षा देता है। मैंने एक स्थान पर पढ़ा है :

शिक्षयन्ति न याचन्ते, भिक्षाचारा गृहे गृहे ।  
दीयतां दीयतां दानमदातुः फलमीदृशम् ॥

संस्कृत के इस श्लोक के रचयिता का कथन है कि—“प्रत्येक भिक्षुक जो द्वार-द्वार पर घूमता है वह मानो याचना न करता हुआ उलटे गृहस्वामियों को शिक्षा देता है—दान दो ! दान दो !! अन्यथा दान न देने पर मेरे समान ही तुम्हारी भी दशा होगी।”

वस्तुतः अगर व्यक्ति दानादि शुभ कार्य करके नवीन पुण्यों का संचय न करेगा तो किस प्रकार आगे जाकर उसे उत्तम फल मिलेगा ? पुण्य ही तो वह पूँजी है, जिसे साथ ले जाने पर जीव अगले जन्मों में शुभ फल की प्राप्ति करता है।

इसलिए बन्धुओ ! आज आपने भी जो दान और परोपकार के अनुष्ठान का प्रारम्भ किया है, वह आपकी आत्मा के लिए अति श्रेयस्कर मार्ग है। आप दान दे सकते हैं तो दीजियं, अगर नहीं दे सकते हैं तो औरों को देने की प्रेरणा कीजिए और अगर दोनों ही शक्य न हों तो देने वालों की सराहना कीजिए। हमारे धर्मग्रन्थ कहते हैं कि प्रत्येक कार्य चाहे वह पापोत्पादक हो या पुण्योत्पादक, तीन प्रकार से किया जाता है। स्वयं करके, औरों से कराके तथा करने वालों का समर्थन करके।

आप यह न समझें कि कोई पाप अगर आप स्वयं नहीं करते हैं और औरों से करा लेते हैं तो उसके भागी आप नहीं हैं। औरों से कराने पर ही आप उस पाप के भागी अवश्य बनेंगे। और इतना ही नहीं, पाप करने वाले की मात्र सराहना भी आप करेंगे तो भी पाप कर्म का भागी आपको बनना पड़ेगा। क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने कार्य के लिए अगर अन्य व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त कर लेता है तो वह निश्चित होकर पुनः-पुनः उसे करने लगता है।

इसी प्रकार शुभ कार्य अथवा पुण्य कार्य का भी हाल है। दान देने वाले व्यक्ति दान देते हैं पर जो नहीं दे पाते हैं वे अन्य व्यक्तियों को प्रेरणा देते हैं और स्वयं

झोली फैलाकर भी देश, समाज और धर्म के लिए धन इकट्ठा करके पुण्य-संचय कर लेते हैं। तीसरे व्यक्ति वे भी हांते हैं जो ये दोनों कार्य नहीं कर पाते, किन्तु दान-दाताओं की गद्गद् हृदय से प्रशंसा करते हैं और उनकी सराहना करते हुए भी कुछ न कुछ पुण्य अपने पल्ले में बाँध लेते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को शुभ कार्य करने के इन तीनों प्रकारों में से जो भी बन सके अवश्य करना चाहिए तथा संघ के अग्रणी व्यक्तियों को भी सबका सहयोग समान भाव से लेना चाहिए। इसी का नाम संगठन है। संगठन के अभाव में कभी कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता। चाहे कोई व्यक्ति श्रीमन्त हो या गरीब, विद्वान हो या कम शिक्षा प्राप्त, समाज रूपी भवन को बनाने के लिए तो प्रत्येक का सहयोग आवश्यक है। भले ही समाज का कोई सदस्य एक हजार रुपये दान में देता है और दूसरा केवल एक रुपया ही दे पाता है। तब भी किसी के अन्तःकरण में एक रुपया देने वाले के प्रति तिरस्कार या उदासीनता का भाव नहीं आना चाहिए। जो महत्व एक हजार रुपये का होता है, वही महत्व एक रुपये का भी माना जाना चाहिए। एक सुन्दर दोहे में कहा भी है—

**बड़े बड़न को देखिके, लघु न दीजिए डारि ।**

**जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तरवारि ?**

सीधी और सरल भाषा में कितनी मार्मिक बात कही गई है कि बड़े-बड़े श्रेष्ठियों और श्रीमन्तों को देखकर कभी भी गरीबों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि जाने किस वक्त वे ही निर्धन व्यक्ति धनवानों की अपेक्षा अधिक काम आयेंगे। हम प्रायः देखते भी हैं कि समाज के किसी बन्धु-बान्धवहीन एकाकी व्यक्ति की सेवा का जब अवसर आता है, अर्थात् उसका अपना कोई सेवा करने वाला नहीं होता तब कोई भी श्रीमान उस अनाथ और रोगी की तरफ आँख उठाकर नहीं देखता और वे ही व्यक्ति जो धन से रहित किन्तु कष्ट और प्रेम की भावना के धनी होते हैं, उस समय बिना ग्लानि और अपेक्षा के उस बीमार की सेवा करते हैं।

क्या यह कम महत्वपूर्ण है? अधिक पैसा पास में होने पर चाँदी के चन्द सिक्के तो कोई भी फेंक सकता है, किन्तु दुर्बल और रोगी की सेवा वह कभी नहीं कर सकता और ऐसी स्थिति में दान की अपेक्षा सेवा का महत्व अनेक गुना अधिक माना जाता है।

**समय पर आया हूँ**

महात्मा बुद्ध के शिष्य उपगुप्त के विषय में आपने सुना होगा कि एक बार जब वह मिक्षा के लिए मथुरा शहर के किसी मार्ग से गुजर रहे थे, एक असाधारण सुन्दरी नर्तकी ने उन्हें अपने भवन के गवाक्ष से देखा।

नर्तकी मथुरा की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी और उसका नाम वासवदत्ता था । वासवदत्ता ने ज्योंही अति सुन्दर और युवा भिक्षु को देखा तो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर झपटती हुई अपने भवन की सीढ़ियों से नीचे उतर आई और पुकारा—

“मन्ते ! तनिक रुक जाइये ।”

भिक्षु उपगुप्त ने ज्योंही किसी नारी की आवाज सुनी वह रुक गये और समीप आकर अपने भिक्षुपात्र को उन्होंने आगे बढ़ाया । किन्तु सुन्दरी वासवदत्ता ने भिक्षा देने के बदले उनसे प्रार्थना की—

“देव आप ऊपर चलकर मेरे भवन में निवास करें । मेरी सम्पूर्ण सम्पत्ति और मैं स्वयं ही आपकी हूँ । मुझे स्वीकार करने की कृपा करें ।”

भिक्षु ने सुन्दरी की प्रार्थना सुनकर कहा—

“भद्र, मैं तुम्हारे पास फिर आऊँगा ।”

“कब ?” नर्तकी ने व्याकुलता पूर्वक पूछा ।

“जब तुम्हें मेरी आवश्यकता होगी ।” यह कहकर भिक्षु वहाँ से चल दिया । वासवदत्ता अपलक नेत्रों से तब तक उसे निहारती रही, जब तक कि वह उसकी आँखों से ओझल नहीं हो गया ।

इसके पश्चात् अनेक वर्ष गुजर गये । वासवदत्ता युवावस्था पार कर गई और सदाचार के अभाव में उसका शरीर भयंकर रोगों से ग्रसित होकर अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को खोकर कुरूप और धिनौना बन गया । एक दिन ऐसा भी आया कि वह धन-सम्पत्ति, मकान एवं सभी मुख-मुविधा के साधनों से रहित मैले-कुचैले और फटे कपड़े शरीर पर लपेटे शहर से बाहर किसी सड़क के किनारे पड़ी हुई थी । उसकी देह पर रहे हुए अगणित धावों से भयानक दुर्गंध निकलकर दूर तक की हवा को बदबूदार बना रही थी । वह पूर्णतया निराश्रित और अपाहिज स्थिति में जमीन पर पड़ी हुई कराह रही थी, किन्तु ऐसे प्राणी की कौन सार-सम्हाल करता ?

अचानक ही उधर से एक भिक्षु निकला और उसकी दृष्टि उस मलिनवक्षना रोगिणी नारी पर पड़ी । कुछ क्षण वह उसे देखता रहा और उसके पश्चात् समीप आकर बैठ गया । अपने पात्र में से उसने जल निकाला और वस्त्र के एक खंड से नारी के तीव्र दुर्गंधमय धावों को धोने लगा ।

किसी के हाथों के स्पर्श से रोगिणी को कुछ चेतना आई और उसने मन्द स्वर से पूछा—

“कौन हो तुम ?”

“मैं भिक्षु उपगुप्त हूँ वासवदत्ता ! अपने वायदे के अनुसार ठीक वक्त पर आ गया हूँ ।”



भिक्षु की आवाज सुनकर उस दयनीय एवं यन्त्रणाभय स्थिति में भी वासवदत्ता बुरी तरह चींक पड़ी और उससे परे हटने की कोशिश करती हुई वेदनापूर्ण स्वर से बोली—

“उपगुप्त ! तुम अब आए हो । जबकि मेरा धन, यौवन एवं सौन्दर्य आदि सभी कुछ नष्ट हो गया । अब क्या है मेरे पास ? केवल जानलेवा और भयानक रोग से ग्रस्त शरीर और इससे फूटती असह्य दुर्गन्ध । मुझे देखकर तुम्हें अपार ग्लानि हो रही होगी भिक्षु ! जाओ यहाँ से, चले जाओ ! मुझे इसी प्रकार एकाकी मरना है । वह समय गया जबकि मेरी एक झलक प्राप्त करने के लिए लोग मुट्टियाँ भर-भरकर मोहरें लुटाने के लिए तैयार रहते थे । आज वे सब भँवरों के समान उड़ गये हैं, कोई भी इस जिन्दा लाश के पास नहीं फटकता, इसे एक नजर देखना भी पसन्द नहीं करता । तुम भी जाओ उपगुप्त, यहाँ से भाग जाओ ! तुम्हें तो मैंने दिया ही क्या है, क्यों तुमसे कुछ अपेक्षा रखूँ ? मेरे घावों की दुर्गन्ध से तुम्हारी नाक सड़ रही होगी और मेरी इस घिनौनी शकल को देखकर तुम्हारी आँखें तुमसे विद्रोह कर रही होंगी । इसलिये तुम अविलम्ब यहाँ से चले जाओ ।”

“ऐसा नहीं हो सकता वासवदत्ता ! तुमने एक दिन मुझे बुलाया था पर उस समय अपनी आवश्यकता न समझकर मैं चला गया था । आज तुम्हें मेरी जरूरत है और मुझे खुशी है कि मैं समय पर आ गया हूँ ।”

यह कहते हुए भिक्षु उपगुप्त बराबर उसके घावों को धोते रहे, उन पर शहर से लाकर दवा का लेप किया और वस्त्र-शुद्धता आदि अन्य सभी आवश्यक सेवाओं में जुट गये ।

तो बंधुओ ! मैं आपको यह बता रहा था कि सेवा-कार्य बड़ा दुस्तर होता है और कोई साधारण व्यक्ति इसे सम्पन्न नहीं कर सकता । आप श्रीमन्त हैं, दान दे सकते हैं पर सेवा जिसे वैयात्रत तप कहते हैं, वह आपके बस का रोग नहीं है । पर यह भी ध्यान रखें कि दान से जहाँ केवल पुण्य की उपलब्धि होती है वहाँ तप से कर्मों की निर्जरा होती है । तो वे संत महापुरुष जो ग्लानि परिपह को जीत लेते हैं, और वे सद् श्रावक जो रात-दिन धन कमाने की चिन्ता में बावले नहीं रहते, वे ही निराकुल स्नेह एवं करुणा के भाव से सेवा कर सकते हैं ।

तो हमारी मूल बात यह चल रही थी कि समाज और संघ में उसके प्रत्येक सदस्य को समान महत्त्व मिलना चाहिए । आपको विचार करना चाहिए कि अगर किसी व्यक्ति में एक गुण हो सकता है तो अन्य व्यक्तियों में दूसरे गुण भी छिपे रह सकते हैं । एक दान दे सकता है तो दूसरा तपस्या कर सकता है, सेवा कर सकता है या समाज को किसी भी अन्य प्रकार का सहयोग प्रदान कर सकता है । इसलिए

केवल धनी होने के कारण ही व्यक्ति को सम्मानित और निर्धन होने के कारण किसी को उपेक्षित नहीं करना चाहिए।

दोहे में यही बात बड़ा सुन्दर उदाहरण देकर भी समझाई है कि—

“जहाँ काम आये सुई, कहा करे तरवारि।”

अर्थात् तलवार बहुत बड़ी होती है और वह सहज ही मनुष्यों का गला काटकर रख देती है किन्तु इतनी तेज धारवाली होने पर भी और आकार में बड़ी होने पर भी क्या कपड़ा सीने के काम आ सकती है? जरा प्रयत्न कीजिये कभी तलवार से कपड़ा सीने का और फिर देखिये कि कपड़े की क्या दशा होती है? स्पष्ट है कि उसके द्वारा कपड़ा सिल नहीं सकता और यह काम केवल छोटी सी सुई ही बखूबी करती है।

इसलिए हमें इस उदाहरण को समझते हुए भली-भाँति जान लेना चाहिए कि संघ में भी केवल श्रीमन्त ही हर जगह काम नहीं आ सकते यानी प्रत्येक कार्य वे सम्पन्न नहीं कर सकते। इसमें तो धनी और निर्धन सभी अपने-अपने स्थान पर उपयोगी और आवश्यक हैं।

अपने भवन का निर्माण करवाते समय आप बड़े-बड़े पत्थर उसमें लगवाते हैं और छत बनाने के लिए लम्बी-लम्बी पट्टियाँ भी उस पर डलवाते हैं, किन्तु क्या छोटी-छोटी दरारें या पाचर भरने के लिए भी आप शिलाओं का उपयोग करेंगे? नहीं, वहाँ तो छोटे-छोटे टुकड़े ही काम आएँगे।

तो बड़े और छोटे सभी अपने-अपने स्थान पर समान महत्त्व रखते हैं अतः उन्हें संगठन में रहना चाहिए। समाज में अगर संगठन न होगा तो कमी की कोई महान कार्य सम्पन्न नहीं होगा और किसी भी महत् उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकेगी। उलटे सब आपस में एक दूसरे की निन्दा-बुराई करेंगे और एक दूसरे के अवगुण ढूँढ़ते रहेंगे। परिणाम यह होगा कि यहाँ मुश्किल से मिला हुआ यह आपका श्रेष्ठ जन्म और सभी उत्तम साधन निरर्थक चले जायेंगे।

गुजराती भाषा के एक कवि ने कहा है—

मल्या छे साधनो मोंघा, महा पुष्योतणा योगे,  
छत्तां सत्कार्यं नाँह करतां, कहां क्यारे पछी करशो ?

कवि ने मानवों को मधुर झिड़की देते हुए कहा है—“अरे नादान माइयो ! जरा विचार करो कि अनन्त पुण्यों के फलस्वरूप तुम्हें ये उत्तम शरीर, जाति, कुल, क्षेत्र एवं सत्संगति आदि साधन प्राप्त हुए हैं। दूसरे शब्दों में कितने पुण्य खर्च करने पर तुम ये सब प्राप्त कर सके हो। फिर भी इन मँहगे साधनों का तुम कोई

उपयोग नहीं करते, यानी इनके द्वारा सत्कार्य करके पुनः पुण्य-रूपी पूंजी इकट्ठी नहीं करते तो फिर कब यह कार्य करोगे ?”

“यह मत भूलो कि इस जन्म के साथ जो ये समस्त अनुकूल, उत्तम और आत्म-हित में सहयोगी बनने वाले साधन मिले हैं, इन्हें प्राप्त करने में तुम पूर्वकृत समस्त पुण्य खर्च कर चुके हो और अब पुनः उसका संचय किये बिना मनुष्य जन्म मिलना असंभव है। अतः इस शरीर के द्वारा सेवा, परोपकार, त्याग, तप एवं दानादि सत्कार्य कर लो और इस जन्म में ही ईश्वर की भक्ति, चिंतन, मनन एवं ध्यान आदि के द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को पहचान लो। अन्यथा आयु समाप्त हो जायेगी और तुम्हारे हाथ कुछ भी नहीं आयेगा।”

संत दीन दरवेश ने भी एक स्थान पर मनुष्य को उद्बोधन देते हुए आत्म-हितकारी चेतावनी दी है—

बन्दा कर ले बन्दगी, पाया नर तन सार,  
जो अब गाफिल रह गया, आयु बहै झखमार।  
आयु बहै झखमार, कृत्य नहिं नेक बनायो,  
पाजो बेईमान कौन बिधि जग में आयो ॥  
कहत दीन दरवेश फँस्यो माया के फन्दा,  
पाया नर तन सार बन्दगी कर ले बन्दा।

अपनी कुन्डलिया में दरवेश कहते हैं—“अरे बन्दे ! तूने नर-तन पाया है तो खुदा की बन्दगी भी तो कर। अगर अभी भी गाफिल ही रह गया तो यह आयु पानी के प्रवाह के समान बहती चली जाएगी। अफसोस की बात है कि इस अमूल्य जीवन को पाकर भी तूने कोई नेक कृत्य नहीं किया और माया के फन्दे में पड़ा हुआ बेईमानी और अनैतिकता से पाप-कर्मों को इकट्ठा करता रह गया। मैं अभी भी तुझे यही कहता हूँ कि तू सम्हल और नर-तन का सार निकाल ले।”

गुजराती काव्य में भी आगे दिया गया है—

मल्ये नहीं आपता नाणूँ, तरवानू आखरूँ ताणूँ,  
छताये तू नथी तरतो, कहो क्यारे पछी तरशो ?

कवि का कहना है कि—“संसार-सागर पार करने के लिए तू ब्रत-नियम ग्रहण नहीं करता, त्याग-तपस्या नहीं अपनाता और चिंतन, मनन, ध्यान, स्वाध्याय तथा ईश-भक्ति आदि भी नहीं कर सकता तो अन्तिम उपाय दान को तो कम से कम काम में ले। तेरी आवश्यकता से बहुत अधिक धन तुझे मिला हुआ है पर उसे देने में भी इतनी संकीर्णता क्यों ? दान के द्वारा परोपकार करके भी तू भव-समुद्र को काफी मात्रा में तैर कर पार कर सकता है पर वह भी तुझ से नहीं होता तो फिर बता कैसे और कब तू तिरगा।

वस्तुतः निन्यानबै के चक्कर में फँसे रहने वाले प्राणी दान के महत्व को नहीं समझ पाते। वे नहीं जानते कि सुपात्र को दिया हुआ दान अनन्तगुना अधिक होकर पुण्य के रूप में पुनः प्राप्त हो जाता है—“पात्रेजन्तमुषं भवेत्।”

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी बात को समझाते हुए एक अनुपम कल्पनाचित्र खींचा है। उसमें कहा है—

“मैं गाँव में घर-घर भीख माँगने के लिए निकला हुआ था। उसी समय तेरा स्वर्ण-रथ मुझे दूर से दिखाई दिया। मैं ताजुब करता हुआ विचार करने लगा कि यह कोई सम्राटों के भी सम्राट हैं और आज इनके द्वारा मेरे दुर्दिनों का अन्त होने वाला है।

मैं चुपचाप अयाचित दान प्राप्त करने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा और तेरा रथ मेरे पास आकर रुक गया। तेरी नजर मुझ पर पड़ी और तू मुस्कुराता हुआ रथ से उतरा। मैं साँस रोके हुए अपने सौभाग्य सूर्य के उदय होने की प्रतीक्षा कर रहा था। किन्तु महान् आश्चर्य के साथ मैंने देखा कि तूने अपना दाहिना हाथ मेरे आगे फैलाकर कहा—“लाओ मुझे क्या दोगे ?”

मैं मिखारी इसे मजाक समझा और उलझन में पड़ गया। किन्तु फिर धीरे से मैंने अपनी झोली में हाथ डाला और अन्न का केवल एक दाना निकालकर तेरे हाथ पर रख दिया। तू उसे लेकर पुनः मुस्कुराता हुआ आगे बढ़ गया।

किन्तु शाम होने पर जब मैंने अपनी झोली को उलटा किया तो भिक्षा के अन्य दानों के साथ स्वर्ण का एक दाना भी पृथ्वी पर गिरा तब मैं अपने दिये हुए अन्न के एक दाने के दान का महत्व समझ गया और पश्चात्ताप पूर्वक जोर-जोर से रोते हुए सोचने लगा—“काश ! मैंने अपना सर्वस्व ही तुझे दे दिया होता।”

बन्धुओ, टैगोर की यह कल्पना सत्य है। व्यक्ति का निःस्वार्थ भाव से दिया हुआ दान कभी निरर्थक नहीं जाता, अपितु अनेक गुना बढ़कर लौट आता है। द्वार पर आया हुआ प्रत्येक याचक उसी परम पिता परमात्मा का अंश है जिसकी हम उपासना और भक्ति करते हैं। इसलिए किसी को भी निराश करना स्वयं परमात्मा की उपेक्षा करना है। आप लोगों के पास तो यद्यपि आवश्यकता से अधिक धन है, किन्तु जिनके पास वह प्रचुर मात्रा में नहीं होता वे भी आपसे बढ़कर दानी साबित होते हैं, क्योंकि वे अपने पास रहे हुए थोड़े में से भी थोड़ा दूसरों को बिना दानदाता कहलवाने की और बिना ख्याति प्राप्ति की इच्छा से देते हैं।

सन्त कवि बाजिद का कहना है—

भूखो दुर्बल देख नाहिं मुख मोड़िये ।  
जो हरि सारी देय तो आधी तोड़िये ।

वे आधी की आधि अरघ की कोर रे ।

अन्न सरीखा पुन्न नहीं कोई और रे ।

कवि का कथन है कि अन्न के समान दूसरा दान या पुण्य का कारण और कोई नहीं है । हमारे धर्मग्रन्थ दान के चार प्रकार बताते हैं—(१) औषध दान, (२) शास्त्र दान, (३) अभय दान और (४) आहार दान ।

यद्यपि ये चारों ही दान श्रेष्ठ हैं और आत्मा के कल्याणकारी हैं । किन्तु तनिक ध्यान से समझने की बात यह है कि इनमें से आहार-दान को अधिक महत्वपूर्ण क्यों बताया गया है ?

इसका कारण यही है कि ऊँची से ऊँची और कष्टकर साधना करने वाले को भी शरीर चलाने के लिए सर्वप्रथम आहार ग्रहण करना पड़ता है । आप यह मनोरंजक पर सत्य उक्ति प्रायः सुनते भी हैं—‘भूखे भजन न होहि गोपाला ।’

यानी भगवान की भक्ति भी खाली पेट नहीं हो सकती । पहले पेट-पूजा फिर और काम दूजा ।

**पहले भोजन, पश्चात् भक्ति**

कहा जाता है कि भगवान बुद्ध के शिष्य एक बार कहीं जा रहे थे । उन्होंने मार्ग में एक व्यक्ति को पड़ा हुआ देखा । बुद्ध के शिष्यों ने सोचा—‘चलो इसे ही अपने धर्म का मर्म समझाएँ ।’ यह विचार कर उन्होंने लेटे हुए व्यक्ति के पास बैठकर धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया । किन्तु उस व्यक्ति ने उपदेश-श्रवण में तनिक भी रुचि नहीं दिखाई और करवट बदल कर मुँह फेर लिया ।

यह देखकर शिष्य अपने विहार में आ गये और बुद्ध से बोले—“भगवन् ! आज हमने एक अजीब व्यक्ति देखा । वह व्यक्ति सड़क के एक किनारे आराम से लेटा हुआ है । कोई काम उसके पास है नहीं, फिर भी उसने हमारी धर्म-सम्बन्धी कोई बात नहीं सुनी, उलटे मुँह फेर कर पड़ गया ।”

बुद्ध ने शिष्यों की बात सुनी और कुछ क्षण उस पर विचार किया । तत्पश्चात् वे अपनी शैली में कुछ आहार और पात्र में जल लेकर शिष्यों के साथ उस स्थान पर आये जहाँ वह व्यक्ति लेटा हुआ था । बड़े मधुर स्वर से बुद्ध बोले—

“वत्स ! तुम भूखे हो, यह लो थोड़ा आहार करो और जल पियो ।”

बुद्ध के वचन सुनकर व्यक्ति उठा, उसने पेट भर खाना खाया और जल पीकर तृप्ति की साँस ली । उसके बाद स्वयं उसने आग्रह करके बुद्ध से कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की और उपदेश सुनकर बुद्ध के साथ ही प्रव्रज्या लेने का निश्चय कर चल पड़ा ।

बन्धुओ, इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि मनुष्य को सर्वप्रथम किस दान की अपेक्षा होती है ? जब तक पेट खाली रहता है, वह ज्ञान आदि किसी अन्य दान से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए कवि बार्जिद ने अन्नदान को सबसे बड़ा पुण्य कार्य माना है।

गुजराती कविता में भी धन होने पर उसे जरूरतमंद लोगों को देकर परोपकार करने की और इस प्रकार पुण्योपाजन करने की प्रेरणा दी है। आगे कहा है—

घरो छो ध्यान मायानूं, करो छो काम कायानूं ।  
प्रभुने नथी ध्यानमां धरता, कहो क्यारे पछी तरशो ?

कवि कह रहा है—‘संसारी प्राणियो ! तुम रात-दिन पैसे की चिन्ता में पड़े रहते हो कि किस प्रकार इसे अधिक से अधिक इकट्ठा कर सकें। यहाँ तक कि स्वप्न में भी माल खरीदना, बेचना और जमा-खर्च का हिसाब रखना ही तुम्हें दिखाई देता है। और इससे समय बचता है तो अपने शरीर को सजाने-सँवारने और पुष्ट करने की कोशिश में लगे रहते हो। तुम भूल जाते हो कि यह शरीर तो एक दिन नष्ट होकर खाक में मिलने वाला है, चाहे कितने ही पौष्टिक पदार्थ इसे क्यों न खिलाओ और इत्र-फुलेल आदि लगाकर क्षणिक समय के लिए सुगन्धित बना लो, अन्त में इसका नाश होगा और इसके द्वारा जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है वह कभी न हो सकेगी।

वस्तुतः मानव-जन्म केवल क्षण-भंगुर भौतिक सम्पदा को बटोरने के लिए प्राप्त नहीं हुआ है और न ही इस नाशवान शरीर को क्षणिक सुख पहुँचाने के लिए। अपितु यह जन्म आत्म-कल्याण करने के लिए मिला है और शरीर आत्म-साधना का माध्यम है। इसके द्वारा ही जप, तप, ध्यान, साधना एवं ईश-भक्ति की जा सकती है। किन्तु तुम ईश्वर का ध्यान नहीं करते तो फिर बताओ कौन-से जन्म में यह करोगे ?

हिन्दी के एक कवि ने भी जीवन का महत्त्व बताते हुए अपनी कविता में कहा है—

जिन्दगी है प्यार की, जिन्दगी है धर्म की,  
धर्म के ही काम में कबम बढ़ाए जा ।  
शीश चढ़ाये जा ।  
जिन्दगी एक नाब है, तिरने का दाव है,  
बक्त लाजवाब है, व्यर्थ न गंवाये जा ।  
जिन गुण गाये जा ।

कहते हैं—यह ज़िदगी संसार के समस्त प्राणियों पर प्रेम भाव रखने के लिए और धर्म-कार्य करने के लिये प्राप्त हुई है। अतः इस मार्ग पर मुमुक्षु को सदा अपने कदम आगे बढ़ाते जाना चाहिये। यहाँ तक कि कभी धर्म के लिए बलिदान होने का अवसर आए तो भी बिना किसी हिचकिचाहट के अपना मस्तक न्योछावर कर देना चाहिए।

अमी-अमी मनोज जी ने आपके समक्ष बड़े सुन्दर विचार रखे हैं। उन्होंने कहा है—“हम लोगों का कर्तव्य है कि हम समाज की उन्नति के लिए तो प्रयत्न करें ही, साथ ही बाल-मुनियों और जो भी इच्छुक हों, उन संतों को सुशिक्षित बनाएँ ताकि वे हमारी अगली पीढ़ी का मार्ग-दर्शन कर सकें तथा अधिक से अधिक जैनधर्म की छाप लोगों पर डालें।”

आप लोगों के ये विचार प्रशंसनीय हैं। संतों के लिए संघ माता-पिता के समान होता है अतः जिस प्रकार माता-पिता अपनी संतान का भविष्य उज्ज्वल बनाने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार संघ साधु-साध्वियों की शिक्षा-दीक्षा का भी प्रयत्न करे, यह उसका कर्तव्य है।

आज साधु समाज में जो भी विद्वान संत हुए हैं, वे विभिन्न संघों के सहयोग से ही बने हैं। पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज एवं पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज आदि सभी संतों का शिक्षण संघ के द्वारा हुआ है। मैं स्वयं भी जब कम उम्र का था उस समय सिद्धान्त कौमुदी में विसर्ग संघ का अध्ययन करते समय फक्किका याद नहीं कर पाता था तब शिक्षा के नाम से घबराकर उसे छोड़ देने का निश्चय कर चुका था। किन्तु उस समय आप लोगों में से ही अनुमवी एवं हितकांक्षी श्रावकों ने मुझे समझाया और घोड़नदी बालों ने धैर्य दिलाकर पुनः उस मार्ग पर स्थिर किया। उसी का परिणाम है कि आज मैं दो अक्षर आपके सामने बोल रहा हूँ।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि साधु तो पैसा-धेला रखते नहीं अतः पढ़ने-लिखने के लिए पंडितों की व्यवस्था करना आपका कर्तव्य है और वह कर्तव्य आप पूरा करते आ रहे हैं। अतः अनेक विद्वान एवं पंडित संत हमारे यहाँ जैनधर्म की ज्योति जगह-जगह जलाते हुए धर्म-प्रचार करते रहे हैं। संतों के द्वारा ही अन्य धर्मावलम्बियों पर जैनधर्म का प्रभाव पड़ता है और स्वयं अपने समाज में भी उनके प्रवचन लोगों की सोई हुई आत्मा को जगाने का कार्य करते हैं।

तो बंधुओ, मुझे प्रसन्नता है कि आज आप लोगों ने धर्म के मार्ग पर अपने कदम कुछ और आगे बढ़ाये हैं। अर्थात् अनेक तेलों के तप का अनुष्ठान करके कर्मों की निर्जरा करने का प्रयत्न किया है तथा दान देने का संकल्प करके पुण्योपार्जन का कार्य भी किया है। अपने समाज की उन्नति तथा समाज में रहने वाले अभावग्रस्त

व्यक्तियों की सहायता और सेवा करने का जो बीड़ा आपने उठाया है वह सराहनीय है। परोपकार और सेवा का महत्त्व कम नहीं है। इसके द्वारा जीव तीर्थंकर पद की प्राप्ति भी कर सकता है।

**झुककर ही ऊँचा उठा जाता है**

आप प्रायः स्कूलों में देखते हैं कि विद्यार्थी खेलते समय जब ऊपर की ओर उछलना चाहते हैं तब एक बार खूब झुकते हैं और फिर पूरी शक्ति लगाकर ऊपर की ओर उछलते हैं। इसी प्रकार आत्मा को उन्नत बनाने के लिए मनुष्य को झुकना चाहिए, तभी उसकी आत्मा ऊँची उठ सकती है।

यहाँ झुकने का अर्थ शरीर को नीचा झुकाने से ही नहीं है, अपितु अपने अहंकार, गर्व, अकड़ या बड़प्पन की भावना को झुकाने से है। जो व्यक्ति ऐसा करता है वही परोपकार और सेवा कर सकता है। देखने में सेवा साधारण मालूम देती है, किन्तु उसका फल ऊँचा मिलता है। पैर शरीर में सबसे नीचे रहते हैं और सिर अकड़ के कारण ऊपर। किन्तु नमस्कार पैरों को क्रिया जाता है, सिर को नहीं। इसका कारण यही है कि पैर शरीर की सेवा करते हैं। स्वयं वे कंटकाकीर्ण, कंकर-पत्थर तथा मिट्टी-कीचड़ आदि से भरे हुए मार्ग पर चलकर नाना प्रकार के कष्ट उठाते हैं पर शरीर पर एक खरोंच भी नहीं आने देते। इसीलिए लोग उन पर अपना मस्तक रखते हैं।

पैरों के इस उदाहरण से शिक्षा लेते हुए हमें भी सेवा के महत्त्व को समझना चाहिए तथा जितनी भी शक्य हो, जरूरतमन्दों की सेवा करने में हिचकिचाहट नहीं रखनी चाहिए। तभी हम अपनी आत्मा को कर्मों से हलकी बनाकर भवसागर तैरने में समर्थ बन सकेंगे और मानव-जन्म का सच्चा लाभ उठाकर इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त करेंगे।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

प्राचीन काल में हमारे भारतवर्ष को आर्यावर्त कहा जाता था क्योंकि इस भारतभूमि पर आर्यों का निवास था ।

**आर्य कौन कहलाते थे ?**

जिन आर्यों के कारण भारत को आर्यावर्त कहा जाता था, वे कैसे होते थे, यह जानने की जिज्ञासा प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है । अतः उनके विषय में संक्षिप्त रूप से यही कहा जा सकता है कि ऐसे व्यक्ति जो हेय कार्यों से दूर रहकर धर्म का यथाशक्ति आचरण करते थे वे शिष्ट और संस्कारी पुरुष ही आर्य कहलाते थे तथा उनके इस भूमि पर निवास करने के कारण भारत की भूमि धर्मभूमि कहलाती थी ।

इस देश के लोग धर्म को प्राणों से भी प्रिय मानते थे तथा अपने जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त की क्रियाओं में धर्म की भावना सतत् बनाये रखते थे । उन आर्यों के लौकिक आचार-विचार में भी धर्म का पुट सदा विद्यमान रहता था तथा धर्म से भिन्न वे किसी व्यवहार-आचरण की कल्पना नहीं करते थे ।

भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसे अनेक धर्मवीरों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने अपने सर्वस्व का त्याग करना उचित समझा किन्तु धर्म का परित्याग करना कदापि ठीक नहीं माना । अनेकों व्यक्तियों ने तो अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी धर्म की रक्षा का प्रयत्न किया था । उनका हृदय विश्वास था कि—

**धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः ।**

अर्थात् जो अपने धर्म का विनाश करता है, उसका नाश हो जाता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा होती है ।

यहाँ रक्षा से अभिप्राय शरीर अथवा सम्पत्ति आदि की रक्षा से नहीं है वरन् आत्मा की रक्षा से है । इससे स्पष्ट है कि धर्म का त्याग करने वाले प्राणी की आत्मा कर्मों के भार से लद जाती है तथा अनन्तकाल तक संसार-परिभ्रमण करती हुई नाना प्रकार की यातनाओं को भोगती है । उसे उन यातनाओं से बचाने में कोई भी समर्थ नहीं होता यानी उन कष्टों से कोई भी आत्मा की रक्षा नहीं कर सकता ।

किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है, यानी धर्ममार्ग पर दृढ़ता से चलता है और कमी भी उसका परित्याग नहीं करता, वह अपने कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को परमात्मा बना लेता है तथा सदा के लिए संसार के कष्टों से बच जाता है ।

तो प्राचीनकाल में आर्य कहलाने वाले भव्य प्राणी धर्मप्रधान मनोवृत्ति के होते थे अतः पूर्ण सन्तोष एवं शान्ति के साथ अपना जीवन यापन किया करते थे । उनके जीवन में आज के व्यक्तियों के जैसी असन्तुष्टि, अशान्ति, व्याकुलता और भाग-दौड़ नहीं थी । धन के लिए वे हाय-हाय नहीं करते थे, क्योंकि धर्म उनकी तृष्णा पर अंकुश लगाये रहता था । उनके हृदय में धन के प्रति मोह नहीं होता था उल्टे धर्म के लिये वे जान देने को भी तैयार रहते थे । इसका कारण केवल यही था कि वे मानवजन्म के उद्देश्य को समझते थे और इसीलिए इस जीवन का लाभ उठा लेने में तत्पर रहा करते थे । सन्त-महापुरुषों का कथन भी है—

तू कष्ट और विचारत है नर,  
तेरो विचार धरयो ही रहैगो ।  
कोटि उपाय किये धन के हित,  
भाग लिखयो तितनो ही लहैगो ॥  
भोर की साँझ परी पर माँझ,  
सो काल अचानक आइ गहैगो ।  
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत,  
सुन्दर यों पछिताई बहैगो ॥

वस्तुतः मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है । इसका कारण यही है कि वह इस जीवन में जो कुछ भी प्राप्त करता है वह पूर्वोपाजित शुभ एवं अशुभ कर्मों के फलस्वरूप पाता है । अतः किस प्रकार वह कर्म-फल को बदल सकता है ? पूर्व में अधिक पुण्यों का संचय हो तो मनुष्य इस जन्म में सांगोपांग शरीर, सम्पत्ति एवं अन्य सुख के साधन प्राप्त करता है पर अगर पूर्व-पुण्य न हो तो कोटि प्रयत्न करने पर भी किस बल पर वह उन्हें पा सकता है ? यानी नहीं पा सकता । इसी को ललाट का लिखा कहते हैं । किन्तु सुन्दरदास जी कहते हैं कि और कुछ मिले या न मिले, यह शरीर तो मनुष्य को मिल ही चुका है जो कि मेटा नहीं जा सकता, तो फिर इसके द्वारा ईश्वर-भक्ति, सेवा तथा परोपकार आदि सुकर्म वह क्यों नहीं करता ? इन सबके लिए तो वह आज और कल ही करता रहता है पर जब काल अचानक आकर उसे ले जाने लगेगा तो फिर केवल पश्चात्ताप के अलावा और उसके साथ क्या चलेगा ?

इसीलिए आवश्यक है कि मनुष्य को जो कुछ मिला है, उसे वह अपने कर्मा-

नुसार मिला हुआ मानकर सन्तोष रखे तथा जितना भी बन सके आगे के लिए शुभ-कर्मों का संचय करे। पर यह तभी होगा जबकि वह अपने जीवन को धर्ममय बनाये रखे तथा कौसी भी परिस्थितियाँ क्यों न सामने आये धर्म-पथ से विचलित न हो। व्यक्ति को दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि धर्मानुसार चलने से कमी भी आत्मा का अहित नहीं होता तथा भविष्य में दुःख-प्राप्ति की संभावना नहीं रहती।

तारीफ की बात तो यह है कि धर्म के प्रताप से उसे अगले जन्मों में तो सुख हासिल होता ही है, इस जन्म में भी सभी भौतिक सुखों की उपलब्धि हो जाती है।

संस्कृत के एक श्लोक में बताया गया है कि धर्म के प्रभाव से मानव इस जन्म में भी जो सांसारिक सुख होते हैं, उन्हें प्राप्त कर लेता है। ये सुख मुख्य रूप से सात प्रकार के माने गये हैं और इस प्रकार हैं—

आरोम्यं प्रथमं द्वितीयकमिदं लक्ष्मीस्तृतीयं यशः ।  
पूर्णस्त्री पतिचित्तगारुच विनयो पुत्रस्तथा पंचमः ॥  
षष्ठो भूपति सौम्यदृष्टिरनुला, वासोऽभयं सप्तमं ।  
सप्तैतानि सुखानि यस्य भवन्ते धर्मप्रभावंस्फुटं ॥

श्लोक में बताया है कि आरोग्य, लक्ष्मी, यश, पतिव्रता स्त्री, विनयी पुत्र, प्रजापालक राजा एवं भयरहितता, ये सातों सुख जिसे प्राप्त हुए हैं वे धर्म की शक्ति और प्रभाव से ही प्राप्त हुए हैं, यह निश्चय रूप से मानना चाहिए। अब हम इन सातों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

### १. पहला सुख निरोगी काया

यह उक्ति आप अनेकों बार कहते हैं और दूसरों से सुनते भी हैं। वास्तव में इस संसार के भौतिक सुखों में से सबसे बड़ा सुख शरीर का निरोग रहना है। भले ही व्यक्ति को धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र आदि अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हो जायें किन्तु शरीर से वह रोगी और निर्बल बना रहे तो अन्य सभी सुख उसके लिए नहीं के बराबर होते हैं।

उदाहरण स्वरूप एक व्यक्ति के पास लाखों की सम्पत्ति है, किन्तु उसे संग्रहणी हो गई है और डाक्टर ने केवल छाछ-रोटी पर रहने के लिए आदेश दिया है तो वह सम्पत्ति उसे क्या सुख पहुँचाएगी? जीभ को स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ मिलें, इसीके लिए तो व्यक्ति नाना प्रकार के अनैतिक कार्य करके भी धन इकट्ठा करता है किन्तु जब केवल छाछ-रोटी या पालक की भाजी खाकर ही रहना पड़े तो वह धन फिर किस काम का?

यह तो हुई शरीर के निरोग रहने पर सांसारिक सुखों के उपभोग की बात। पर अब हमारे सामने आध्यात्मिक सुख-प्राप्ति की बात भी आती है। आप जानते ही हैं कि परलोक में सुख प्राप्त करने के लिए भी शरीर का स्वस्थ और

निरोग रहना आवश्यक है। अगर शरीर स्वस्थ न रहे तो व्यक्ति किस प्रकार सामा-  
यिक, प्रतिक्रमण, ध्यान, स्वाध्याय जप एवं तप कर सकता है? ये सभी कार्य स्वस्थ  
शरीर के द्वारा ही हो सकते हैं। शरीर ही तो इन सबका माध्यम है।  
कहा भी है—

### धर्मार्थकाममोक्षाणां, मूलमुक्तं कलेवरम् ।

धर्म का, धन का, विविध इच्छाओं का और मोक्ष का साधन यह शरीर ही है।

हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोमरंध्र  
हैं और प्रत्येक रोम के मूल में पौने दो के हिसाब से रोग पाये जाते हैं। इस प्रकार  
साढ़े पाँच करोड़ से भी अधिक रोग शरीर को रोगी और निर्बल बनाने के लिए  
तैयार रहते हैं। आज के समय में हम देखते हैं कि प्रत्येक गाँव और शहर के हॉस्पिटल  
रोगियों से भरे रहते हैं। तो ऐसे काल में शरीर का रोगमुक्त रहना और उससे  
धर्म-साधन करना कितना कठिन और सौभाग्य का सूचक होता है। पर वह तभी  
होता है जबकि पिछला पुण्य पल्ले में हो और आज भी व्यक्ति धर्म के मार्ग पर चले।

मनुष्य को यह कमी नहीं सोचना चाहिए कि शरीर को अनेक कष्ट पहुँचा  
कर सत्कार्य या पुण्य-कार्य करने से क्या लाभ है? क्योंकि उनका फल तो न जाने  
कौन से अगले जन्म में मिल पाएगा और कब वह जन्म हमें प्राप्त होगा। यथार्थ बात  
तो यह है कि शुभ-कर्म अगले जन्म में तो शुभ-फल प्रदान करते ही हैं, इस जन्म में  
भी अपना फल प्रदान करने से नहीं चूकते।

हमारे स्थानांग सूत्र में स्पष्ट बताया गया है—

इह लोगे सुचिन्ना कम्मा,

इह लोगे सुहफलविवाग संजुत्ता भवंति ।

इह लोगे सुचिन्ना कम्मा,

पर लोगे सुहफलविवाग संजुत्ता भवंति ।

अर्थात्—इस जीवन में किये हुए सत्कर्म इस जीवन में भी सुखदायी होते हैं  
तथा इस जीवन में किये हुए सत्कर्म अगले जीवन में भी सुखदायी होते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को यथाशक्ति धर्माराधन करना  
चाहिए और कमी भी धर्म-मार्ग से उन्मुख नहीं होना चाहिए। अगर वह धर्म पर  
दृढ़ आस्था रखता हुआ अपने जीवन को धर्मभय बनाए रखता है तो उसका सबसे  
पहला फल तो शरीर की स्वस्थता के रूप में इसी जन्म में मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं  
है। यही बात संस्कृत के श्लोक में भी कही गई है कि धर्म के द्वारा निश्चय ही प्राप्त  
होने वाला सर्वश्रेष्ठ और सर्व-प्रथम सुख आरोग्य है।

## २. दूसरा सुख घर में माया

‘पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख घर में माया ।’ इस उक्ति के दो खंड हैं । पहले में एक सुख निरोगी शरीर बताया है और दूसरे खंड में दूसरा सुख बताया है घर में माया अर्थात् लक्ष्मी का होना ।

लक्ष्मी से प्राप्त होने वालों सुखों से आप अपरिचित नहीं हैं । आप जानते हैं कि दो पैसे पास में होने से आपका जीवन सुख-सुविधा के साधनों से परिपूर्ण रहता है तथा समाज में भी लोग इज्जत कराते हैं । पैसे के अभाव में व्यक्ति कितना भी विद्वान और धर्मात्मा क्यों न हो, आपके समाज में वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाता, जो एक धनी व्यक्ति प्राप्त करता है ।

आप कहेंगे कि हम साधु तो धन को हेय मानते हैं और इसे त्याग करने का उपदेश देते हैं फिर धन को महत्त्व क्यों देते हैं तथा इसे सुख क्यों मानते हैं ?

बंधुओ, यहाँ जरा विचार करने की बात है कि साधु एकान्त रूप से और प्रत्येक स्थिति में ही धन का त्याग करने और उसे न छूने का उपदेश नहीं देते । और वे ऐसा करेंगे भी क्यों ? क्या उन्हें आहार-जल लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती ? क्या उन्हें आपसे वस्त्र नहीं लेना पड़ता और शिक्षा प्राप्त करने के लिए पंडितों की जरूरत नहीं पड़ती जिनको आप रुपये देते हैं ? यह सब आखिर पैसे से ही तो होता है ।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आप श्रावक हैं और सद्गृहस्थ हैं अतः आपका कार्य पैसे के बिना नहीं चलता । किन्तु हमारा कहना यह होता है कि प्रथम तो आप अनीति से धन का उपार्जन न करें । अनीति अर्थात् बेईमानी और धोखे । बाजी से पैसा कमाने पर अनेकों व्यक्तियों को कष्ट होता है, उन्हें भूखा मरना पड़ता है तथा घोर दरिद्रावस्था में समय गुजारने के कारण नाना तकलीफें उठानी पड़ती हैं । और इस सबका मूल कारण आपकी अनैतिकता होती है तथा इसके फलस्वरूप आपके अशुभ कर्मों का बंध होता है । तो साधु आपको नीति एवं सदाचारपूर्वक जीवन बिताने की शिक्षा देते हैं ताकि आपकी आत्मा निर्मल और निष्कलंक बने ।

दूसरी बात हम आपको बार-बार यह कहते हैं कि आप अपनी जरूरत से अधिक धन इकट्ठा करने का प्रयत्न न करें क्योंकि ऐसा करने से आपकी पेटियाँ तो भर जाती हैं किन्तु अन्य सैकड़ों व्यक्तियों के पेट भी खाली रह जाते हैं । तो गरीबों के पेट खाली रखकर और उन्हें अधनंगा रहने पर मजबूर करके आप लाखों और करोड़ों का धन इकट्ठा कर भी लेंगे तो वह आपके क्या काम आएगा ? आखिर आप कितना खायेंगे और कितना पहनेंगे ? पेट में समाने लयक अन्न और लज्जा ढकने जितना वस्त्र ही तो पहनेंगे । तब फिर अधिक परिग्रह इकट्ठा करने की लालसा क्यों रहती है ? क्यों आप लोगों की तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती ?

सन्त इस तृष्णा को समाप्त करने की प्रेरणा देते हैं। उनका यही उपदेश होता है कि आपके पास थोड़ा या अधिक कितना भी धन हो, पर आपका मन सदा हाय-हाय न करता रहे। प्रत्येक आत्मोन्नति का इच्छुक व्यक्ति महाराज भरत के समान ऐश्वर्य और सुख के असख्य साधनों के बीच में रहते हुए भी उनमें आसक्ति न रखे। साथ ही प्राप्त धन के द्वारा दानादि देकर परोपकार करता हुआ उसका सदुपयोग करे। इस प्रकार सन्त-महापुरुष आपको धन का एकदम ही त्याग करने के लिये न कहकर उसमें आसक्ति न रखने की, औरों का गला काटकर आवश्यकता से अधिक इकट्ठा न करने की और आपके पास रहे हुए धन का दुरुपयोग न करने की प्रेरणा देते हैं।

यद्यपि कर्मों की सम्पूर्ण रूप से निर्जरा करके सदा के लिये संसार-मुक्त होने के लिये तो आपको धन का सर्वथा त्याग करना ही होगा और उसकी तरफ झाँकने की भावना भी न हो ऐसा प्रयत्न करना होगा। किन्तु जब तक आप साधना की उस स्थिति पर नहीं पहुँच सकते और सांसारिक कर्तव्यों से बंधे रहते हैं, तब तक कम से कम शुद्ध श्रावक-धर्म का तो आपको पालन करना ही चाहिए। और इसीलिये सम्पूर्ण रूप से न हो सके तो भी आंशिक रूप से व्रतों को ग्रहण करना चाहिए। ऐसा होने पर ही आप स्वयं धर्म के प्रभाव से प्राप्त लक्ष्मी का सुख प्राप्त कर सकेंगे तथा अन्य अनेक जीवों को भी सुखी बना सकेंगे।

धर्म-मार्ग पर चलने का अर्थ आपके लिये यही है कि आप लालसा, तृष्णा एवं आसक्ति का परित्याग करें और जो कुछ भी धन आपको मिले उसमें पूर्ण सन्तोष-पूर्वक स्वयं उपयोग करते हुए अन्य अभावग्रस्तों में भी बाँटें। धन बुरा नहीं है पर इच्छा और आशाएँ बुरी हैं। अगर व्यक्ति धन-सम्पत्ति का त्याग करके साधु बन जाय पर इच्छाओं का त्याग न कर सके तो उसकी समस्त साधना व्यर्थ है।

कवि सुन्दरदास जी ने भी यही कहा है—

गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो,  
पुनि खेह लगाइके देह संवारी ।  
मेघ सहै सिर सीत सहै तन,  
धूप समं जु पंचागिनि बारी ॥  
भूख सहै रहि रूख तरे पर,  
सुन्दरदास सहै दुख भारी ।  
आसन छाँड़ि के कांसन ऊपर,  
आसन मारि पं 'आस' न मारी ॥

कवि ने बड़ी सुन्दर और मार्मिक भाव कही है कि—“कोई व्यक्ति स्वर्ग और मोक्ष-प्राप्ति की लालसा के कारण धन, सम्पत्ति और घर को छोड़ देता है तथा परिवार के प्रति रहे हुए मोह का भी त्याग करके साधु बन जाता है। इतना ही नहीं

वह अपने शरीर के सौन्दर्य को ढकने के लिये उस पर राख मलता है। किसी वृक्ष के नीचे रहकर भूख सहन करता है, भयंकर शीत और घनघोर वर्षा की परवाह न करता हुआ जब कड़ी धूप पड़ती है तो पंचाग्नि तप भी तपता है। इस प्रकार अनेकों घोर कष्ट सहते हुए अपने कोमल आसन का त्याग करके घास-फूस एवं कास आदि कष्टकर वस्तुओं पर आसन जमाकर तपस्या में मग्न होना चाहता है किन्तु आसन बदल लेने पर भी वह 'आस' को नहीं त्याग पाता तो उसे क्या लाभ हो सकता है? ऐसे प्राणी न धर के रहते हैं और न घाट के। उनकी दशा अत्यन्त दयनीय बन जाती है।

तो बन्धुओ ! श्लोक में बताया गया है कि धर्म के प्रभाव से दूसरा सुख लक्ष्मी के रूप में मनुष्य को मिलता है। पर अगर उसके द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करना है तो उसे लालच एवं तृष्णा का परित्याग करके परोपकारादि करते हुए सन्तोष-रूपी धन को हासिल करना चाहिए।

### ३. यश-प्राप्ति

धर्म के प्रभाव से मनुष्य को जो सात सुख इस संसार में प्राप्त होते हैं, उनमें से तीसरा सुख यश प्राप्त करना है। यश की प्राप्ति कर लेना भी सहज नहीं है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे धन देकर खरीद लिया जाय या किसी से छीन लिया जाय। यश की प्राप्ति व्यक्ति को तभी हो सकती है, जबकि वह अपने जीवन को ही औरों के लिये अर्पण कर दे तथा सर्वस्व से मुँह मोड़ ले। कीर्ति तो फिर भी मानव जल्दी प्राप्त कर लेता है पर यश प्राप्त करना उसके लिये टेढ़ी खीर है।

आप सोचेंगे कि कीर्ति और यश में क्या फर्क है? दोनों ही तो समानार्थक हैं। पर ऐसी बात नहीं है। अगर बारीकी से देखा जाय तो इन दोनों में काफी अन्तर पाया जाता है। संस्कृत में कहा गया है—

“एकदिक्व्यापिनी कीर्तिः, सबदिक्व्यापी यशः।”

अर्थात् कीर्ति एक दिशा में व्याप्त रहती है तथा यश सम्पूर्ण दिशाओं में फैल जाता है। कीर्ति तो किसी की महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश अथवा बंगाल में होती है, किन्तु यश प्रत्येक दिशा में व्याप्त हो जाता है। आज गाँधीजी की केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं वरन् विदेशों में भी प्रशंसा और सराहना की जाती है। वह उनका यश है जो प्रत्येक और समान है।

आज लक्ष्मीपति तो बहुत होते हैं किन्तु यशस्वी विरले ही मिल सकते हैं। तारीफ की बात तो यह है कि धन के पीछे दौड़ने वाले कीर्ति का उपाजन तो कर लेते हैं पर उससे मुँह मोड़ लेने वाले यश पाते हैं।

सुकरात ने एक स्थान पर कहा है—

‘Fame is the perfume of heroic deeds.’

कीर्ति बीरोचित कार्यों की सुगन्ध है।

मुकरात का कथन सत्य है कि वीरता एक बार तो मनुष्य को कीर्ति की प्राप्ति करा ही देती है और उस व्यक्ति के नाम का डंका बज जाता है। किन्तु कालान्तर के बाद कोई पुरुष श्रद्धा या भक्ति के साथ उसका नाम स्मरण नहीं करता।

उदाहरण के लिये हम नेपोलियन बोनापार्ट को ले सकते हैं, जो कहता था— शब्दकोष से असम्भव शब्द को निकाल देना चाहिए। वह अपने समय में जिधर गया अपनी वीरता से कीर्ति को गले लगाता रहा। किन्तु उसका अन्त कहाँ हुआ? एक साधारण कौदी के रूप में किसी छोटे से टापू में वह मरा।

मुसोलिनी भी वीरता के मद में चूर होकर कहता था—“युद्ध विश्व की अन्विष्य आवश्यकता है।” अपने जीवन काल में उसने समस्त देशों को एक बार हिला दिया। पर अन्त में उसके गले में फाँसी का फन्दा पड़ा।

यही हाल हिटलर का हुआ। उसने तो सारे विश्व को ही मानों चुनौती दी थी कि “मेरी अधीनता स्वीकार करो अन्यथा सबको समाप्त कर दूँगा।” वही वीर हिटलर कब और कैसे मरा इसका किसी को पता ही नहीं चला।

इन उदाहरणों से मेरा तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपनी शक्ति और बहादुरी के बल पर एक बार कीर्ति का उपार्जन कर लेता है, किन्तु कुछ समय बाद ही कोई उसकी प्रशंसा करने वाला या श्रद्धापूर्वक स्मरण करने वाला नहीं होता।

किन्तु यशस्वी पुरुष अपने जीवन काल में तो लोगों के लिये मार्ग-दर्शक एवं आदर्श-रूप होते ही हैं, मरने के पश्चात् भी उसी प्रकार भक्ति और श्रद्धा के पात्र बने रहते हैं तथा अपने गुणों के कारण पूज्यनीय बनते हैं।

इस विषय में एक पाश्चात्य दार्शनिक ‘हैजलिट’ ने बड़ी मर्मस्पर्शी और यथार्थ बात कही है। वह इस प्रकार है—

“The temple of fame stands upon the grave, the flame upon its altars is kindled from the ashes of the dead.”

यानी कब्र पर यश का मन्दिर खड़ा होता है और मृतक की राख से उस पर चिराय जलता है।

वस्तुतः समस्त सांसारिक वैभव तो काल पाकर क्षय हो जाता है, किन्तु यश रूपी धन अक्षय है। इसे काल कभी भी नष्ट नहीं कर सकता। प्राचीन काल से लेकर आज के युग तक में राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा एवं गांधीजी आदि जो अनेकानेक महापुरुष हुए हैं उनका यश उस समय भी वही था, आज भी वैसा ही है और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा।

इसका कारण यही है कि उन्होंने धन के बल पर या शारीरिक शक्ति के बल पर यश का उपार्जन नहीं किया। दूसरे शब्दों में यश-प्राप्ति की उन्होंने आकांक्षा ही



नहीं की। वे तो उलटे त्याग के बल पर यशस्वी बने हैं। वे अपने नाम और यश के पीछे नहीं दौड़े, अपितु यश ने उनका पीछा किया है। सच्चे सन्त और महापुरुष जो कि धर्म के मार्ग पर चलते हैं, 'निकी कर और कुँए में डाला' वाली कहावत को चरितार्थ करते हैं। अपने शत्रु पर भी वे क्रोध नहीं करते तथा उससे बदला लेने की भावना नहीं रखते। इसका कारण यही है कि वे सभी प्राणियों को आत्मवत् समझते हैं और अपना अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मानते हैं।

### संत का क्षमाभाव

अयोध्या में एक वैष्णव संत सरयू नदी को पार करने की इच्छा से उसके घाट पर आये। उस समय वर्षा ऋतु का जोर और नदी में बाढ़ होने के कारण घाट पर एक ही नाव थी। और उस नाव में अनेक अशिष्ट एवं दुष्ट प्रकृति के लोग बैठे हुए थे।

संत को देखते ही लोग उपहास और व्यंग से बोले—“हमारे साथ कोई डोंगी बावा नहीं बैठ सकता। साधुओं को किसी दूसरी नाव से जाना चाहिये। वहीं रहो, इधर मत आओ।” इस प्रकार जिस व्यक्ति को जो सूझा उसने वही कहा।

किन्तु रात्रि का समय था और नाव एक। अतः संत ने मल्लाह से नम्रता पूर्वक कहा—

“भाई ! अगर तुम मुझे अपनी नाव से नहीं ले चलोगे तो मुझे पूरी रात यहाँ पड़े रहना पड़ेगा।”

मल्लाह बेचारा भला और श्रद्धालु आदमी था अतः उसने संत से कहा—  
“भगवन्, इसमें कहने की क्या बात है ? आप इसी नाव में एक ओर विराज जाइये।”

नाव में बैठे हुए दुष्ट लोग मल्लाह के कारण उस समय तो कुछ नहीं बोले, किन्तु नाव चलते ही उन्होंने संत को कटूक्तियाँ और गालियाँ देनी प्रारम्भ कर दी। संत कुछ नहीं बोले। वे चुपचाप शान्तिपूर्वक ईश्वर का जप करते रहे।

यह देखकर वे लोग और चिढ़े तथा उनमें से किसी ने सन्त पर पानी डाला, किसी ने पीठ पर मुक्के लगाये और दो-चार ने मिलकर उन्हें पानी में गिरा देने का प्रयत्न किया।

इतना होने पर भी सन्त का चेहरा पूर्ववत् मधुर मुस्कान से भरा रहा और वे सम्पूर्ण उत्पात शान्ति से सहन करते रहे। पर जब दुष्ट व्यक्ति उन्हें धकेल कर पानी में गिराने लगे और साधु के जीवन को खतरा हो गया तो देवताओं को क्रोध आया और उन्होंने आकाशवाणी के द्वारा पूछा—

“महात्मन् ! आप आज्ञा दें तो इन सब दुष्ट व्यक्तियों को हम क्षण भर में भस्म कर दें।”

आकाशवाणी जिस प्रकार सन्त ने सुनी, उसी प्रकार उन सभी असभ्य और दुष्ट व्यक्तियों ने भी सुनी। उसे सुनकर सब काठ के मारे से बैठे रह गये और मृत्यु के डर से कांपने लगे। किन्तु उसी समय सन्त ने हाथ जोड़कर गद्-गद् स्वर से आकाशवाणी के उत्तर में कहा—

“नहीं, कृपा करके ऐसा अनर्थ मत करना। ये सब अज्ञानी प्राणी हैं और क्षमा करने के लिए पात्र हैं। भूले हुए व्यक्तियों को क्षमा करना ही ज्ञानियों का कर्तव्य है, अतः इन्हें कोई कष्ट न पहुँचाया जाय।”

सन्त के ये वचन सुनते ही सब आततायी उनके चरणों पर गिर पड़े और अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगते हुए सदा के लिए ईश्वर के और सन्तों के सच्चे भक्त बन गये।

तो बंधुओं, सच्चे साधु एवं महापुरुष अपने शत्रुओं का भी उपकार करते हैं। और वह भी किसी के द्वारा प्रशंसा प्राप्त करने के लिए या अपनी सराहना किये जाने के लिए नहीं बरन् अपने आत्म-तोष एवं कष्टों की भावना के कारण वे ऐसा कहते हैं। इसी के फलस्वरूप यज्ञ स्वयं आकर उनके नाम के साथ जुड़ जाता है।

#### ४. पतिव्रता स्त्री की प्राप्ति

अब धर्म के प्रभाव से प्राप्त होने वाले चौथे सुख के विषय में बताना है। श्लोक में कहा गया है कि चौथा सुख है पतिव्रता अर्थात् पति में ही अपना चित्त अनुरक्त रखने वाली स्त्री की प्राप्ति होना।

इस संसार में ऐसी स्त्रियों का मिलना भी कठिन है जो अपनी सम्पूर्ण निष्ठा पति में रखती हैं। आज हम देखते हैं कि जब तक पति अपनी पत्नी की सारी ज़रूरतें पूरी करता रहे तथा उसे नित्य नये वस्त्र और आभूषण बनवाता रहे, तब तक तो वह पति में भक्ति और उसके प्रति प्रेम रखती किन्तु उन सबमें जरा सी भी कसर पड़ते ही उसे कटूक्तियाँ और व्यंगोक्तियाँ सुनाना प्रारम्भ कर देती है।

तुलसीदासजी से कहा भी है—

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि ।

तिन्ह महं अति दाहन दुखद, माया रूपो नारि ॥

कहते हैं कि मनुष्य को काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह आदि सभी कषाय अति दुखदायी होते हैं, किन्तु अगर नारी पतिव्रता, सुधड़ और सुसंस्कृत न मिले तो वह महान् असह्य दुःख का कारण बनती है।

आपने संत तुकाराम की पत्नी के बारे में अनेक बार सुना होगा। वह इतनी फूहड़ और दुष्ट थी कि मौका पाते ही समय-असमय पति से लड़ती-झगड़ती और मार देने से भी बाज नहीं आती थी।

**तुम कितनी अच्छी हो !**

कहा जाता है कि संत तुकाराम पैसे के अभाव में बड़ी कठिनाई से अपना गुजारा चलाते थे। एक बार उनके घर में अन्न नहीं था अतः वे अपने खेत से गन्ने काट लाने के लिए गये।

गन्ने उन्होंने काटे और उनकी भारी बनाकर सिर पर रखते हुए घर की ओर खाना हुए। पर मार्ग में बहुत से बच्चे मिले और बच्चों को स्वभावतः ही गन्ने प्रिय होते हैं अतः उन्होंने तुकारामजी से गन्ने मांगे। तुकाराम सच्चे संत और भगवान के भक्त थे। उन बच्चों में भी उन्होंने भगवान का रूप देखा और सबको एक-एक गन्ना दे दिया। बच्चे अत्यन्त प्रसन्न होकर गन्ने चूसते हुए इधर-उधर चले गये।

अब तुकाराम जी के पास केवल एक गन्ना बचा और उसे ही लिए हुए वे घर आए। उनकी पत्नी रखुमाई बड़ी चिड़चिड़ी और क्रोधी स्वभाव की थी। अतः ज्यों ही उसने पति को एक गन्ना घर लाते हुए देखा तो आग-बबूला हो गई और वही गन्ना छुड़ाकर उनकी पीठ पर दे मारा। गन्ने के दो टुकड़े हो गये।

तुकारामजी तो कषाय-विजयी थे अतः वे मुस्कुराते हुए बोले—“वाह कितनी अच्छी स्त्री हो तुम। अभी मुझे हम दोनों के लिए गन्ने के दो टुकड़े करने पड़ते पर मुझे तकलीफ न देकर तुमने स्वयं ही यह कार्य कर दिया।”

बधुओ संत तुकाराम तो क्रोध-जित थे अतः उन्होंने पत्नी की मार को भी मधुरता से सहन कर लिया। किन्तु क्या सभी पुरुष ऐसे हो सकते हैं? नहीं, परिणाम यह होता है कि स्त्रियों के ताने-बाने और दुर्वचनों के कारण घर में सदा कलह मची रहती है।

पर जो व्यक्ति पुण्यवान होते हैं और अपने जीवन को धर्ममय बनाये रहते हैं, उन्हें सुभार्या प्राप्त होती है और घर स्वर्ग बना रहता है।

आचार्य चाणक्य ने एक स्थान पर लिखा है—

**सा भार्या या शुचिर्दक्षा, सा भार्या या पतिव्रता।**

**सा भार्या या पतिप्रीता, सा भार्या सत्यवादिनी ॥**

वही भार्या सुभार्या है जो पवित्र और चतुर है, वही भार्या है जो पतिव्रता है, वही भार्या है जिस पर पति की प्रीति है और वही भार्या है जो सत्य बोलती है।

वस्तुतः ऐसी सती स्त्रियाँ बड़े भाग्य से और धर्म के प्रताप से ही प्राप्त होती हैं। जो पति के द्वारा और ससुराल के अन्य व्यक्तियों के द्वारा नाना कष्ट दिये जाने पर भी अपने पातिव्रत्य-धर्म से विचलित नहीं होतीं और सत्य एवं शील पर हड़ रहती हैं।

सती सुभद्रा की कथा आप सब अच्छी तरह जानते हैं, जो फरेब करके उससे विवाह करने वाले पति से भी क्रोधित नहीं हुई और सास के द्वारा दुश्चरित्रता का कलंक लगाये जाने पर भी आपसे बाहर नहीं हुई। उसने अपने धर्म पर दृढ़ विश्वास रखा और उसके फलस्वरूप ही धर्म ने उसके शील की शुद्धता का प्रमाण देते हुए संसार में पूजनीय बनाया और सदा के लिए अमर कर दिया। ऐसी नारियाँ स्वयं अपने को यशस्वी बनाती हुई अपने पितृकुल और श्वसुरकुल, दोनों को ही उज्ज्वल बना देती हैं।

#### ५. विनयी पुत्र

श्लोक में छठा सुख पुत्र का विनयी होना कहा गया है। आज के युग में अनेक व्यक्ति हमारे पास भी शिकायत लेकर आते हैं कि उनके लड़के उनकी बात नहीं मानते तथा मनमानी करते हैं। वे हमसे कहते हैं कि आप उन्हें समझाइये। पर हम क्या-क्या कहें, उत्तम संस्कार तो बालक की शैशवावस्था में ही डाले जाने चाहिए। कच्ची मिट्टी को कुम्हार चाहे जैसा गढ़ लेता है, पर उसके पक जाने पर फिर कुछ नहीं होता। इसी प्रकार बालक जब तक छोटा है, उसमें माता-पिता के द्वारा सतत सुन्दर-सुन्दर आदतें डाली जानी चाहिए। गुरुजनों का आदर करना तथा सुबह-शाम उनके पैर छूना सिखाना चाहिए। इसी प्रकार उनके हृदय में सच बोलने की, चोरी न करने की, किसी से झगड़ने या गालियाँ न देने की प्रवृत्ति जन्म ले, इसकी कोशिश करनी चाहिए।

आज हम चारों ओर यानी कॉलेजों में, स्कूलों में, घरों में और यहाँ तक कि संत समाज में भी देखते हैं कि शिक्षार्थी शिक्षक का आदर नहीं करते, पुत्र माता-पिता की परवाह नहीं करते और शिष्य गुरु की आज्ञानुसार नहीं चलते।

ऐसी स्थिति, समय और काल में अगर पुत्र विनयी हो और शिष्य आज्ञाकारी हो तो वह धर्म के प्रताप से ही माना जाना चाहिए।

पुत्र की प्राप्ति तो सभी को होती है और एक ही नहीं कई-कई पुत्र होते हैं। पर अगर वे सुपुत्र न हों तो उनके होने से क्या लाभ है? कुछ भी नहीं, उल्टे वह माता-पिता के लिए सदा चिन्ता और दुःख के कारण बने रहते हैं।

महात्मा विदुर ने कहा है—

जनक वचन निदरत निडर,  
बसत कुसंगति माहि ।  
सूरख सो सुत अधम है,  
तेहि जनमे सुख नाहि ॥

विदुर जी कौरवों और पाण्डवों के समय में हुए थे । उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था कि दुर्योधन जैसे सौ पुत्र होने पर भी पिता धृतराष्ट्र कभी सुखी नहीं रह सके और उनके कारण उस समय सम्पूर्ण कुल का नाश हुआ सो तो हुआ ही, साथ ही सदा के लिए भी कुल कलंकित हो गया । आज भी कौरवों के विषय में पढ़कर लोगों का हृदय क्रोध और घृणा से भर जाता है ।

और इसके विपरीत राजा दशरथ के चार ही पुत्र थे किन्तु उन चारों के सुपुत्र होने के कारण आज भी लोग रघुकुल को निष्कलंक, उज्ज्वल और आदर्श मानते हैं । पिता के प्रति भक्ति एवं उनकी आज्ञा का पालन करके राम जगत-पूज्य बने और आज उन्हीं के कारण घर-घर में रामायण परम श्रद्धा और भक्ति के साथ पढ़ी जाती है ।

आचार्य चाणक्य ने एक स्थान पर लिखा है—

एकोऽपि गुणवान्पुत्रो, निर्गुणैश्च शतैर्वरः ।

एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारा सहस्रशः ॥

अर्थात्—सैकड़ों गुणरहित पुत्रों की अपेक्षा एक गुणी पुत्र श्रेष्ठ है । एक चन्द्रमा ही अन्धकार नष्ट कर देता है, सहस्र तारे नहीं ।

तो बन्धुओ, कुल को प्रकाशित करने वाले सुपुत्र क्या बिना पुण्यवानी और धर्म के अभाव में मिल सकते हैं ? कभी नहीं, इसीलिए कहा जाता है कि धर्मारधन करो, इसके द्वारा परलोक में तो सुख मिलेगा तब मिलेगा पर इस लोक में भी सात महान सुखों की उपलब्धि हो जाती है ।

#### ६. राजा की कृपा

हम प्राचीनकाल के इतिहास को उठाकर देखते हैं तो मालूम होता है कि मनुष्य के जीवन में राजा का कितना महत्व था । अगर उसकी कृपादृष्टि होती तब तो लोग निहाल हो जाते थे, और जरा सी आँख टेढ़ी होते ही नाना प्रकार के कष्टों का सामना करने को बाध्य हो जाते थे । छोटे-छोटे अपराधों के कारण ही राजा लोग अपराधियों को देशनिकाला, मृत्यु-दण्ड, मुँह काला करवा कर गधे की सवारी आदि-आदि सजाएँ दे दिया करते थे ।

कई बार तो वे अपना क्रोध केवल अपराधी पर ही उतार कर सन्तुष्ट नहीं होते थे । वरन् उसके सम्पूर्ण कुल या परिवार को भी सजा देते थे । अकबर बादशाह ने कवि गंग पर नाराज होकर उसके सारे परिवार को घानी में पिलवा दिया था ।

ऐसी स्थिति में राजा की सौम्य-दृष्टि या कृपा-दृष्टि का होना भी महान् सुख का कारण माना जाता था ।

### ७. अकुंठावास

अकुंठावास का अर्थ है—भयरहित स्थान में निवास करना। भयरहित स्थान में रहने का सुयोग भी बड़ी पुण्यवानी के बल पर मिलता है। आप लोग अखबार पढ़ते हैं और जानते हैं कि बिहार जैसे क्षेत्रों में वर्षा ऋतु के समय इतनी भयंकर बाढ़ें आती हैं कि सैकड़ों लोग अपने मकानों, झोंपड़ों और घर की चीजबस्त ही नहीं वरन् परिवार के लोगों सहित बह जाते हैं। अनेकों व्यक्ति उस समय अपने प्राण खोते हैं पर जो बचते हैं वे पुनः उन्हीं स्थानों पर अपने घर बनाते हैं। इस प्रकार हमेशा अपना सर्वस्व खोकर भी वे वहीं रहते हैं और सदा भयभीत रहते हुए भी वहीं अपना जीवनयापन करते हैं।

इसी प्रकार मध्यप्रदेश के भ्वालियर आदि अनेक स्थानों में जहाँ सघन जंगलों की अधिकता है, वहाँ डाकुओं का भय सदा जनता के लिए बना रहता है। जब वे डाका डालते हैं, तब धन-पैसा तो ले ही जाते हैं, विरोध करने वालों को जान से भी खत्म कर जाते हैं। कई बार तो वे श्रीमन्तों के पुत्रों को ही पकड़कर ले जाते हैं और अपनी माँग के अनुसार हजारों रुपये लेकर उन्हें छोड़ते हैं, अन्यथा मार डालते हैं।

इसी प्रकार कई प्रदेशों में कुछ विशेष प्रकार के रोगों का भय सदा बना रहता है। यही कारण है कि भयरहित स्थान को सुख माना गया है और यह सुख भी पुण्य के बल पर मिलता है।

तो बंधुओ, आप समझ गये होंगे कि धर्म के प्रभाव से पुण्यवानी बढ़ती है और तभी इस संसार में रहने पर भी मनुष्य को श्लोक के आधार पर बताये गये सात सुख प्राप्त होते हैं। ये सातों सुख जब व्यक्ति को मिल जाते हैं तो फिर और कोई भी कमी भौतिक सुखों में नहीं रह जाती। समस्त सांसारिक सुख इन्हीं में समाविष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार इस लोक के सुख भी मनुष्य प्राप्त कर लेता है तथा शुभ कर्मों का संचय कर लेने पर परलोक में भी सदा के लिए शाश्वत सुख और अकुंठावास यानी मोक्ष-स्थान प्राप्त करने में समर्थ बनता है, जहाँ से फिर कभी भी जन्म लेकर मृत्यु आदि के दुःख पाने की आवश्यकता नहीं रहती।

पर ऐसा होगा तभी, जबकि मुमुक्षु हृदय श्रद्धा रखता हुआ धर्माश्रयन करे। दान, शील, तप एवं भाव को जीवनसात् करे तथा मन, वचन एवं शरीर को साधक-कर सम्यक प्रकार से ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की साधना करे।

यहाँ एक बात आपको ध्यान में रखनी चाहिए कि पुण्यों का संचय करके सांसारिक सुखों की उपलब्धि कर लेना ही मनुष्य-जीवन का ध्येय नहीं है। यह सब तो धर्मपरायण व्यक्ति को स्वतः ही मिल जाता है और इसके लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। आवश्यकता तो हमें अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने की है। और इसके लिए उत्कृष्ट साधना एवं तपाराधन की जरूरत है।

आजकल आप अन्तगढ़ सूत्र सुन रहे हैं। इसमें बताया जा रहा है कि बड़े-बड़े सेठ-साहूकार एवं राजा-महाराजा अपने समस्त वैभव और ऐश्वर्य का त्याग करके संयम की आराधना में जुट गये थे। यह ठीक है कि आप गृहस्थ हैं और आपको गृहस्थ धर्म का पालन करना है, किन्तु बन्धुओं, ये सांसारिक उलझनों और कर्तव्य तो आपके कभी समाप्त होंगे नहीं और जीवन पूरा हो जाएगा। तो फिर मुक्ति-प्राप्ति के लिए प्रयत्न आप कब करेंगे ?

यह तो निश्चित है कि इस जन्म में न सही पर किसी न किसी जन्म में तो आपको कर्मों के नाश का प्रयत्न करना ही होगा, अन्यथा आत्मा संसार-भ्रमण करती रह जाएगी। तो फिर जब यह करना ही है तो इसी जन्म में क्यों न किया जाय ? किसी अगले जन्म की प्रतीक्षा किसलिए करना ? कौन जाने पुनः यह मनुष्य का जीवन कब मिलेगा और मिलेगा भी या नहीं।

इसलिए श्रेष्ठ यही है कि जीवन की क्षणभंगुरता होने पर भी इसके अनुपम महत्व को समझकर इसे सार्थक बनाने का प्रयत्न किया जाय।

कवि बाजिद ने भी अज्ञानी प्राणियों को उद्बोधन देते हुए कहा है—

गाफिल हुए जीव कहां बयू बनत है ?  
या मानुष के सांस जो कोऊ गनत है ।  
जाग लेय हरिनाम कहां लौं सोय है,  
चक्की के मुख पर्या सो मंदा होय है ॥

कहते हैं—“अरे जीव ! गाफिल रहने से तेरा क्या बनेगा ? यानी सांसारिक कार्यों में तो तू सदा तत्पर रहता है किन्तु आत्म-हित के लिए साधना करने में कल, परसों और उसके बाद भी कहता है बुढ़ापे में कर लेंगे। यह प्रमाद तुझे ले डूबेगा। क्योंकि यह कौन व्यक्ति जानता है कि इस शरीर में मुझे इतने श्वास अवश्यभेव लेने हैं। अर्थात् जीवन की यह डोरी कब तक मजबूत रहेगी, यह कौन कह सकता है ?

इसलिए अच्छा यह है कि आज और इसी क्षण अपनी प्रमाद-निद्रा का त्याग कर दे तथा चैतन्य होकर हरि का नाम ले। सोते रहने से काम नहीं चलेगा क्योंकि

समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। वह तैरे जागने की भी परवाह नहीं करेगा और जिस प्रकार चक्की के दो पाटों के बीच में आया हुआ प्रत्येक दाना पिसता है, उसी प्रकार इस जन्म और मरण रूपी चक्की के पाटों में फंसा हुआ तू भी एक दिन नष्ट हो जाएगा और पश्चात्ताप करता हुआ इस लोक से प्रयाण करेगा।”

कवि का कथन अक्षरशः यथार्थ है। जीवन का कोई ठिकाना नहीं है कि वह कब समाप्त हो जाएगा। अतः प्रत्येक मानव को बिना एक क्षण भी व्यर्थ गँवाए आत्मकल्याण का प्रयत्न करना चाहिए। जो भव्य प्राणी ऐसा करेंगे वे इहलोक एवं परलोक, दोनों में सुखी बनेंगे। ❀



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं—‘मानव जन्म पाया है तो कुछ आत्म-साधना करो। अपनी बुद्धि और विवेक को काम में लेते हुए स्व और पर का कल्याण करने का प्रयत्न करो।

**दूसरों के चरखों में तेल किसलिए डालना ?**

यह एक कहावत है, जो यह कहती है कि औरों की तुम्हें क्या पड़ी है जो उनके भले-बुरे की फिक्र करते फिरते हो। अपनी निपटाओ वही ठीक है।

एक दृष्टि से यह कहावत निरर्थक नहीं है, उचित भी है। पर केवल उस स्थिति में जब कि लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हों अथवा निरर्थक वाद-विवाद में उलझकर झगड़े झंझट में पड़े हों। उस हालत में बिना बुलाये जाकर अपनी अक्लमन्दी जाहिर करना अथवा जबरदस्ती के पंच बनकर फैसला करने का प्रयत्न करना कोई अच्छी बात नहीं है।

परन्तु जो अज्ञानी हैं और सही मार्ग की पहचान न कर सकने के कारण गलत मार्ग पर चल रहे हैं उन्हें स्वयं जाकर मार्ग सुझाना भी उत्तम, आवश्यक और श्रेयस्कर है। साथ ही महान परोपकार का कार्य है। उदाहरण स्वरूप अगर कोई शिशु आग की ओर बढ़ता है तो क्या आप दौड़कर उसे पीछे नहीं हटाएँगे ? अवश्य हटाएँगे। वह क्यों ? इसलिए कि शिशु अनजान, अज्ञानी और भोला है।

इसी प्रकार आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यों को करने वाला व्यक्ति चाहे वृद्ध ही क्यों न हो, वह भी अज्ञानी ही माना जाता है। अगर वह भली-भाँति यह समझ ले कि इन कार्यों को करने से उसकी आत्मा भविष्य में ताना कण्ट और भयंकर यातनाएँ भोगेगी तो वह ऐसा करे ही क्यों ? जान बूझकर तो कोई आग में कूदना नहीं चाहता। पर वह इन बातों को या तो समझ नहीं पाता या सुनकर भी अज्ञान के कारण उन पर विश्वास नहीं कर पाता। इसीलिए वह पतन के मार्ग पर बढ़ता चला जाता है और उस हालत में उसे पतित होने से बचाना सज्जन महापुरुषों का और ज्ञानियों का अनिवार्य कर्तव्य है।

साधु शब्द की व्याख्या करते हुए कहा भी है—

**साध्नोति आत्मपरकार्यम् इति साधुः ।**

साधु वही होता है जो अपने और पर के कल्याण का प्रयत्न करे ।

यहाँ विचार किया जा सकता है कि साधु को पहले अपना ही भला करने के लिए क्यों कहा गया ? यह तो खदगर्जी हुई, उसे दूसरों का भला करना चाहिए ।

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जब तक वह स्वयं भला नहीं बनता, तब तक औरों का भला कैसे करेगा ? जब तक वह स्वयं सही मार्ग पर नहीं चलता तब तक औरों को उस मार्ग पर कैसे चलाएगा ? इसके अलावा जब तक वह स्वयं सम्यक् ज्ञान यानी आध्यात्मिक ज्ञान हासिल नहीं करेगा तब तक दूसरों को कैसे ज्ञानी बनायेगा ?

आज सांसारिक विषयों का ज्ञान छात्रों को देने के लिए भी शिक्षक कई वर्षों तक स्वयं पढ़ते हैं तब स्कूलों, कालेजों में पढ़ाते हैं । फिर आध्यात्मिक ज्ञान जिसके द्वारा आत्मा संसार-मुक्त होती है, उसे प्राप्त करना क्या सहज चीज है ? नहीं, उसे प्राप्त करना बड़ा कठिन है और उससे भी कठिन उस ज्ञान को जीवनसात् करना है । केवल धर्मग्रन्थ और धर्मशास्त्र पढ़ लेने से तो काम नहीं चलता जब तक कि उनमें बताई हुई बातों को आचरण में न लाया जाय ।

कोई भी साधु या सज्जन व्यक्ति केवल औरों को ही उपदेश दे कि सत्य बोलो, अहिंसा का पालन करो, अन्य जीवों की रक्षा करो, परोपकार करो, किन्तु वह स्वयं इन बातों पर अमल न करे तो क्या सुनने वाले उसकी बात मानेंगे ? नहीं, वे तुरन्त ही कह देंगे—'पर उपदेश कुशल बहुतेरे !' यानी दूसरों को उपदेश देने में तो सभी कुशल होते हैं, स्वयं इन बातों को क्यों नहीं अपनाते ?

कहने का तात्पर्य यही है कि सभी उत्तम गुणों को समझकर उन्हें आचरण में लाना धर्मारोपण का मूल है । अगर इस मूल में भूल हो गई तो जीवन भर उपदेश देने से, तर्क-वितर्क करने से और थोथी क्रियाओं में उलझे रहने से रचमात्र भी लाभ नहीं होगा और उत्थान के पथ पर प्राणी एक कदम भी नहीं बढ़ सकेगा ।

अभी-अभी रतनमुनिजी ने आपको एक उदाहरण दिया कि नाविक ने रात भर नाव चलाई किन्तु प्रातःकाल देखा तो पाया कि वह उसी स्थान पर है, जहाँ नाव में बैठा था । इसका कारण यही था कि उसने प्रारम्भिक भूल कर दी थी, यानी किनारे पर जिस रस्सी से नाव बँधी थी उस रस्सी को नहीं खोला था । शुरुआत की इस भूल से उसका रात भर नाव चलाना निरर्थक चला गया ।

ठीक यही हाल आत्म-कल्याण के इच्छुक साधक का भी हो सकता है । अगर वह साधना से पूर्व मन में रही हुई विषय-वासना की डोर को नहीं खोल लेता है तथा आत्मोपयोगी गुणों को अपने जीवन में नहीं उतार लेता है तो फिर जीवन भर तप

एवं साधना की क्रियाओं को करके भी क्या हासिल कर सकता है ? कुछ भी नहीं । वह जीवन-पर्यन्त धर्माचरण का डोंग भले ही करे तथा दूसरों को भी उपदेश दे-देकर अपने वाग्जाल में फाँस ले, किन्तु स्वयं उसकी आत्मा शुद्धता की ओर एक कदम भी नहीं बढ़ सकेगी ।

तो बन्धुओ, सच्चा साधु वही होता है जो प्रथम तो अपने जीवन को निर्मल और निष्कलंक बनाकर साधना के क्षेत्र में उतरता है, और तब अन्य अज्ञानी प्राणियों को भी कल्याण का मार्ग सुझाता है । संसार-सागर में डूबते-उतराते प्राणियों के प्रति साधु में स्वयं ही दया का भाव जागृत होता है । हमारे यहाँ दया के आठ प्रकार बताये गये हैं । उनमें स्व-दया और पर-दया भी हैं । स्व-दया से तात्पर्य यह है कि साधक अपनी आत्मा पर दया करके उसे जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा दिलाये और पर-दया का अर्थ है औरों की आत्माओं को भी संसार के दुःखों से मुक्त कराने का प्रयत्न करे । परदुःख-कातर महापुरुषों का यही कर्तव्य है और यह कर्तव्य वे बिना किसी अन्य की प्रेरणा और दबाव के करते हैं । दूसरे शब्दों में दया की भावना उनके मानस में इस प्रकार रम जाती है कि वे औरों के दुःखों को देखकर द्रवित हुए बिना और उन्हें दुःखों से मुक्त करने का प्रयत्न किये बिना रह ही नहीं सकते ।

### पड़ौसी का कर्तव्य

एक छोटा-सा दृष्टान्त है कि दो व्यक्तियों ने एक ही समय में एक-दूसरे के पास ही अंगूर के बगीचे लगाये ।

उन बगीचों में से एक का मालिक बड़ी होशियारी और सतर्कता से अपने बगीचे का संरक्षण करता था । समय पर पानी देना, कूड़ा-ककर्ट साफ करना और बेलों को हानि पहुँचाने वाले जीव-जन्तुओं से उनकी रक्षा करने में वह पूरी सावधानी रखता था ।

किन्तु अंगूरों के दूसरे बगीचे का मालिक लापरवाह और प्रमादी था अतः वह न तो उसकी सार-सम्हाल ही करता था और न ही उसे हानि पहुँचाने वाले जीवों से बचा पाता था । परिणाम यह हुआ कि एक बार उसके बगीचे में गधा घुस गया और आराम से अंगूर खाने लगा ।

बगल के बगीचे के मालिक ने अपने पड़ौसी के यहाँ गधे को अंगूर खाते हुए देखा तो विचार किया—

यद्यपि न भवति हानिः, परकीयां चरति रासभो द्राक्षाम् ।

वस्तुविनाशं दृष्ट्वा तथापि मे परिखिद्यते चेतः ॥

अर्थात् 'मेरे पड़ौसी के बगीचे में गधा अंगूर खा रहा है । उससे मेरी कोई हानि नहीं हो रही है क्योंकि वह बगीचा मेरा नहीं है । किन्तु गधे के लिए जब घास

और अंगूर समान हैं तो ऐसी कीमती और स्वादिष्ट वस्तु के विनाश होने से मेरे मन को खेद होता है।”

यह विचार आने पर उसने एक डण्डा उठाया और गधे को पड़ौसी के बगीचे से निकाल दिया।

बन्धुओ ! यह एक छोटा-सा दृष्टान्त है किन्तु गूढ़ रहस्य और शिक्षा से परिपूर्ण है। आप प्रश्न करेंगे कि ऐसा क्यों ? तो आपका समाधान करने के लिए इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि आप और हम भी अंगूरों के बगीचों के मालिक हैं। आपका बगीचा श्रावकधर्म या गृहस्थाश्रम है और हमारा संन्यास-आश्रम या साधुधर्म है।

अब जरा गम्भीरता से विचार कीजिये कि साधु और गृहस्थ दोनों में से कौन अपने बगीचे की रखवाली और सार-समूहल बराबर करता है ? अगर आपसे मैं यह प्रश्न पूछूँ तो आप चट से यही उत्तर देंगे—“महाराज बगीचे की रक्षा तो आप ही बराबर करते हैं, हमें तो मरने की फुरसत भी नहीं मिलती, कैसे अपना बगीचा समूहलें ?”

वस्तुतः सच्चे सन्त अपने संयम रूपी बगीचे में लगे हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप-रूप अंगूरों की बेलों की बड़ी सजगता, सावधानी एवं विवेकपूर्वक रक्षा करते हैं। इस बगीचे में आते हुए विषय-विकारों के कचरे को साफ करते रहते हैं तथा दया, करुणा एवं स्नेह के जल से उन्हें सींचते रहते हैं। यही कारण है कि उनका संयम एवं साधना-रूपी बगीचा सदा साफ-सुथरा रहता है एवं शुभ-फल रूपी अंगूर फूलते-फलते हुए सुरक्षित भी रहते हैं।

किन्तु इसके विपरीत आज के श्रावक या गृहस्थ अपने बगीचे के प्रति पूर्णतया लापरवाही रखते हुए उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। परिणाम यह होता है कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों का कचरा वहाँ जमा हो जाता है और करुणा, सहानुभूति एवं प्रेम-रूपी जल के अभाव में वह सूखने लगता है। इसके अलावा प्रमाद अथवा आलस्य रूपी गधा रही-सही कसर पूरी करता है यानी ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप एवं शील रूपी अंगूरों की बेलों को जड़-मूल से खा चलता है।

यह देखकर साधु-पुरुष द्रवित होते हैं और अपने पड़ौसी श्रावक को सावधान करने का बार-बार प्रयत्न करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि श्रावक का बगीचा सूख जाय या उसे प्रमाद रूपी गधा चर जाय तो हमारा क्या बिगड़ता है, हम तो अपने बगीचे की रक्षा कर ही रहे हैं। उनके ऐसा न सोचने का कारण उनकी करुणा की भावना होती है। दया का जो अजस्र स्रोत उनके हृदय में प्रवाहित होता है, उसके कारण वे औरों को भी दुखी नहीं देख सकते।

ध्यान में रखने की बात है कि गृहस्थ, जो सांसारिक सुख-भोगों में ही निमग्न रहता हुआ सुख का अनुभव करता है वह अपनी आत्मा को भविष्य में मिलने वाले दुःखों के विषय में नहीं समझ पाता। अर्थात् अपने दुःख को वह खुद ही नहीं जानता। परन्तु साधु दीर्घ-दृष्टि होते हैं अतः वे आत्मा का अदृश्य रूप से पीछा करने वाले पाप-कर्म रूपी चोरों को पहचानते हैं और उनसे बचाने के लिए अपने पड़ोसी श्रावकों को सदा उद्बोधन देते हैं। उनकी आत्माओं पर उन्हें तरस आता है। यही कारण है कि वे अपने कल्याण के प्रयत्न के साथ-साथ पर-कल्याण का प्रयास भी करते रहते हैं। और तो वे कर भी क्या सकते हैं? अगर उनका वश चले तो वे अन्य प्राणियों के दुःखों का भार भी स्वयं ढो लेंगे किन्तु यह तो प्राण दे देने पर भी सम्भव नहीं होता। अर्थात् निश्चय रूप से प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। कर्म-फल का कभी बँटवारा नहीं किया जा सकता, उन्हें बेचा नहीं जा सकता और न ही किसी को उनका दान दिया जा सकता है।

हमारे शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है—

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइवो,

न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।

इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,

कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १३, गा० २३

अर्थात्—पाप करने वाले उस व्यक्ति के दुःख को जाति के लोग, मित्र-मण्डली, पुत्र-पौत्र आदि कुटुम्बीजन अथवा माई-बन्धु कोई भी बाँट नहीं सकते। पाप-कर्म करने वाला स्वयं ही अकेला दुःख भोगता है क्योंकि कर्म, कर्ता का ही अनुसरण करता है।

यद्यपि अनेक अज्ञानी व्यक्ति अपने पितरों की सुगति प्राप्त हो, इसके लिए श्राद्ध-तर्पण आदि करते हैं और यह समझते हैं कि उनके निमित्त से किया हुआ श्राद्ध उन्हें सन्तुष्ट करेगा और उस पुण्य का फल उन्हें मिल जायगा। किन्तु यह मान्यता सर्वथा गलत है। किसी भी व्यक्ति के द्वारा किये हुए सुकर्म या कुकर्म, दूसरे व्यक्ति को कभी फल प्रदान नहीं कर सकते। अगर ऐसा होने लग जाय तब तो धनी व्यक्ति कभी त्याग, तपस्या और व्रत-नियम अपनायेंगे ही नहीं, वे तो गरीबों से शुभ-कर्म भी खरीद लेंगे, जिस प्रकार अन्य वस्तुएँ खरीदी जाती हैं।

कोई प्रश्न कर सकता है कि जब संसार के सगे-सम्बन्धी सांसारिक पदार्थों में हिस्सा बँटा लेते हैं और भौतिक सुखों के भोग में शरीक होते हैं तो फिर दुःख में भाग क्यों नहीं ले सकते ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा का संसार की किसी भी जड़ या

चेतन वस्तु से सम्बन्ध नहीं है। और तो और यह शरीर जो सबसे अधिक आत्मा के निकट रहता है, वह भी आयु पूर्ण होने पर जीव से अलग हो जाता है। तो जब शरीर भी इसी पृथ्वी पर रह जाता है, साथ नहीं जाता। तब पुत्र-कलत्रादि दुःख में भाग लेने के लिए कैसे साथ जा सकते हैं ?

इसीलिए पं० शोभाचन्द्र जी 'मारिल्ल' ने मानव को चेतावनी देते हुए बड़ी सुन्दर सीख दी है। वे कहते हैं—

घिरे रहो परिवार से पर भूलो न विवेक ।  
 रहा कभी मैं एक था, अन्त एक का एक ॥  
 पापों का फल एकले, भोगा कितनी बार ।  
 कौन सहायक था हुआ, कर ले जरा विचार ॥  
 कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार ।  
 देख भोगते स्वर्ग-सुख, वे ही अपरम्पार ॥

मनुष्य को उद्बोधन दिया है कि—'भले ही तुम लम्बे-चौड़े परिवार में रहो, पर अपने विवेक को मत छोड़ो और सदा यह ध्यान रखो कि मैं अकेला ही आया था और अन्त में अकेला ही जाऊँगा ।'

और भी कहा है—'देख, तूने पहले भी पापों का फल अनेक बार भोगा है पर क्या कभी भी कोई और उस समय तेरा सहायक बना था ? अर्थात् किसी ने तेरे दुःख में हिस्सा लिया था क्या ? इसका तनिक विचार तो कर !'

मारिल्ल जी ने अन्तिम दोहे में तो बड़ी ही मार्मिक बात कही है। उन्होंने मनुष्य को जाग्रत और सावधान करने के लिए झिड़की देते हुए कहा—'भोले जीव ! जिन कुटुम्बी जनों को सुख पहुँचाने के लिए तूने जीवन भर नाना प्रकार के पाप किये हैं और अब उन पापों के फलस्वरूप नरक की ओर प्रयाण करने की तैयारी कर रहा है, वे ही तेरे सगे-सम्बन्धी स्वर्ग में अपार सुख भोग रहे हैं ।'

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने पुत्र, पौत्र, पत्नी आदि निकट सम्बन्धियों को सुखी रखने के लिए घोर अनैतिकता, धोखेबाजी, बेईमानी और कपटाचरण करके पापों की भारी पोट बाँध लेता है। पर जिनके लिए वह असंख्य पाप करता है वे उसके द्वारा अर्जित धन के भोग में ही भाग लेते हैं, धन के लिए किए हुये पापों का फल भोगने में हिस्सा नहीं बँटाते। उन पापों को भोगने के लिए नरक में तो व्यक्ति अकेला ही जाता है।

इसीलिए कहा जाता है कि संसार में कोई किसी का नहीं है। सब स्वार्थ के सगे-सम्बन्धी हैं। यहाँ तक कि परलोक की बात तो दूर, इस लोक में भी कोई दुःख

को बाँटने वाला नहीं होता। माता, पिता और पत्नी जो कि स्वार्थ-सिद्ध होते समय व्यक्ति के लिए प्राण तक दे देने की तत्परता दिखाते हैं, वे ही समय पर मुकर जाते हैं। एक उदाहरण से यह बात समझ में आ जायगी।

### प्रेम की परीक्षा

किसी स्थान पर एक बड़े विद्वान और क्रियानिष्ठ संन्यासी रहते थे। उनके पास एक ब्राह्मण आया-जाया करता था तथा सांसारिक एवं आध्यात्मिक सभी विषयों पर उनमें बातचीत हुआ करती थी।

एक दिन इसी प्रकार जब वे बातचीत कर रहे थे तो वार्तालाप के दौरान संन्यासी ने ब्राह्मण से कहा—“माई ! कुछ धर्माराधन किया करो। संसार के कार्य तो कभी समाप्त होते ही नहीं हैं और आयु समाप्त हो जाती है। तुम जीवन भर मर-खपकर पापों का उपाजन करते रहोगे और जिनके लिए पाप करोगे वे भी तुम्हें छोड़ देंगे, जबकि तुम्हारी वृद्धावस्था आ जायगी और शारीरिक बल क्षीण हो जायगा।”

संन्यासी की बात सुनकर ब्राह्मण चिहूँक पड़ा और बोला—“महाराज ! यह बात तो आप गलत कह रहे हैं। मेरी माता और पत्नी तो मुझ पर जान देने की तैयार रहती हैं, इतना उनका मुझ पर प्रेम है।”

संन्यासी ब्राह्मण की बात सुनकर अर्थपूर्ण दृष्टि उस पर डालते हुए मुस्कराये और बोले—

“अगर ऐसी बात है तो एक दिन उनके प्रेम की परीक्षा लेकर देख लो !”

“हाँ यह बात ठीक है। पर याद रखिये महाराज, मेरी बात सत्य साबित होगी। मेरी माँ तो मेरे सिर में दर्द होते ही बेहाल हो जाती है और पत्नी का तो पूछना ही क्या है, वह जीवित रहती हुई भी अपने आपको मृतक समझने लगती है। और ऐसा हो भी क्यों नहीं, उनका मेरे ऊपर अपार स्नेह है। पर आप देखना चाहते हैं तो बताइये, अब मुझे क्या करना है और किस प्रकार परीक्षा लेनी है।” ब्राह्मण ने पूर्ण विश्वास पूर्वक पूछा।

संन्यासी ब्राह्मण की लम्बी-चौड़ी बातों को चुपचाप सुन रहे थे। उनका उत्तर देना उन्होंने जरूरी नहीं समझा, केवल यही कहा—“तुम आज ही घर जाकर पेट-दर्द का बहाना करना और जोर-जोर से चिल्लाने लगना। ठीक उसी समय मैं वहाँ आकर तुम्हें एक तमाशा बताऊँगा।”

ब्राह्मण ने इसे स्वीकार किया और घर चला गया। शाम होते-होते उसने

संन्यासी के कथनानुसार पेट-दर्द का बहाना बनाया और जैसे असह्य दर्द हो रहा हो, इस प्रकार चीखने लगा ।

उसकी माँ एवं पत्नी आदि सभी चिन्ता में पड़ गये और एक के बाद एक डॉक्टर, वैद्य एवं हकीमों को बुलाया गया । पर दर्द को तो बिना परीक्षा लिए ठीक नहीं होना था अतः वह नहीं मिटा ।

इतने में ही वहाँ संन्यासी महाराज आ पहुँचे । ब्राह्मण की माता ने रोते हुए संन्यासी से कहा—“महाराज ! आप ही किसी प्रकार मेरे बेटे को ठीक कर दीजिए । यही तो मेरा कमाऊ पुत्र है जो सबका पालन-पोषण करता है ।”

संन्यासी जी ने बीमार को कुछ देखा-भाला और वृद्धा से बोले—“माताजी ! आपके पुत्र की बीमारी तो बड़ी गहरी है पर यह ठीक हो सकती है अगर एक शर्त पूरी की जाय ।”

“आप बताइये महाराज ! मैं बेटे के लिए सभी कुछ करने को तैयार हूँ ।”

ब्राह्मण माँ की बात सुनकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—“आज संन्यासी जी की बात झूठ साबित होगी । मेरी माँ मेरे लिए सब कुछ करने को तैयार है । वह जान भी इस समय दे सकती है ।” पर प्रत्यक्ष में वह झूठे पेटदर्द के बहाने छटपटाता और चीखता-चिल्लाता रहा ।

इधर संन्यासी ने जब ब्राह्मण की माँ की बात सुनी तो गम्भीरता से बोले—“माता जी ! आपका पुत्र आज तभी ठीक हो सकता है जबकि इसके बदले कोई भी एक व्यक्ति अपने प्राणों की आहुति दे दे । मैं समझता हूँ कि आप वृद्ध हैं और इस उम्र में आपके लिए जीना-मरना समान है । अतः क्या आप अपने कमाऊ पुत्र के लिए अपनी जान देने को तैयार हैं ? अगर ऐसा हो तो मैं अभी इसे पूर्णतया ठीक कर सकता हूँ ।”

संन्यासी की बात सुनकर वृद्धा के तो मानों पैरों तले से जमीन ही खिसक गई । वह कुछ क्षण जड़वत् बैठी रही, पर फिर बोली—

“बाबा जी ! आपका कहना सत्य है । मैं अपने प्यारे पुत्र के लिए प्राण भी दे सकती हूँ, पर बात यह है कि मेरे ये दूसरे छोटे-छोटे बच्चे मुझसे बहुत लगे हैं अतः मेरे मरने पर इन्हें बड़ा दुःख होगा । इसलिये मैं अमागी अपने बेटे के लिए प्राण भी नहीं दे सकती ।”

माँ की बात सुनकर बाबा जी ने अपनी निगाह ब्राह्मण की पत्नी की तरफ डाली और उससे कहा—“पुत्री ! मैं समझता हूँ कि अपने प्राणों से भी प्रिय पति के लिए तुम अवश्य ही इस नश्वर देह को छोड़ सकती हो । इससे बढ़कर सौमन्य



तुम्हारे लिए और क्या हो सकता है कि अपने पति को तुम जीवनदान दो और इसके कन्धे पर चढ़कर माँग में सिन्दूर लिए हुए स्वर्ग की ओर जाओ ।”

“हाँ महाराज ! इससे बढ़कर सौभाग्य मेरे लिए और कोई नहीं हो सकता । पर मेरे मर जाने से ये सास-ससुर जीवित ही मर जायेंगे । अतः मैं इनकी हत्या अपने सिर नहीं ले सकती ।” मर जाने के डर से विकल हुई पत्नी ने चट से उत्तर दे दिया ।

इस प्रकार सभी ने अपने प्राण देने के लिए बहाने किये और एक भी ब्राह्मण के लिए मरने को तैयार नहीं हुआ ।

तब संन्यासी ने ब्राह्मण को सम्बोधित करते हुए कहा—“अब उठ जाओ वत्स ! सबकी परीक्षा हो गई । देख लो प्राणों से भी ज्यादा प्यार करने वाले तुम्हारे इन सम्बन्धियों में से एक भी तुम्हारे लिए प्राण देने को तैयार नहीं है । इसीलिए मैं कहता था कि कोई किसी का नहीं है, सब स्वार्थ के सगे हैं ।”

ब्राह्मण की आँखें खुल गईं और वह भलो-भाँति समझ गया कि जिनके लिए मर-खप कर वह सुख के साधन जुटा रहा है, वे केवल सुख के भागी हैं, उसके दुःख को बाँटने वाला एक भी संसार में नहीं है । यह विचार करता हुआ वह उठा और उसी वक्त संन्यासी के साथ घर छोड़कर खाना हो गया ।

संसार की ऐसी स्थिति को देखकर ही महापुरुष जीव को उद्बोधन देते हुए कहते हैं—

ये दिन चार कुटुम्ब सों लार,  
 सो झूठ पसार के संग बंधानो ।  
 मात-पिता सुत दार निहारि,  
 सो सार बिसारि के फँव फँवानो ॥  
 पानो से पिंड संवारि कियौ,  
 नर ताहि बिसारि अनंद सो मानो ।  
 तुलसी तब की सुधि याव करौ,  
 उलटे मुख गर्भ रह्यो लटकानो ॥

पद्य में कहा है—“हे जीव जीवन के इन चार दिनों में भी तू कुटुम्ब के मोह में पड़ा हुआ धन के पसारे में लगा हुआ है । माता, पिता, पुत्र और पत्नी के झूठे प्यार के कारण आत्मा के लिए कल्याणकारी सार-तत्त्व को मूल गया है ।

तू यह भी मूल गया है कि जब तक तुझमें इन सबको खिलाने-पिलाने की शक्ति है तभी तक ये तेरे हैं और जिस दिन भी तू आँख मूंद लेगा ये सब केवल तुझे पिण्डदान करके निश्चिन्त हो जायेंगे और अपने जीवन के सुखों का उपयोग करते

हुए पुनः आनन्द-मग्न हो जायेंगे। कोई भी सगा-सम्बन्धी तेरी स्मृति में दो बूंद आँसू नहीं बहायेगा।

इसलिए नादान प्राणी ! तू इन सब स्वार्थ के सगों का मोह छोड़कर यह विचार कर कि इनके लिए नाना प्रकार के पापों को करके तू अकेला ही उन्हें भोगेगा और मृत्यु के पश्चात् पुनः पुनः गर्भावस्था के घोर कष्टों को सहन करने के लिए बाध्य हो जायेगा।”

तो बन्धुओ, संसार के साधु-पुरुष अज्ञानी प्राणियों को मोह-माया में फँसकर अपना जीवन निरर्थक करते हुए देखते हैं तो उन्हें तरस आता है और वे उनकी आत्मा पर दया एवं करुणा का भाव लाकर उन्हें बार-बार संसार की वास्तविक स्थिति समझाते हैं। और इतना ही वे कर भी सकते हैं, क्योंकि कर्ता केवल प्रत्येक प्राणी की अपनी आत्मा ही होती है। एक व्यक्ति कभी दूसरे के लिए शुभ या अशुभ कर्मों का उपाजन नहीं कर सकता, न वह अपने शुभ कर्म दूसरे को किसी भी प्रकार दे ही सकता है।

अगर ऐसा न होता तो बड़े-बड़े तीर्थंकर और चक्रवर्ती स्वयं ही अपने अपार वैभव और साम्राज्य को छोड़कर आत्म-साधना के लिए गृह-त्याग क्यों करते ? कहा भी है—

**बड़े-बड़े भूपालों ने क्यों जग से नाता तोड़ा ?  
अपना विस्तृत निष्कण्टक क्यों राज उन्होंने छोड़ा ?**

वस्तुतः जब हम देखते हैं कि आत्मकल्याण का इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह राजा हो, श्रेष्ठ हो और फकीर ही क्यों न हो, स्वयं साधना करता है और स्वयं ही कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करता है तो यह बात समझ में आ जाती है कि अपना भला-बुरा करने की क्षमता स्वयं अपनी आत्मा में ही है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट बताया गया है—

**अप्पा कत्ता विकत्ता थ, बुहाण थ सुहाण थ ।  
अप्पा भित्तममित्तं च, बुप्पदिठय सुपदिठओ ॥**

—अध्ययन २०, गा० ३७

अर्थात् आत्मा ही अपने सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाला जनक है और आत्मा ही उनका विनाशक है। सन्मार्ग पर लगा हुआ चारित्रवान आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर गमन करने वाला दुराचारी आत्मा ही दुश्मन है।

इस यथार्थ को अज्ञानी पुरुष नहीं समझ पाते। जिस प्रकार कुत्ता लाठी मारने वाले व्यक्ति को छोड़कर लाठी को पकड़ने के लिए दौड़ता है, उसी प्रकार

वास्तविक तथ्य से अनभिज्ञ प्राणी अपने से भिन्न प्राणियों को अपने सुख-दुःख का कारण मान बैठते हैं और उन पर राग या द्वेष करते हैं। वे यह नहीं समझते कि अपने सुख-दुःख का सृष्टा तो मैं ही हूँ। मेरे पूर्वोपाजित कर्मों के कारण ही कोई व्यक्ति निमित्त बन गया है। और अगर वह न बनता तो कोई दूसरा निमित्त बन जाता।

अभिप्राय यही है कि आत्मा स्वयं ही कर्म-बन्धन करता है और निश्चय ही वही भोगता है। ज्ञानी पुरुष यही विचार कर पूर्ण सम-भाव से कष्टों को सहन करते हैं और इस प्रकार से भविष्य में अशुभ कर्मों के बन्ध से बच जाते हैं।

प्रत्येक प्राणी को ऐसा ही विचार कर अपने दुर्लभ मानव-जन्म को सार्थक करने के लिए विवेक से काम लेना चाहिए तथा अनन्त काल से घोर दुःख और नाना प्रकार की जो यातनाएँ आत्मा भोगती आ रही है, उसे इनसे छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करना चाहिए। एक कवि ने भी यही कहा है—

कब तलक सोते रहोगे इस गजब की नींद में,  
मुद्दतें तो आपको रंजोगम खाते हो गया।  
फिर भी नफरत न हुई तुमको इस टेढ़ी चाल से,  
सैकड़ों बरस तुमको सदमे उठाते हो गये।

सरल भाषा में ही कहा गया है कि—“बन्धुओ, अब सोने का वक्त नहीं है। अनन्त काल से इस प्रमाद रूपी गजब की निद्रा में तो तुम सोते ही रहे हो और इसके फलस्वरूप अनन्त दुःख पाते रहे हो। पर अब जबकि तुमने मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट योनि प्राप्त की है और विशिष्ट विवेकबुद्धि और ज्ञान के अधिकारी बन गये हो तो अपनी अब तक की उलटी चाल को छोड़ दो और होश में आकर अपना मार्ग बदलो।”

अमी मीने बताया था कि अंगूर के बगीचे के सतर्क मालिक ने अपने पड़ोसी के बगीचे को नष्ट होते हुए देखा तो तरस खाकर उसमें धुसे हुए गधे को निकालकर बाहर कर दिया। इसी प्रकार हम साधु हैं और आप श्रावक। दोनों ही पड़ोसी हैं। फर्क इतना ही है कि आप अपने आध्यात्मिक बगीचे की ओर से लापरवाह हैं इसलिए हमारे हृदय में आपकी हानि होती हुई देखकर उथल-पुथल मच रही है। फलस्वरूप हम आपको बार-बार समझाने का प्रयत्न करते हैं तथा आपकी दृष्टि को भौतिक सुखों की ओर से हटाकर आध्यात्मिक सुखों की ओर मोड़ना चाहते हैं। आप सोचेंगे हम सेठ-साहूकार हैं, मिलों और फॅक्टरियों के मालिक हैं अथवा सैकड़ों बीघे जमीन और मकानों के स्वामी हैं, फिर किस बात की चिन्ता है ?

पर भाइयो ! यह तो आप यहाँ पर हैं। परलोक में आप कुछ भी नहीं रहेंगे। चन्द दिनों की इस जिन्दगी के समाप्त होने पर केवल आपकी आत्मा होगी और साथ

में रहेंगे शुभा-शुभ कर्म । यहाँ की दौलत, बड़ी-बड़ी पदवियाँ और मालिकी वहाँ कुछ भी काम नहीं आएगी क्योंकि वहाँ पक्षपात नहीं है । परलोक में तो आपके प्रत्येक कर्म का फल ठीक उसी के अनुसार मिलेगा, जरा भी फर्क नहीं होगा । जिस प्रकार दर्पण व्यक्ति की शकल को जैसी होती है ठीक वैसी ही बताता है, एक बाल का भी अन्तर उसमें दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार कर्म भी ठीक उनके अनुसार ही फल प्रदान करते हैं, उनकी प्राप्ति में रंचमात्र भी कमी-बेसी नहीं होती ।

इसलिए नितान्त आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी छोटी से छोटी क्रिया भी बड़ी सावधानी पूर्वक करे एवं मन की भावनाओं पर पूर्ण नियंत्रण रखे । क्योंकि पाप केवल शरीर से ही नहीं होता अपितु मन और वचन से भी होता है । कोई व्यक्ति भले ही अपने शरीर से कुछ भी न करे, उसे हिलाए-डुलाए भी नहीं किन्तु अपने वचनों के द्वारा भी वह हत्या के पाप का भागी बन सकता है । और इससे भी बढ़कर तारीफ की बात तो यह है कि शरीर से कुछ भी न करके और जबान से एक शब्द का उच्चारण किये बिना भी व्यक्ति केवल मन की गह्रित भावनाओं से ही किसी महापाप का भागी बन जाता है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि कर्म-बन्धन बड़ी भारीकी से दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान हो जाता है । अतः आत्मा का हित चाहने वाले प्राणी को केवल शरीर और वाणी के लिए ही नहीं अपितु मन की भावनाओं के प्रति भी बहुत सजग और सावधान रहना चाहिये । अपनी अशुभ भावनाओं को शुभ रूप में परिणत करने और उसके पश्चात् उन्हें विशुद्ध रूप में लाने के लिए मन को त्याग, तपस्या तथा व्रत-नियमादि के द्वारा साधने का प्रयत्न करना चाहिए । कहा भी है—

**मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक ।**

**जो मन पर असवार है, सो साधु कोई एक ॥**

दोहों में भी यही कहा है कि आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को मन के अनुसार क्रियाएँ नहीं करते जाना चाहिए, वरन् अपने मन पर अंकुश रखते हुए उसे अपनी बुद्धि और विवेक के अनुसार चलाना चाहिए । जो ऐसा करता है वह सच्चा साधु होता है और ऐसे सच्चे साधु विरले ही पाये जाते हैं ।

तो बन्धुओ ! सच्चे साधु बहुत कम होते हैं और जो होते हैं, वे अपनी आत्मा के समान ही अन्य प्राणियों की आत्माओं को भी समझते हैं अतः उनको दुःख से बचाने का प्रयत्न करते हैं । अपने सहज स्वभाव के अनुसार ही वे किसी अन्य को दुखी नहीं देख सकते । इसलिए संतों के उपदेशों को यथार्थ और आत्मोपयोगी मानकर प्रत्येक व्यक्ति को उनके अनुसार अपना जीवन विशुद्ध और क्रियानिष्ठ बनाना चाहिये ।

इस संसार में हम मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं । उत्तम पुरुष वे होते हैं जो बिना किसी के मार्ग सुझाने पर भी अपनी बुद्धि और विवेक का जगाकर

आत्मकल्याण के पथ पर चलते हैं। दूसरे मध्यम पुरुष कहलाते हैं जो स्वयं सही दिशा निर्धारित नहीं कर सकते, किन्तु संत महापुरुषों के द्वारा बताये हुए सत्यपथ पर उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक चल पड़ते हैं। किन्तु तीसरी श्रेणी के व्यक्ति ऐसे अधम होते हैं जो स्वयं की बुद्धि को तो ताक पर रखे हुए होते ही हैं पर संत पुरुषों के बार-बार समझाने और मार्ग बताने पर भी पतन की विपरीत दिशा पर निस्संकोच बढ़ते चले जाते हैं।

अब आपको देखना है कि आप किस श्रेणी में आते हैं। हम तो सदा आपको नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न करते ही हैं पर आप उस पर किस प्रकार अमल करते हैं और हमारी बात कहाँ तक जीवनसात् करते हैं, इसका हिसाब आप स्वयं ही लगा सकते हैं।

आपको विचार करना चाहिए कि आखिर साधु अपने ज्ञान-ध्यान एवं साधना का अमूल्य समय नष्ट करके कड़ाके की सर्दों, मीषण गर्मी और मार्ग की अनेकानेक परेशानियों को सहन करते हुए क्यों नंगे पाँव और नंगे सिर एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं। वे भूख और प्यास सहन करते हैं तथा आपके मानने या न मानने पर भी जिनवाणी को आप तक पहुँचाते हैं और धर्म के स्वरूप को तथा संसार की वास्तविक स्थिति को नाना प्रकार के उदाहरण देते हुए बार-बार समझाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने में आखिर उन्हें क्या लाभ है? उलटे समय की हानि और परेशानियों का सामना ही तो उनके पल्ले पड़ता है। पर फिर भी वे आपके लिए दौड़-धूप करते हैं और जहाँ तक संभव होता है, अपना प्रयास जारी रखते हैं।

इससे स्पष्ट है कि वे “पराये दुःख दूबरे” वाली कहावत चरितार्थ करते हैं। अर्थात् आप लोग अपनी आत्मा को भविष्य में प्राप्त होने वाले जिन दुखों का अंदाजा नहीं लगाते, उन्हींको दूर करने का साधु प्राणपण से प्रयत्न करते हैं। दूसरे शब्दों में आप अपने दुःख की कल्पना नहीं करते पर संत आपके दुःखों के विषय में विचार कर दुखी होते हैं। इसीलिए तुलसीदासजी ने संत के हृदय को नवनीत से भी कोमल बताया है। उन्होंने कहा है—

निज परिताप ब्रवइ नवनीता ।

परबुख ब्रवाँह संत सुपुनीता ॥

यानी नवनीत स्वयं को आँच लगते ही पिघलने लगता है, किन्तु पुनीत संत का हृदय तो दूसरे प्राणियों को दुःख की आँच लगते हुए देखकर ही द्रवित या दुखी होने लगता है।

ऐसी स्थिति में बन्धुओ, आपको संत-पुरुषों की निःस्वार्थ शिक्षा एवं आत्म-हितैषी उपदेश का महत्त्व समझकर उसे जीवन में उतारते हुए आत्म-कल्याण का प्रयत्न करना चाहिए। तभी सन्तों का परिश्रम सार्थक होगा तथा आपका जीवन विशुद्ध बनेगा।



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज पर्युषण पर्व का महत्त्व समझते हुए समाज के अग्रगण्य महानुभावों ने अपने समाज के हितार्थ बहुत कुछ उत्तम कार्य करने का जो निश्चय किया है, वह हमारे लिए भी अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है और समाज के लिए भी गौरवपूर्ण है। समाज की सेवा जितनी और जिस प्रकार की जा सके प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए, क्योंकि सांसारिक दृष्टि से यह उसका पुनीत कर्तव्य है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी पुण्य-संचय का भाग है।

**शुभ कर्मों के साथ भावनाएँ भी शुभ हों**

बन्धुओ, अभी आपने समाज-हित के लिए जो कुछ भी करने का विचार किया है वह सराहनीय है और मुझे विश्वास है कि आप वह सब करेंगे। किन्तु यहाँ मैं एक महत्त्वपूर्ण बात और आपको समझाना चाहता हूँ जिससे आपके द्वारा किये जाने वाले उत्तम कार्य सोने में सुगन्ध पैदा करने वाले भी साबित हो सकें। यह इस प्रकार हो सकता है कि आपने सेवा, परोपकार और दानादि के द्वारा जो कुछ करने का बीड़ा उठाया है, उसके साथ आपकी भावनाएँ भी आपके कार्यों की अपेक्षा अधिक उत्तम हों। अगर ऐसा नहीं हुआ और आपने उत्तम कार्य करते हुए भी मन को खिन्न, विवश या निरुत्साह बनाये रखा तो आपके किये हुए पर सम्पूर्ण रूप से पानी फिर जायेगा।

इस विषय को एक श्लोक के द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है और बताया है कि शुभ कार्यों के पीछे किस प्रकार की शुभ भावनाएँ भी होनी चाहिए। श्लोक इस प्रकार है—

“दानं प्रियवाक्सहितं, ज्ञानमगर्बं क्षमान्वितं शौर्यम् ।  
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतत् चतुर्भद्रम् ॥”

यह श्लोक श्री विमलगणी जी आचार्य के द्वारा लिखा गया है और इसमें चार बातों की दुर्लभता के विषय में बताया गया है। ये चारों ही बातें जैसा कि अभी मैंने कहा है, मनुष्य के उत्तम कार्य और उसके साथ ही कौसी उत्तम भावनाएँ

होनी चाहिए इसे स्पष्ट करता है। हम इन चारों पर क्रम से संक्षिप्त विचार करेंगे।

### १. प्रियवाक्य-सहित दान देना

श्लोक में बताई हुई चारों बातों में से पहली बात है, दान मधुर वचनों के साथ दिया जाय। इस कथन से स्पष्ट है कि दान देने वाले की भावनाएँ दान देते समय अत्यन्त स्नेह एवं सहानुभूतिपूर्ण होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही जबान से भी मधुर और प्रिय वाक्यों का उच्चारण हो सकेगा।

हम प्रायः देखते हैं कि बड़े-बड़े सेठ साहूकार अपनी पेटियों पर प्रसन्न और सन्तुष्ट भाव से बैठे हुए देखे जाते हैं, किन्तु अगर कोई चन्दा लेने वाला आ जाता है तो उसे देखते ही पल भर में उनका चेहरा परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् उसी क्षण प्रसन्नता और सन्तुष्टि के स्थान पर खिन्नता और झुंझलाहट उनके आनन पर स्पष्ट देखी जा सकती है। यद्यपि अपनी साख के कारण और धन होने पर भी कन्जूसी को उनके नाम के साथ न जोड़ा जाय तथा समाज में हेठी न दिखाई दे, इस कारण वे दान देते हैं तथा जिस प्रकार लोग वस्तुओं का भोल-भाव करते समय उसकी कीमत कम से कम करवाना चाहते हैं, इसी प्रकार चन्दा भी कम देना पड़े, इसलिए बकसक करते हुए जितना दिये बिना चलता ही नहीं, उतना ही देते हैं।

इसी प्रकार द्वार पर भिक्षुक को देखते ही लोगों की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं। पहले तो वे उसे आलसी, हराम का खाने वाले, चोर तथा उचकके आदि आदि सुन्दर पदवियों से विमूषित करते हुए जी भर कर कटु वाक्य तथा व्यंगोक्तियाँ कहते हैं और कमा कर खाने का उपदेश देते हैं। पर इस पर भी भिखारी अपने धर्मानुसार बिना कुछ लिए टलने का नाम ही नहीं लेता तो मारे गुस्से के रूखी-सूखी एकाध रोटी लाकर उसे देते हैं पर वह भी अनेक गालियों के साथ।

यही हाल हमारी अधिकांश बहनों का भी होता है। अगर उनकी इच्छा के विपरीत घर मालिक अगर दो-चार व्यक्तियों को जिमाने के लिए ले आएँ तो वे चम्मच-करछुल पटकना या बड़बड़ाना शुरू कर देती हैं। अरे माई ! मेहमान आये हैं तो उन्हें चाहे हँसते-हँसते खिलाओ या रोते-रोते, खिलाना तो पड़ेगा ही, फिर प्रसन्नचित्त और मधुर-संभाषण के साथ खिलाने में आखिर क्या हानि है ?

वैष्णव धर्मग्रन्थों में महाराज अम्बरीष की कथा आती है। राजा अम्बरीष भगवान के सच्चे भक्त थे। वे भगवद्भक्ति में इतने लीन रहा करते थे कि स्वयं भगवान को उनकी और उनके राज्य की रक्षा के लिए अपने सुदर्शन चक्र को नियुक्त करना पड़ा।

अम्बरीष सदा एकादशी का व्रत करते थे और उसका पारणा द्वादशी को। क्योंकि एकादशी का पारणा द्वादशी को करने का ही विधान है। संयोगवश जबकि एक

बार अम्बरीष के पारणे का दिन था, ठीक पारणे के समय दुर्वासा ऋषि वहाँ पहुँच गये। राजा महर्षि को अतिथि के रूप में आया पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने दुर्वासाजी से भोजन ग्रहण करने की प्रार्थना की। ऋषि ने निमन्त्रण को स्वीकार किया और वे स्नान एवं सन्ध्या आदि करने के लिए नदी-तट की ओर चल दिये।

इधर महाराज अम्बरीष बड़े धर्मसंकट में पड़ गये। क्योंकि द्वादशी का समय बहुत थोड़ा रहा था और दुर्वासा ऋषि को स्नान एवं सन्ध्या का ध्यान करते हुए कितना समय लगेगा यह निश्चित नहीं था। द्वादशी का पारणा करना आवश्यक था अन्यथा व्रत-भंग होता और उधर अतिथि को खिलाये बिना खाने से भी महान् दोष का भागी बनना पड़ता।

अतएव राजा ने केवल गङ्गाजल से आचमन करके व्रत की रक्षा की और भोजन नहीं किया क्योंकि अतिथि लौटे नहीं थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी समझ से दोनों ही अपराधों से बचाव किया।

किन्तु दुर्वासा ऋषि जब लौटे तो उन्होंने राजा के गङ्गाजल से आचमन करने को जान लिया और उसके कारण ही क्रोध से आगबबूला हो गये। साथ ही दुर्वासा ऋषि तो ठहरे अतः क्रोध करके भी शान्त नहीं हुए, अपितु उन्होंने अपनी जटाओं में से एक जटा उखाड़ ली और उससे राजा को भस्म करने के लिए कृत्या उत्पन्न कर दी।

राजा अम्बरीष दुर्वासा के क्रोध पर और उनके कृत्या उत्पन्न करने पर भी निर्भय और बिना हिले-डुले शान्त भाव से वहीं खड़े रहे। वे प्रत्येक परिणाम के लिए तैयार थे और निकट ही था कि दुर्वासा ऋषि की जटा से उत्पन्न कृत्या उन्हें नष्ट कर देती, भगवान के उनकी रक्षा के लिए नियत किये हुए चक्र ने उनकी रक्षा की। चक्र ने कृत्या को तो नष्ट किया ही साथ ही वह दुर्वासा के पीछे पड़ गया। उनके लिए लेने के देने पड़ गये। अपनी प्राणरक्षा के लिए वे भागे पर उनके पीछे-पीछे चक्र भी चला।

भागते-भागते ऋषिराज ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी के पास शरण लेने पहुँचे पर उन्होंने टका-सा उत्तर दे दिया—“यहाँ जगह नहीं है आपके लिए।” कैलाश पर्वत पर शंकरजी के पास जाने पर उन्होंने भी रूक्षभाव से कहा—“मैं असमर्थ हूँ आपको बचाने में।” अब दुर्वासाजी के देवता कूच कर गये पर उसी समय नारदजी ने प्रकट होकर उन्हें स्वयं नारायण भगवान के पास भेजा। पर चक्र के अधिकारी नारायण भगवान भी उन्हें संकट से प्राण नहीं दिला सके और बोले—

“ऋषिराज मैं तो स्वयं ही भक्तों के आधीन हूँ अतः आप पुनः राजा अम्बरीष के पास ही जाइये, अगर आपको अपना बचाव करना है तो।”



अब दुर्वासाजी को अपनी रक्षा की कोई सूरत नहीं दिखाई दी और इधर चक्र की ज्वाला उनके शरीर को जलाये दे रही थी। अतः वे विवश होकर पुनः महाराज अम्बरीष के पास आये और उनके पैरों पर गिर पड़े।

अम्बरीष यह देखकर महान् दुःख से भर गये एवं उसी क्षण उन्होंने ऋषि को उठाकर अपने आपको ब्राह्मण एवं अतिथि के पैर छूये जाने पर लगने वाले पाप से बचाया तथा हाथ जोड़कर अत्यन्त विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की—“भगवान नारायण अगर मुझ से तनिक भी सन्तुष्ट हों और मेरा कुल सदा से ब्राह्मणों का मक्त रहा हो तो महर्षि दुर्वासा चक्रोत्पन्न ताप से पूर्णतया रहित हो जायें।”

अम्बरीष के यह प्रार्थना करते ही चक्र ताप-रहित हो गया और दुर्वासा ऋषि संकट से मुक्त हो गये। पर इन सब घटनाओं के घटते हुए एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया था। इस बीच राजा अम्बरीष ने भोजन नहीं किया था, क्योंकि वे अपने अतिथि को भोजन नहीं करा सके थे। अब जब दुर्वासाजी एक वर्ष बाद लौटे तो उन्होंने एक वर्ष तक जल के ऊपर निर्वाह करने के पश्चात् उस दिन परम प्रसन्नता एवं नम्र वचनों से स्वयं सामने बैठकर अतिथि को भोजन कराया और फिर स्वयं अन्न ग्रहण किया।

इसे कहते हैं अतिथि-सत्कार एवं प्रीति-युक्त अन्न-दान। अतिथि को भोजन न करा पाने के कारण एक वर्ष तक केवल जल पीकर उनकी प्रतीक्षा करना क्या साधारण व्यक्तियों का कार्य है ?

आज तो देखा जाता है कि शहर में ठहरे हुए सन्त-मुनिराजों की प्रतीक्षा भी लोग दस-पचास मिनट के लिए भी नहीं करते। इतना ही नहीं, अगर उनके भोजन करते समय सन्त घर पर मिक्षा के लिए पहुँच जायें तो वे उठकर खड़े होना भी पसन्द नहीं करते, अपने हाथ से भावना पूर्वक आहार देना तो दूर की बात है। साथ ही साधु-साध्वी को आहार देना ऐसे व्यक्तियों के घरों में नौकर-चाकरों के जिम्मे होता है और उन्हें स्वयं यह देखने का समय नहीं होता कि सन्तों ने आहार लिया है या नहीं ?

वे यह भी विचार नहीं करते कि शुद्ध हृदय से एवं आन्तरिक भावना-पूर्वक दिया हुआ आहारदान कितने महान् फल की प्राप्ति कराता है। और किसी कारण से अगर सन्त-मुनिराज बिना आहार लिये लौट जायें तो सद्गृहस्थ को जो असह्य पश्चात्ताप होता है वह भी देवगति के बन्ध का कारण बनता है।

‘पंचतन्त्र’ में कहा गया है—

ग्रासादर्धमपि ग्रासमर्थिभ्यः किं न दीयते ?

मनुष्य के लिए कहा गया है कि अगर तुम अधिक दान नहीं दे सकते तो

अपने भोजन में से ही आधा या कुछ ग्रास ही जिसे आवश्यकता है उसे क्यों नहीं देते ? क्योंकि—

‘अन्नदानात् परं नास्ति ।’

यानी सभी दानों से श्रेष्ठ अन्न-दान होता है, उसका मुकाबला कोई अन्य दान नहीं कर सकता ।

बन्धुओ, प्रसंगवश मैंने आहारदान के विषय में बताया है। वैसे सभी दान महान पुण्य के कारण बनते हैं बशर्ते कि वे अत्यन्त प्रेम की भावना से दिये जायें। करुणा, सहानुभूति एवं स्नेहभाव के अभाव में हृदय में रूक्षता रहती है और उस स्थिति में दान आन्तरिक मधुरता के द्वारा नहीं दिया जा सकता ।

कबीर जी ने अपने एक दोहे में कहा भी है—

जा घर प्रेम न संचरे, सो घर जान मसान ।

जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्राण ॥

दोहे में स्नेह का बड़ा भारी महत्व बताया गया है। इसमें प्रेम-शून्य हृदय को श्मशान की तुलना में रखा है। हमारा धर्म संसार के समस्त प्राणियों पर प्रेम रखना सिखाता है। और ऐसा होने पर ही व्यक्ति एक दूसरे की सहायता करता है, सेवा करता है और अभावग्रस्त व्यक्तियों के अभाव की पूर्ति करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है। प्रेम के न होने पर यह सब सम्भव भी कैसे हो सकता है ?

सन्त कबीर ने प्रेम-रहित हृदय को लुहार की धोंकनी के समान बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार वह निर्जीव मशीन के समान चलती रहती है। उसी प्रकार अगर व्यक्ति के हृदय में स्नेह का निर्झर प्रवाहित न होता हो तो उसका हृदय केवल धोंकनी के समान ही साँस लेता है तथा जीवन को बनाए रखता है। किन्तु वह किसी का उत्साह, उमंग एवं प्रेम से मला नहीं कर पाता। अगर वह कुछ करता भी है तो अपनी प्रतिष्ठा बनाने और दिखावा करने के लिए। पर उत्तम भावना के अभाव में उसका किया हुआ उत्तम कार्य क्या शुभ फल प्रदान कर सकता है ? कुछ भी नहीं। इसीलिए विमलगणी जी आचार्य ने अपने श्लोक में कहा है कि मधुर भावनाओं और प्रिय वचनों के साथ दान दो ।

## २. ज्ञान का गर्व न होना

प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति थोड़ा-सा भी लिख-पढ़ लेता है तो वह अपने आपको बड़ा चतुर और योग्य समझने लगता है। और तो और, अपने माता-पिता को भी वह अपने से हीन मानने लगता है, फिर औरों की तो बात ही क्या है ?

वह भूल जाता है कि अहंकार मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। जिसके हृदय में भी यह पनप जाता है उसे अवश्यमेव पतन की ओर ले जाता है तथा जन्म-जन्मा-

न्तर के दुःख का कारण बनता है। अहंकारी पुरुष इस जन्म में भी अपयश का भागी बनता है और मर जाने पर भी सदा कलंकित के रूप में संसार के द्वारा स्मरण किया जाता है।

एक अंग्रेजी की कहावत में भी यही कहा गया है—

“Pride goes before, and shame follows after.”

पहले गर्व चलता है, उसके बाद कलंक आता है।

रावण कम ज्ञानी नहीं था, अपने ज्ञान के बल पर ही उसने अनेक सिद्धियाँ हासिल की थीं किन्तु ज्ञान का, शक्ति का और दौलत का गर्व उसे पतन की ओर ले गया तथा सदा के लिए ले डूबा। आज भी लोग दशहरे पर रावण का पुतला बनाकर जलाते हैं और उस पर थूकते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि गर्व व्यक्ति को किसी भी बात का नहीं होना चाहिए। हमारे धर्मग्रन्थ अभिमान के आठ कारण बतलाते हैं, जिन पर व्यक्ति अहंकार करता है और उनमें से एक, दो या जितने भी कारणों पर वह घमण्ड करता है, वे कारण उसे ले डूबते हैं।

योगशास्त्र में बताया गया है—

जाति-लाम-कुलेश्वर्य-बल-रूप-तपः-श्रुतैः।

कुर्वन् मदं पुनस्तानि, हीनानि लभते जनः ॥

अर्थात् जाति, लाम, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप एवं ज्ञान का मद करता हुआ जीव भवान्तर में हीन जाति आदि को प्राप्त करता है।

और इसके विपरीत—

समणस्स जणस्स पिओ णरो,

अमाणो सदा हवदि लोए।

णाणं जसं च अत्थं,

लभदि सकज्जं च साहेदि ॥

—भगवती आराधना १३७६

निरभिमानी मनुष्य जन और स्वजन सभी को सदा प्रिय लगता है। वह ज्ञान, यश और सम्पत्ति प्राप्त करता है तथा अपना प्रत्येक कार्य सिद्ध कर सकता है।

मान मोहनीय कार्य के उदय से होता है तथा जाति, कुल एवं ज्ञान आदि का अहंकार करना आत्मा का विभाव परिणाम कहलाता है। इसके कारण जन्म-मरणरूप संसार की वृद्धि होती है और इस लोक में भी अहंकारी पुरुष लोगों का सम्माननीय नहीं बनता। अभिमानी व्यक्ति अपने रत्तीभर गुण को सुमेरु के बराबर

मानता है और अन्य व्यक्तियों के महान गुणों को भी न कुछ के समान समझता है। अगर उसे थोड़ा-सा भी ज्ञान हासिल हो जाय तो उसका उपयोग औरों से वाद-विवाद करने में तथा कुतर्कों के द्वारा दूसरों को चुप करने में करता है। किन्तु ऐसा करने से ज्ञानी जनों की तो कोई हानि नहीं होती, उलटे उसका ज्ञान ही निष्फल जाता है—

**‘विद्या स्तब्धस्य निष्फला ।’**

यह भगवद्गीता की उक्ति है कि दुराग्रही और अमिमानी की विद्या सर्वथा फलहीन हो जाती है।

कहने का आशय यही है कि किसी भी व्यक्ति को अपने ज्ञान का रंच-मात्र भी गर्व नहीं होना चाहिए। साथ ही उसे अपने ज्ञान को कंजूस के धन की भाँति गोपनीय भी नहीं रखना चाहिए अपितु जितना भी उसे ज्ञान हासिल हुआ हो उसे औरों को अत्यन्त स्नेह एवं निःस्वार्थ भाव से प्रदान करना चाहिए।

प्राचीनकाल में विद्वान् आचार्य शहर से बाहर वनों में अपने आश्रम बनाकर रहते थे तथा जो भी छात्र ज्ञान-प्राप्ति के हेतु उनके पास आते थे, उन्हें बिना अर्थ-लालसा के अपने समान ही ज्ञानी बनाने का प्रयत्न करते थे। इसी का सुफल होता था कि वे अपना परिचय ही अपने ज्ञानदाता गुरुओं के नाम से देते थे। अमुक गुरु ने मुझे ज्ञान-दान दिया है, यह बताने में वे बड़ा गौरव और हर्ष का अनुभव करते थे। अपनी विद्वत्ता और अपने ज्ञान का उन्हें रंच-मात्र भी गर्व नहीं होता था। इसी-लिए उन व्यक्तियों का ज्ञान गम्भीर और गहन बनता था तथा यश की प्राप्ति कराता था। आज भी ऐसे महापुरुषों की कमी नहीं है जो अपनी विद्वत्ता की प्रशंसा सुनना कतई पसन्द नहीं करते।

**निरभिमानी सन्त विनोबा भावे**

कहते हैं कि एक बार सन्त विनोबा भावे अपने आश्रम में छात्रों को किसी विषय पर कुछ समझा रहे थे कि एक व्यक्ति ने उन्हें महात्मा गाँधी की ओर से लाया हुआ पत्र उनके हाथ में थमाया।

विनोबा जी ने पत्र लिया, उसे खोलकर पढ़ा और उसी समय उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उनके छात्रों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पत्र के विषय में बड़े आग्रह से पूछा। विनोबा जी ने उत्तर दिया—“पत्र महात्मा जी का था, किन्तु उन्होंने इसमें गलत बात लिखी थी अतः मैंने इसे फाड़ दिया।”

छात्र बोले—“गुरुदेव ! यह कैसे हो सकता है ? महात्मा गाँधी भला झूठी बात कभी लिख सकते हैं ? कृपया हमें बताइये कि क्या बात इसमें थी ?”

छात्रों की जिज्ञासा के कारण विनोबा जी ने उन्हें बताया—“इस पत्र में महात्मा गांधी जी ने लिखा था कि ऐसी ज्ञानवान और महान् आत्मा मेरे देखने में नहीं आई। उनकी यह बात झूठ है। दुनिया में बहुत से मनुष्य और स्वयं गांधी जी भी मुझसे महान् तथा श्रेष्ठ हैं। इसके अलावा यह पत्र अगर मेरे पास रहता तो मुझे अपने आप के लिए गर्व का अनुभव होता और मेरी अवनति का कारण बनता। गर्व सदा उन्नति में बाधक होता है अतः त्याज्य है। यही कारण है कि मैंने इस पत्र को फाड़ दिया और अपने पास रखना उचित नहीं समझा।”

इसी प्रकार जब विनोबा जी बनारस में संस्कृत का अध्ययन कर रहे थे तो उन्हें कई प्रमाण-पत्र उनकी प्रशंसा से भरे हुए मिले। किन्तु एक दिन उन्होंने उन सबको इकट्ठा करके गंगाजी को समर्पित कर दिया। केवल यही विचार करके कि इनके कारण कहीं मुझमें अभिमान न जाग जाय।

सन्त विनोबा जी के जीवन के इन संस्मरणों से सहज ही प्रगट होता है कि महापुरुष कभी अपने ज्ञान का गर्व नहीं करते, उसे अपने तक ही सीमित नहीं रखते तथा निःस्वार्थ भाव से उसे ज्ञान-पिपासुओं को प्रदान करते हैं।

### ३. क्षमान्वितं शौर्यं

यह श्लोक में बताई हुई तीसरी बात है। इसका अर्थ है—शूरवीरता तथा सामर्थ्य होते हुए भी क्षमा धारण करना। जो व्यक्ति निर्बल और शक्तिहीन होता है वह तो किसी के द्वारा अपमानित होकर अथवा मारा-पीटा जाकर भी चुप हो जाता है, कोई प्रतिकार नहीं करता। क्योंकि उसमें बदला लेने की शक्ति ही नहीं होती। ऐसा व्यक्ति अगर यह कहे कि मैंने अपने आततायी को क्षमा कर दिया, तो उसकी क्षमा कोई महत्व नहीं रखती।

किन्तु बदला लेने की शक्ति होते हुए भी जो शूरवीर अपने शत्रु को अथवा अपना अपमान करने वाले को क्षमा कर देते हैं, वे ही क्षमा-धर्म के अधिकारी कहलाते हैं।

### भस्म कर देने के बजाय सेवा की

एक सन्त बड़े तपस्वी थे। घोर तपस्या के बल पर उन्हें अनेक सिद्धियाँ हासिल हो गई थीं। वे चाहते तो बात की बात में किसी को भी भस्म कर सकते थे। किन्तु वे सच्चे संत थे और संत का स्वभाव क्षमामय एवं कृणामय होता है।

एक बार वे धूमते-धामते हुए कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक जंगल आया। जब वे जंगल में से गुजर रहे थे, एक दुष्ट व्यक्ति ने उन्हें देखा। उस व्यक्ति को साधु-संतों से बड़ी चिढ़ थी अतः उन्हें देखते ही वह गुस्से से भर गया और बोला—“मैं यहाँ रहता हूँ, फिर भी तूने यहाँ आने की हिम्मत कैसे की?”

“माई ! मैं तो साधु हूँ रमता राम । कहीं भी और किधर भी चला जाता हूँ । पर अगर तुम्हें मेरा यहाँ आना पसन्द नहीं आया तो अभी चला जाता हूँ ।” संत ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया ।

पर दुष्ट अपनी दुष्टता से बाज कैसे आता ? वह और भी आगबबूला होता हुआ एक पत्थर उठाकर संत को मारने दौड़ा और चिल्लाया—“एक तो अपने बाप का राज्य समझकर सीधा यहाँ चला आया और ऊपर से जबान लड़ाता है । बोल यहाँ आया ही क्यों ?” कहते हुए उस क्रूर व्यक्ति ने पत्थर उठा-उठाकर संत को मारना प्रारम्भ कर दिया ।

संत के शरीर पर बहुत चोटें लगीं और सम्पूर्ण शरीर से रक्त बहने लगा । किन्तु उन्होंने उस व्यक्ति से कुछ नहीं कहा और धीरे-धीरे वहाँ से उठकर चल दिये ।

कुछ दिनों बाद वे संत उस घटना को भूल गए और फिर उसी जंगल में आ निकले । जब वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ कि कुछ समय पूर्व उन्हें दुष्ट व्यक्ति ने पत्थरों से मारा था तो उन्हें उसकी याद आ गई । वे विचार करने लगे कि आज वह कहाँ होगा ? दिखाई तो नहीं दिया, कहीं बीमार न हो गया हो ।

वे उसे खोजते हुए व्यक्ति की झोपड़ी के समीप आ गए और अन्दर घुस गये । अन्दर जाकर उन्होंने देखा कि उनकी आशंका सही थी । वह व्यक्ति खाट पर बेसुध पड़ा था । तीव्र ज्वर उसे हो रहा था ।

संत करुणा से भर गये और उसी क्षण से उसकी सेवा-शुश्रूषा में लग गये । जब व्यक्ति का ज्वर कुछ कम हुआ और उसने अपनी आँखें खोलीं तो देखा कि वही संत जिन्हें उसने मारा था उनकी सेवा में लगे हुए हैं ।

व्यक्ति ने चौक कर क्षीण स्वर में कहा—

“आप ? मेरी सेवा कर रहे हैं ?”

“हाँ, पर तुम्हें तीव्र ज्वर है बेटा ! तुम चुपचाप लेटे रहो, अशक्त बहुत हो गये हो । लो यह दूध पी लो ।”

दुष्ट व्यक्ति कुछ बोल नहीं सका पर उसकी आँखों से पश्चात्ताप के आँसू बह निकले । वह विचार करने लगा—“धन्य हैं यह संत, मैंने इन्हें मारा था और अगर ये चाहते तो मुझे श्राप देकर उसी समय भस्मीभूत कर सकते थे । किन्तु इन्होंने वैसा नहीं किया और मुझे क्षमा कर दिया । ऊपर से आज मेरी सेवा में लगे हुए हैं ।”

तो बन्धुओं ! क्षमा ऐसी ही होनी चाहिये कि अपराधी को दंड देने की क्षमता होते हुए भी उसे क्षमा कर दिया जाय । आपने अनेक स्थानों पर पढ़ा और सुना होगा कि भगवान विष्णु को भृगु ऋषि ने लात मारी थी । क्या वे चाहते तो

उन्हें दंड नहीं दे सकते थे ? पर नहीं, दंड देने के बजाय उन्होंने ऋषि के चरण पकड़ कर पूछा—“ऋषिराज ! आपको चोट तो नहीं आई ?”

इसी प्रसंग को लेकर कहा गया है—

“कहा विष्णु को घटि गयो, जो भृगु मारी सात ।”

अभिप्राय यही है कि बुराई का बदला बुराई से देने वाला व्यक्ति कभी महान् नहीं कहलाता अपितु बुराई के बदले भलाई करने वाला और शक्तिशाली होने पर भी क्षमा कर सकने वाला व्यक्ति ही महत्ता को प्राप्त करता है ।

इसीलिये श्लोक में कहा गया है कि शौर्य के साथ अगर क्षमा का गुण भी हो तो व्यक्ति के चारित्र में चार चाँद लग जाते हैं ।

#### ४. वित्तं त्यागनियुक्तं

यह बात श्लोक में चौथे नम्बर पर दी गई है । प्रत्येक व्यक्ति को इसे समझ कर जीवन में उतारना चाहिए तथा अपने जीवन को संतोषमय एवं निःस्वार्थी बनाना चाहिए ।

कवि ने कहा है कि धन को त्यागयुक्त होना चाहिए अर्थात् धन को प्राप्ति होने पर उसे परोपकार एवं दानादि कार्यों में खर्च करना चाहिए ।

श्लोक में पहली बात बताई थी कि दान प्रिय शब्दों के साथ दिया जाना चाहिए और अब चौथी बात यह बताई जा रही है कि धन की वृद्धि होने के साथ ही साथ व्यक्ति के हृदय में उसके त्याग की भावना भी उत्तरोत्तर बढ़ती जानी चाहिए । कंजूस बनकर धन इकट्ठा करने से आखिर व्यक्ति को क्या लाभ हो सकता है ? क्योंकि अन्त में तो मृत्यु से सामना होते ही वह छोड़ना पड़ता है, इससे यही अच्छा है कि उस धन से औरों का परोपकार करके पुण्य रूपी पूँजी को साथ ले लिया जाय । जड़ द्रव्य आत्मा के साथ नहीं आता पर पुण्य-कर्म साथ चलते हैं ।

इसके अलावा मानवता के नाते भी व्यक्तियों का कर्तव्य है कि वे एक-दूसरे की जिस प्रकार भी बने तन, मन या धन से सहायता करें । ऐसा न करना निर्दयता एवं क्रूरता का द्योतक है । भगवान् के सच्चे भक्त तो संसार के समस्त जीवों को परमात्मा का ही अंश मानते हैं । किसी भी अन्य प्राणी को दुःख हो तो उन्हें महान् पीड़ा का अनुभव होता है । संत ज्ञानेश्वर ऐसे ही महापुरुष थे ।

#### संत का एकात्मभाव

एक बार वे पैठण के शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों से शुद्धिपत्र लेने के लिए आलन्दी से पैदल यात्रा करके गये ।

ज्ञानेश्वर जी पैठण पहुँचे और उनके साथ ही उनकी अन्य जीवों के प्रति एकात्म-भावना की प्रशंसा भी पहुँच गई । सभी स्थानों पर अच्छे और बुरे व्यक्ति

पाये जाते हैं। पैठण में भी एक व्यक्ति उनकी प्रशंसा से जल उठा। वह संत ज्ञानेश्वर को चिढ़ाने के लिए एक भैंसा पकड़ लाया और बोला—“इस भैंसे का नाम भी ज्ञान-देव है।”

ज्ञानेश्वर ने देखा, उनके चारों ओर अनेक ब्राह्मण एवं अन्य व्यक्ति तमाशा देखने के लिये खड़े हुए थे। ज्ञानदेव इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए और गम्भीरता पूर्वक बोले—

“आप सत्य कह रहे हैं भैंसे में और हममें अन्तर ही क्या है? केवल नाम और रूप कल्पित हैं, किन्तु आत्मतत्त्व तो एक ही है।”

दुष्ट व्यक्ति यह सुनकर और भी क्रोधित हुआ और कह उठा—“अच्छा यह बात है तो लो!” कहने के साथ ही उसने भैंसे को सड़ासड़ कई चाबुक मार दिये।

किन्तु उन समस्त तमाशाबीनों की आँखें फटी की फटी रह गईं जब उन्होंने देखा कि चाबुक तो भैंसे की पीठ पर पड़े हैं, किन्तु उसके निशान लकीरों के रूप में ज्ञानदेव के शरीर पर पड़ गए हैं तथा उनसे खून छलछला रहा है।

भैंसे को चाबुक मारने वाला व्यक्ति भी यह दृश्य देखकर चकरा गया तथा संत ज्ञानेश्वर की एकात्म-भावना का कायल होकर पश्चात्ताप करते हुए उनके चरणों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा।

ज्ञानेश्वर जी ने उसे तुरन्त उठाकर अपने हृदय से लगाया और कहा—“भाई तुम भी तो ज्ञानदेव हो। क्षमा कौन किसे करेगा?”

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जो महान् आत्माएँ होती हैं वे अपने समान ही औरों को समझती हैं तथा औरों के दुःख-दर्द से स्वयं दुखी होती हैं। साथ ही जब दूसरों के दुःख को वे अपना दुःख मानती हैं तो तन, मन और धन से उसका प्रतिकार करने के लिए प्रस्तुत रहती हैं।

तो हमारा विषय यही चल रहा है कि धन त्याग-युक्त होना चाहिए। अर्थात् जहाँ और जिसको भी उसकी आवश्यकता हो वहाँ उसे खर्च करने के लिए व्यक्ति को तत्पर रहना चाहिए। इतना ही नहीं, धनी मनुष्य का तो यह कर्तव्य है कि उसके पास अगर धन अधिक हो जाय तो वह अभावग्रस्त प्राणियों की खोज करे और उनका अभाव अबिलम्ब दूर करे। अन्यथा धन का तो नाश होना ही है, और न भी हुआ तो उसे मृत्यु का आगमन होते ही छोड़ना है।

मिश्र देश में कारुं नामक एक महान् धनी राजा हुआ है, जिसके उदाहरण स्वरूप अगर किसी को अचानक बहुत धन प्राप्त होता है तो लोग कहते हैं—“अमुक व्यक्ति को कारुं का खजाना मिल गया है।”



तो कहा जाता है कि कारुं का खजाना इतना विशाल था कि उसके धन का अन्दाजा ही नहीं लगाया जा सकता था। किन्तु एक बार उसके देश में भयानक अकाल पड़ा और लोग मूख से छूटपटा कर मरने लगे। सैकड़ों व्यक्ति अपने राजा कारुं के पास भी अन्न की याचना करने गये, किन्तु उसने किसी को न तो पैसा ही दिया और न अन्न। पर कुछ समय पश्चात् मिश्र की नदी में ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि उसका सम्पूर्ण धन यानी खजाना बह गया। ऐसा धन किस काम का ? शास्त्रकार कहते भी हैं—

“अभोगस्य हतं धनम् ।”

अर्थात् धनवान होने पर भी जिसने अपने धन का उपयोग नहीं किया है, उसका धन निर्धन की स्थिति के समान विनष्ट रूप ही है।

वस्तुतः धन को त्यागने की इच्छा न रखने वाला व्यक्ति उससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। वह जीवन भर उसे इकट्ठा करने का प्रयत्न करता हुआ नाना कष्ट उठाता है और अन्त में यहीं छोड़कर चल देता है।

कवि बार्जिद का कथन है—

मन्दिर माल बिलास खजाना मेड़ियाँ ।  
राज भोग सुख साज औ चंचल चेड़ियाँ ॥  
रहता पास खवास हमेस हुजूर में ।  
ऐसे लाख असंख्य गये मिल धूर में ॥

पद्य का अर्थ स्पष्ट और सरल है कि इस पृथ्वी पर असंख्य व्यक्ति ऐसे हुए हैं, जिनके पास महल-मकान, खजाने, राज्य, दास-दासियाँ और अनेक प्रकार के सुख के साधन मौजूद रहे हैं। किन्तु मृत्यु के आ जाने पर वे ही व्यक्ति धूल में मिलकर अपना नामोनिशान ही खो चुके हैं।

इसलिए बन्धुओ ! हमारा बार-बार यही कहना है कि पूर्वकृत पुण्य से आपको जो धन मिला है उसका सदुपयोग करो। संतों को आपसे कुछ लेना नहीं है पर वे आपको लाभ का मार्ग बताते हैं और वह यही है कि यहाँ पर ही छूट जाने वाले जड़ पदार्थों का त्याग करके आत्मा के साथ चलकर उसे कष्टों से बचाने वाले शुभ-कर्मों का संचय करो। दूसरे, धन का दान करने से उसमें कभी कमी नहीं आती। हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं—“पात्रेऽनन्तगुणं भवेत् ।”

यानी सुपात्र को दिया हुआ दान अनन्त गुना फलदायक होता है। सारांश यही है कि धन का सदुपयोग उसका त्याग करने में अर्थात् दान देने में है। महापुरुष धन की तीन गति बताते हैं—

“दानं भोगो नाश स्तिष्ठो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।”

धन की पहली गति है दान देना, दूसरी उसका भोग करना और अगर ये दोनों नहीं किये गये तो तीसरी गति उसका नाश होना है। इसलिए आवश्यकता से अधिक धन होने पर परोपकार एवं दानादि के द्वारा उसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

आप जानते ही हैं कि तालाबों में चारों ओर से पानी आया करता है। किन्तु उनमें भी एक-एक मोरी बनी हुई होती है यानी बाँध पर एक ऐसा स्थान रखा जाता है जहाँ से अगर तालाब में अधिक पानी आ जाय तो निकाला जा सके। अगर ऐसा नहीं किया जाय तो तालाब फूट जाता है और धन-जन की अपार हानि होती है। इसके अलावा तारीफ की बात तो यह है कि मोरी के द्वारा अधिक बढ़ जाने वाला पानी निकालते रहने पर न तो तालाब को ही नुकसान होता है और न ही लोगों को हानि पहुँचती है।

ठीक यही हाल धन का है। उसके अधिक हो जाने पर अगर दान रूपी मोरी के द्वारा व्यक्ति उसे निकालता रहे तो उसका तनिक भी नुकसान नहीं होता और अन्य व्यक्तियों को भारी लाभ हो जाता है। धन का त्याग करने से कभी घाटा नहीं होता उल्टे अनेक प्रकार से नफा ही होता है।

तो बन्धुओ, श्लोक में कहा गया है कि मधुर वचनों के साथ दान देना, ज्ञान का गर्व न होना, शौर्य होते हुए भी क्षमा-भाव का विद्यमान रहना और धन के साथ त्याग की भावना का जुड़ा रहना, ये चारों बातें मिलना बड़ा कठिन होता है। किन्तु जो भव्य-पुरुष इन्हें जीवन में उतार लेते हैं, वे अपना यह लोक तो उत्तम बनाते ही हैं, परलोक भी सुधार लेते हैं। अर्थात् इस जीवन में भी वे यशस्वी बनते हैं और अगले जन्म में भी अनेकानेक दुःखों से बच जाते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को ये महान् गुण अपनाने चाहिए और आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होना चाहिए।



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आपने अन्तगढ़ सूत्र में अनेक महान् सन्तों और सतियों के विषय में सुना है। उनका वर्णन शास्त्र में इसलिए नहीं किया गया है कि वे पूर्वावस्था में राजा या राजकुमार थे अथवा राजकुमारियाँ या रानियाँ थीं, बरन् इसलिए शास्त्र उनकी गुण-गाथा गाता है कि उन्होंने आत्मा को संसार-मुक्त करने की उत्कृष्ट करनी की थी। उन्होंने धर्म को समझा, उसे जीवनसात् किया और घोर परिषहों तथा उपसर्गों के आने पर भी उसे छोड़ा नहीं। उन महान् आत्माओं ने प्राणत्याग करना स्वीकार किया किन्तु धर्म का त्याग करने की कल्पना भी नहीं की। इसीलिए उन्होंने देवत्व और उससे भी ऊपर उठकर मुक्ति को हासिल किया।

विचार आता है कि धर्म में ऐसा क्या है, जिसे रखने के लिए भव्य प्राणी अपना सर्वस्व और अन्त में प्राणों का भी विसर्जन कर देता है। एक श्लोक में इस बात को समझाया है—

संकल्प्य कल्पवृक्षस्य, चिन्त्यं चिन्तामणेरपि ।  
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्माववाप्यते ॥

—आत्मानुशासन, २२

अर्थात् कल्पवृक्ष से संकल्प किया हुआ और चिन्तामणि से चिन्तन किया हुआ पदार्थ प्राप्त होता है, किन्तु धर्म से असंकल्प्य एवं अचिन्त्य फल मिलता है।

इसीलिये मुमुक्षु प्राणी ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-रूपी धर्म का भर जाने पर भी त्याग नहीं करते। धर्म का आराधन करने पर ही व्यक्ति इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख हासिल करता है तथा सदा के लिए संसार के दुखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

जो व्यक्ति धर्म को सच्चे अर्थों में ग्रहण कर लेते हैं, उनके लिए मुक्तकंठ से कहा जाता है—

“पुंसां शिरोमणीयन्ते, धर्मार्जनपराः नराः ।  
आध्यन्ते संपद्भिः लताभिरिव पादपाः ॥

जो व्यक्ति धर्मपरायण होता है वह मनुष्यों से सर्वश्रेष्ठ और मस्तक पर रखे जाने वाले मुकुट की मणि के समान बहुमूल्य माना जाता है। ऐसे धर्मात्मा व्यक्ति का सम्पत्ति आदि समस्त सांसारिक सुख-सुविधा की वस्तुएँ आश्रय ग्रहण करती हैं। अर्थात् धर्माचरण करने वाले व्यक्ति का लक्ष्मी भी वरण कर लेती है तथा उसके सहारे से इस प्रकार रहती है जैसे लताएँ वृक्षों के सहारे रहा करती हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म-रूपी कल्पवृक्ष के द्वारा सभी कुछ हासिल हो जाता है। हमारे धर्मग्रन्थ तो कहते हैं—

राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्वना नन्वनानां,  
रम्यं रूपं सरसकविताचानुरी सुस्वरत्वम् ।  
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,  
किन्तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ॥

—शान्तसुधारस-धर्मभावना

अर्थात्—विस्तृत राज्य, सुभग स्त्री, पुत्र-प्रपौत्र, सौन्दर्य, सरस कवित्वशक्ति, मधुरस्वर, आरोग्यता, गुणानुराग, सज्जनता एवं सद्बुद्धि आदि सभी कुछ धर्मरूपी कल्पवृक्ष के फल हैं। इस विषय में जिह्वा से कितना कहा जाय ?

तो बन्धुओ, ऐसे धर्म का आत्मसात् करने वाले नर-पुंगव, पुरुष-शिरोमणि कहलाते हैं तथा जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होकर सदा के लिए अमर हो जाते हैं। उन मुक्तात्माओं की कथाएँ ही आप सुन रहे हैं और हम सुना रहे हैं ताकि ऐसे आदर्श पुरुषों के गुणों को आप जानें, समझें और आचरण में उतारकर जीवन को निर्मल बनाएँ।

**एक का अंक**

हिन्दी के एक कवि ने कहा है—

रामनाम को अंक है, सब साधन हैं शून्य ।  
अंक गये कहु होत नहीं, अंक रहे दस गून ॥

पद्य में बड़े सरल और सुन्दर ढंग से कवि ने राम-नाम को एक का अंक बताया है। आप लोग हिसाब करते हैं तो एक पर बिदियाँ लगाते हुए रकम को क्रमशः दस गुनी बढ़ाते जाते हैं, किन्तु केवल एक के अंक को हटा दिया जाय तो बिदियाँ चाहे जितनी हों, सब व्यर्थ हो जाती हैं। स्पष्ट है कि एक का अंक होने पर ही उस पर लगाई हुई बिदियाँ सोने में सुगन्ध का काम करती हैं और उसके न होने पर निरर्थक चली जाती हैं।

कवि ने राम के नाम को भी एक का अंक बताया है तथा पूजा, भक्ति, सेवा आदि अन्य समस्त साधनों को बिदियों के समान कहा है। उनका कहना है कि

मनुष्य के हृदय में जब राम या भगवान के प्रति हृद आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास घर कर जाता है तो उसकी अन्य क्रियाएँ भी दस-दस गुना फल प्रदान करती जाती हैं। किन्तु अगर भगवान के प्रति ही प्रगाढ़ श्रद्धा न रही या कि विश्वास डोलता रहा तो भक्ति की अन्य क्रियाओं में सच्चाई नहीं आ सकती और वे दिखावा मात्र बनकर रह जाती हैं।

हम भी आपको यही कहते हैं कि भगवान की आज्ञानुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप-रूप धर्म की आराधना करना एक के अंक से समान है और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील, अपरिग्रह, क्षमा, दान, सेवा एवं परोपकार आदि समस्त उत्तम गुण और क्रियाएँ बिदियों के समान हैं जो कि धर्म के महत्त्व या फल को उत्तरोत्तर दस गुना बढ़ाते जाते हैं। पर आवश्यक यह है कि एक के अंक को स्थिर रखा जाय। अन्यथा बिना भावना के आपका दान-पुण्य या सामायिक-प्रतिक्रमण आदि सब कुछ करना एक के अंक से रहित बिदियों के समान निरर्थक चला जाएगा।

सज्जनो ! यह संसार मृग-मरीचिका के समान है। जिस प्रकार मृग चमकती हुई बालू-रेत को जलाशय समझकर उस ओर दौड़ता रहता है किन्तु उसे जल प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार मानव सांसारिक पदार्थों में सुख प्राप्ति की कामना से उनके लिए अर्हनिशि प्रयत्न करता रहता है पर उन्हें इकट्ठा करके भी वह सच्चा सुख कभी हासिल नहीं कर पाता और सदा व्याकुल बना रहता है।

### सच्चा सुख और शांति किसमें है ?

एक महात्माजी को वचनसिद्धि हासिल हो गई थी। एक बार धूमते-धूमते वे किसी शहर में जा पहुँचे। सिद्ध पुंख होने के कारण उनकी शोहरत शीघ्र ही शहर में फैल गई और अनेक व्यक्ति आकर उनसे इच्छित वर प्राप्त करने लगे।

एक दिन उनके पास चार व्यक्ति आए। महात्मा जी ने उनसे भी आने का कारण पूछा। इस पर पहले व्यक्ति ने कहा—“भगवन् ! जन्म से लेकर आज तक दरिद्रता की चक्की में पिस रहा हूँ। न कभी दोनों जून पेट भर दाना मिल पाया है और न तन ढकने के लिए पूरे वस्त्र। अतः कृपा करके आप मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि मेरे पास खूब धन हो जाय, किसी तरह की कमी न रहे।”

महात्मा जी उस व्यक्ति की प्रार्थना पर मुस्कराये और बोले—“तथास्तु, जाओ तुम्हें इच्छित धन मिल जायगा।” धन का इच्छुक व्यक्ति खुश होकर वहाँ से चल दिया।

अब दूसरे व्यक्ति की बारी आई। सन्त ने उससे आने का कारण जानना चाहा। अतः दूसरा व्यक्ति कहने लगा—“महाराज ! मेरे पास धन तो प्रचुर मात्रा में है पर सन्तान नहीं है। कृपा करके मुझे पुत्र-प्राप्ति का वर दीजिए।”

महात्मा जी ने उससे भी कह दिया—“तुम्हारी इच्छा पूरी हो जाएगी और तुम पुत्र प्राप्त कर लोगे।” व्यक्ति चला गया।

अब महात्मा जी ने तीसरे आगन्तुक की ओर निगाह फेरी। यह देखकर वह बोल पड़ा—“महात्मा ! मैं अपना अभाव आपसे किस प्रकार बताऊँ ? इस संसार में स्त्री के बिना तो कुछ सुख है ही नहीं, और मैं अब तक कुंवारा हूँ। मुझे आज तक पत्नी नहीं मिल सकी है अतः आप दया करके मुझे यही वर दीजिए कि मेरा विवाह हो जाय। बस, इसके अलावा मैं और कुछ भी नहीं चाहता। धन-वैभव की कामना मेरी नहीं है।”

सन्त ने स्त्री-सुख के अभिलाषी उस व्यक्ति को भी निराश नहीं किया और उसे वरदान दे दिया—“जाओ शीघ्र ही तुम्हारा विवाह हो जाएगा।” वह व्यक्ति भी परम हर्ष का अनुभव करता हुआ महात्मा जी के चरण छूकर चला गया।

अब वहाँ केवल एक व्यक्ति रह गया था। सन्त ने उसे भी स्नेह-दृष्टि से देखा और पूछा “माई तुम क्या चाहते हो ?”

वह व्यक्ति बोला—“भगवन् ! मैं तो संसार के झमेलों से परेशान हो गया हूँ, अतः मुझे तो ऐसा वरदान दीजिए कि मेरे हृदय में प्रभु के प्रति गहरी आस्था और मक्ति जाग्रत हो उठे।”

सन्त उसकी बात सुनकर तनिक चौंके, क्योंकि उनके पास सभी व्यक्ति सांसारिक सुखों के साधनों की इच्छा से आया करते थे। किन्तु यह व्यक्ति ऐसा था जो उनसे विपरीत माँग कर रहा था। वे प्रसन्न हुए और बोले—“माई ! तुम्हारी मनोकामना भी पूर्ण हो जाएगी।” व्यक्ति सहर्ष सन्त के चरणों में मस्तक झुकाकर धीरे-धीरे वहाँ से चला गया।

सन्त भी कुछ समय पश्चात् वह शहर छोड़कर अन्यत्र चले गये। पर काफी अर्से बाद वे पुनः उधर आ निकले और संयोग ऐसा बना कि उसी शहर के निवासी होने के कारण वे चारों व्यक्ति एक ही दिन उनके दर्शनार्थ आए।

सन्त ने उन्हें पहचान लिया और पहले व्यक्ति से पूछा—“बन्धु ! अब तो तुम धनीमानी दिखाई दे रहे हो। अपनी स्थिति से सन्तुष्ट हो न ?”

व्यक्ति उदास होकर बोला—“महाराज, पहले मैं मूर्खों भरता था, और आपकी कृपा से खूब धन हासिल हो गया पर एक ओर तो दुकानों और फैक्ट्रियों का काम इतना अधिक रहता है कि दिन-रात चैन नहीं मिलती, दूसरे दिन भर बैठे रहने से पेट खराब हो गया है अतः इच्छानुसार कुछ भी खा नहीं सकता। पालक की भाजी और रूखी रोटी खाकर रहना पड़ता है।”

पहले व्यक्ति की यह बात सुनते ही समीप बैठा हुआ दूसरा व्यक्ति बोल पड़ा—“भगवन् ! मैंने भी आपसे सन्तान-प्राप्ति के लिए वरदान माँगा था । उसके अनुसार पुत्र तो हो गये किन्तु सब कपूत और स्वार्थी हैं । न कोई मेरी बात मानता है और न ही इस वृद्धावस्था में मुझे एक गिलास पानी भी भर कर पिलाता है । दिन-रात पड़ा-पड़ा कराहता रहता हूँ, पर सेवा करना तो दूर, कोई पास भी नहीं फटकता । इसीलिए आप जैसे सन्त-महात्मा कहते हैं—

हरि बिन और न कोई अपना,  
हरि बिन और न कोई रे ।  
मात पिता सुत बन्धु कुटुम्ब सब,  
स्वारथ के ही होई रे ॥  
घर की नारि बहुत ही प्यारी,  
तन में नाहीं बोई रे ।  
जीवत कहती संग चलूंगी,  
डरपन लागी सोई रे ॥

वस्तुतः जीव का भला भगवान के अलावा और किसी से नहीं हो सकता । वही उसका अपना है । माता-पिता, पुत्र, एवं बन्धु-बान्धव तो सब स्वार्थ के सगे हैं । और तो और, जो स्त्री पति के जीवित रहने पर तो कहा करती है—“मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रहूँगी, साथ ही चलूँगी, वह भी पति को मृत देखकर डरने लगती है और भूत-भूत कहकर दूर चली जाती है ।

तो वचनसिद्ध सन्त के समक्ष उनसे वरदान प्राप्त करने वाला दूसरा व्यक्ति कहता है कि मेरे पुत्र हो गये पर सब स्वार्थी और कपूत हैं, मेरी फिक्र वे तनिक भी नहीं करते ।

अब तीसरे व्यक्ति का नम्बर आया जिसने स्त्री-प्राप्ति का वर सन्त से माँगा था । वह सन्त के सामने हाथ जोड़ता हुआ बोला—“महाराज ! आपकी कृपा से विवाह हो गया और स्त्री मिली । किन्तु अब तो मैं सोचता हूँ कि जिस प्रकार आधी जिन्दगी कूँवारा रहकर बिता दी थी, उसी प्रकार बाकी भी निकल जाती तो बहुत अच्छा रहता । क्योंकि स्त्री ऐसी कर्कशा मिल गई है कि हवा से लड़ पड़ती है । न सुख से कभी खाने देती है और न दो-घड़ी आराम से घर में बैठने ही देती है । मेरे पास अधिक धन नहीं है अतः प्रतिदिन अपने लिए कपड़े और गहने की माँग करती है तथा मेरे ला न सकने पर मुझे छोड़कर चले जाने की धमकी देती है ।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

उरग तुरंग नारी नृपति, नर नीचो हथियार ।  
तुलसी परखत रहब नित, इनहि न पलटत बार ॥

अर्थात्—सर्प, घोड़ा, स्त्री, राजा, नीच पुरुष एवं हथियार, इन्हें सदा परखते रहना चाहिए और इनकी तरफ से गाफिल नहीं रहना चाहिए; क्योंकि इन्हें पलटते देर नहीं लगती ।

“तो महाराज ! मेरा भी यही हाल है, यानी मेरी स्त्री भी मेरे धनाभाव के कारण पलट गई है और मैं बड़ा दुःखी हो गया हूँ ।”

सन्त अब क्या कहते ? धन, पुत्र और स्त्री-प्राप्ति के इच्छक व्यक्तियों को दुःखी देखकर उनका हृदय कष्ट से भर गया और उसी समय उनकी दृष्टि उस चौथे व्यक्ति पर जा पड़ी जिसने भगवान के प्रति आस्था और भक्ति की भाँग की थी । वह व्यक्ति शान्ति से बैठा था और उसके चेहरे पर आत्म-सन्तोष झलक रहा था । पर अपनी ओर सन्त की प्रश्नवाचक दृष्टि का अनुभव करने के कारण वह बोला—

“भगवन् ! मैं तो परम सुखी हूँ । जब तक सांसारिक बन्धनों में आसक्त था और धन-ऐश्वर्य की फिक्र में पड़ा रहता था, तब तक बड़ा परेशान और दुखी रहता था । किन्तु जब से उनकी ओर से मन हट गया और ईश्वर की भक्ति में रम गया हूँ तब से मुझे कोई दुःख नहीं है । परम सन्तोष का अनुभव करता हूँ । सोचता हूँ—मेरे समान और कोई भी सुखी नहीं है ।”

कहने का अभिप्राय यही है कि जो प्राणी संसार के क्षणिक और अवास्तविक सुखों की ओर से मुँह मोड़ लेता है, वह संसार में रहकर भी अपार सुख का अनुभव करता है और जो प्राणी संसार में सुख की खोज करता हुआ उसमें गृद्ध रहता है, वह दुःख का अनुभव करता है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

जन्मं दुःखं जरा दुःखं, रोगा य मरणाणि य ।

अहो दुःखो ह्यसंसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुवो ॥

—अध्ययन १६, गा० १६

अर्थात् संसार में जन्म का दुःख है, जरा, रोग और मरण का दुःख है । चारों ओर दुःख ही दुःख है । अतएव वहाँ प्राणी निरन्तर कष्ट ही पाते रहते हैं ।

इसीलिये सन्त-पुरुष भव-सागर में डूबते हुए प्राणियों को अपना बचाव करने के हेतु समझाते हैं तथा दान, शील, तप एवं भाव रूप धर्म की आराधना करने का उपदेश देते हैं । आप में से अधिकांश व्यक्ति सोचते होंगे कि पूजा-पाठादि क्रियाकाण्ड करने से और तपस्या करके शरीर को सुखाने से क्या लाभ है ?

हमारे यहाँ पुष्पऋषि जी और धन्नाऋषि जी एकान्तर तप कर रहे हैं तथा दक्षिण प्रान्त से चाँदा (अहमदनगर) वाले धर्मप्रेमी श्री कनकमल जी गांधी के साथ



जो पटेल जो आए हैं, वे आँखों से परतन्त्र होते हुए भी ग्यारह की तपश्चर्या, बेले और तेला कर चुके हैं। आपकी दृष्टि से तो सम्भवतः यह सब निरर्थक है, पर यह बात नहीं है। तप के बिना कर्मों की कमी निर्जरा नहीं होती और कष्ट सहन किये बिना तप नहीं हो सकता।

मराठी भाषा में कहा गया है—

घणाचे धाव सोसावे तेधवा देवपण पावे ।  
 खपूती नित्य दिन राती, लाबूनी नजर ध्येयांतीं,  
 उद्यमें सुयश जोडावे, तेधवा देवपण पावे ।

कवि के कहने का भाव यही है कि कष्टसहन करने पर ही शुभ फल प्राप्त होता है। वही जिस सोने के बने हुए जेवरों को पहनती हैं, उसे अग्नि में तपना पड़ता है, टाचियाँ सहनी होती हैं, तब कहीं जाकर वह देह पर धारण करने योग्य बनता है। इसी प्रकार पत्थर घनों के असंख्य धाव खाकर मूर्ति के रूप में आता है और लोग उसे देवमूर्ति मानकर पूजते हैं।

इन दृष्टान्तों को जानकर विचार आता है कि जड़ आभूषण और नकली देवमूर्ति बनने के लिए भी सोने और पत्थर को इतनी मार खानी पड़ती है तो असली देव बनने के लिए तो कितना कष्ट नहीं सहना पड़ेगा ?

आपने अन्तगढ़ सूत्र में जिन महान् संतों एवं महासतियों के विषय में सुना है, उन्होंने तप की आराधना करने के लिए अनेकानेक कष्ट सहन किये हैं तथा घोर उपसर्गों एवं परिषर्हों का सामना किया है। उनका शरीर अधिक से अधिक कमजोर ही नहीं हुआ था, अपितु कड़्यों का तां नष्ट भी हो गया था। किन्तु उनके हृदय में कभी कमजोरी नहीं आई और न ही उन्होंने साधना का मार्ग छोड़ा।

आत्मा के शत्रु, कर्मों का मुकाबला करने में वे महापुरुष शूरवीर साबित हुए। क्योंकि उनका लक्ष्य ही आत्मा को कर्म-मुक्त करने का रहा। इस सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य की ओर से वे कभी भी गाफिल नहीं रहे। उनका दृढ़ सिद्धान्त था—“कार्य वा साधयामि, देहं वा पातयामि।”

इस प्रकार अपने निर्धारित लक्ष्य को उन्होंने कभी अपनी नजरों से ओझल नहीं किया और निरन्तर उसकी तरफ अग्रसर होते रहे। इसी का शुभ फल प्राप्त करके वे जगतपूज्य बने तथा शाश्वत सुख के अधिकारी साबित हुए। कवि का कहना भी यही है कि मनुष्य को अपने जीवन के सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए सतत् उद्यम या पुष्पार्थ करना चाहिये तभी वह इस लोक में सुयश और परलोक में देवत्व को प्राप्त कर सकता है। आगे भी कहा है—

“स्वकर्मी गुंग असताना, भोगणें यातना नाना.  
प्रयत्न धीर न सोडावे, तेधवा देवपण पावे ।”

पद्य का आशय यही है कि धीर पुरुष जो भी कार्य हाथ में ले, उसे नाना प्रकार की यातनाएँ भोगने पर भी छोड़े नहीं और ऐसा करने पर ही वह अपने शुभ कर्मों के बल पर देवत्व को हासिल कर सकता है।

बन्धुओं, हम साथु हैं पर हमारे हाथ में भी कार्य हैं। वे कार्य हैं अपनी आत्मा को कर्म-रहित करने का प्रयत्न करना तथा अन्य प्राणियों को भी भगवान की आज्ञा के विषय में समझाते हुए सन्मार्ग पर लाना। आप श्रावक हैं और आपके समक्ष भी अनेक कर्तव्य हैं। जैसे—समाज की सेवा, दीन-दुखी एवं अमाव-ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता और उसके साथ ही श्रावक धर्म का पालन करते हुए आत्मा को उन्नत बनाना। देशभक्तों के सामने भी देश की रक्षा करते हुए अनेक कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है।

इस प्रकार पुरुषार्थी व्यक्तियों के समक्ष भिन्न-भिन्न कार्य रहते हैं और सभी कार्य अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। पर आवश्यकता केवल इसी बात की है कि हाथ में लिए हुए कार्य को प्रत्येक व्यक्ति उत्साह, सचाई एवं परिश्रम से करता चला जाय। यह तो निश्चित है कि उत्तम कार्य करने में अनेक विघ्न-बाधाएँ सामने आती हैं और दुर्जन व्यक्ति भी बीच-बीच में रोड़े अटकाए बिना नहीं रहते। वे न तो स्वयं ही कोई अच्छा कार्य करते हैं और न ही दूसरों को करने देते हैं।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में कहा है—

अकरुणत्वमकारणविग्रहः,

परधने परयोषिति च स्पृहा।

स्वजन बंधुजनेष्वसहिष्णुता,

प्रकृतिसिद्धमिव हि दुरात्मनाम् ॥

निर्दयता, अकारण बैर करना, दूसरे के धन और स्त्री की सर्वदा इच्छा करना, अपने परिवार और मित्रों की उन्नति न देख सकना, यह दुष्टों की स्वाभाविक आदत है।

कहने का आशय यही है कि आप लोग उत्तम कार्य करने का विचार करते हैं तथा समाज-सेवा का बीड़ा उठाते हैं; किन्तु दुर्जन व्यक्ति आपके अच्छे कार्यों की दूसरों के द्वारा सराहना अथवा प्रशंसा किया जाना भी सहन नहीं कर पाते अतः नाना प्रकार से आपके मार्ग में बाधक बनते हैं अथवा किसी न किसी प्रकार से कीचड़ उछालकर आपको बदनाम करने का प्रयत्न भी कर सकते हैं। पर हमारा आपसे यही कहना है कि जब आप अच्छे कार्य को प्रारम्भ कर दें और उसे सम्पन्न करने का

इरादा करें तो फिर किसी के द्वारा निन्दा, उपहास और अपशब्द सुनाये जाने पर भी उसे अधूरा न छोड़ें तथा जिस प्रकार शिवजी ने स्वयं गरलपान करके औरों को अमृत प्रदान किया था, उसी प्रकार आप भी निन्दा, बुराई आदि सभी को स्वयं सहन करके अपने पुरुषार्थ का शुभ फल समाज के अन्य व्यक्तियों को प्राप्त करने दें। ऐसा करने पर आप परलोक में तो क्या, इसी लोक में देवत्व हासिल कर लेंगे।

आगे कहा गया है—

आठवा पूर्व इतिहास, करावा सतत् अभ्यास ।

सनाने शुद्ध वतावे, तेघवा देवपण पावे ॥

कवि का कथन है कि व्यक्ति देवत्व तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि अपने मन को निर्दोष, निष्कलुष, सरल एवं शुद्ध बनावे। और मन शुद्ध तभी बन सकता है जब वह भगवान की आज्ञाओं का पालन करे तथा प्राचीन इतिहास पढ़कर पूर्व में हुए महान् संत एवं सतियों के जीवन-चरित्र पढ़कर उनके महान् गुणों को अपने जीवन में भी उतारे।

हमारे यहाँ कितने महान् संत तथा कौसी-कौसी महान् सतियां हुई हैं? सोलह सतियां, जिनके नाम आप प्रतिदिन लेते हैं, नारी जाति की होकर भी आठों कर्मों से मुकाबला करके विजयी बनी हैं। महासती चन्दनबाला, सुभद्रा, सीता आदि सभी ने अपने जीवन में अनेकानेक कष्ट सहे किन्तु प्राण देकर भी उन्होंने अपनी शील-रक्षा की तथा त्याग एवं तपस्यामय संयम मार्ग पर दृढ़ता से गमन करते हुए आत्म-कल्याण किया।

इसी प्रकार केवल साधु-साध्वी ही नहीं वरन् उस काल में ऐसे-ऐसे महान् श्रावक और श्राविकाएँ भी हुई हैं जो देवताओं के द्वारा चलायमान किये जाने पर भी अपने धर्म से विचलित नहीं हुए तथा पूर्ण दृढ़तापूर्वक उस पर अग्रसर होते रहे।

तो उन महान् आत्माओं को आदर्श मानकर हमें और आपको भी मनःशुद्धि करते हुए आत्मोन्नति के मार्ग पर बढ़ना है और यह प्रयास करते रहने पर ही सम्भव हो सकता है। हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि मन की शुद्धि होना बड़ा कठिन है या मुक्ति प्राप्त करना किस प्रकार सम्भव है? आप जानते हैं कि एक-एक बूंद पानी गिरकर भी पत्थर में छेद कर देता है और एक-एक चोट खाकर बड़े से बड़ा वृक्ष भी कट जाता है। तब फिर सतत प्रयत्न करने से हमारा मन क्यों नहीं शुद्ध हो सकता, और हमारे कर्मों का नाश क्यों नहीं किया जा सकता? आवश्यकता केवल इसी बात की है कि हम अपने मन में रहे हुए छोटे से छोटे और प्रत्येक दोष को मिटाने का प्रयत्न करें।

बन्धुओ ! आप प्रतिदिन शाम को अपनी बहियों में जमा-खर्च करते हैं तथा देने और लेने का हिसाब देखते हैं। उसके बाद महीने के अन्त में भी माहवारी हिसाब करते हैं। इतना ही नहीं, सदा जमा-खर्च का ब्यौरा रखने पर भी पुनः प्रत्येक दिवाली पर अर्थात् साल में एक बार तो अपनी सम्पूर्ण पूँजी को सम्हाल ही लेते हैं तथा कहीं भी त्रुटि नहीं रहने देते। पर लगता है कि आप इस जड़ और नश्वर धन के प्रति ही इतनी सावधानी रखते हैं, अपने आध्यात्मिक धन की वृद्धि और उसके ह्रास की परवाह नहीं करते।

आज संवत्सरी का दिन है। इसका महत्व आपको दीपावली से भी अधिक समझना चाहिए। आज के दिन आप अपने वर्ष भर के दोषों को स्मरण करके उनके लिए प्रायश्चित्त कर सकते हैं तथा किसी भी प्राणी के प्रति रहे हुए बैर-भाव को मिटाकर उससे क्षमायाचना कर सकते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि जिस प्रकार आप प्रतिदिन हिसाब करना छोड़कर कभी भी उसे दीपावली पर करने के लिए नहीं रखते, क्योंकि ऐसा करने से आप पर बड़ा बोझ इकट्ठा हो जाता है, ठीक इसी प्रकार, अपनी छोटी-मोटी गलतियों, अपराधों एवं मन के दोषों को भी संवत्सरी के दिन ही मिटाने के लिए नहीं रखना चाहिए अपितु प्रतिदिन सायंकालीन प्रतिश्रमण के समय दिन भर में हुई भूलों के लिए या मन, वचन तथा शरीर के द्वारा होने वाले दोषों के लिए पश्चात्ताप करके उन्हें भविष्य में पुनः-पुनः न होने देने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

ऐसा करने पर मन के छोटे-छोटे दोष भी तुरन्त मिट जाया करेंगे और वे बढ़कर आपको संवत्सरी के अवसर पर भारी बोझ नहीं महसूस होंगे तथा उन्हें मिटाने में आपको कठिन परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार प्रतिदिन घर का कचरा और जाले आदि साफ करते रहने से दीपावली पर सफाई के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, इसी प्रकार मन का कषायरूपी कचरा प्रतिदिन साफ कर लेने पर संवत्सरी के अवसर पर भी मन को शुद्ध करना कठिन नहीं होता।

तो बन्धुओ, जो भव्य प्राणी अपने मन की शुद्धि के लिए इस प्रकार सदा सजग रहता है वह सहज ही देवत्व की प्राप्ति कर लेता है तथा आत्म-कल्याण करने में समर्थ बनता है।



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हम आत्म-चिन्तन के विषय में विचार करेंगे। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कभी किसी समय और कभी किसी समय, पर हमेशा चिन्तन करता जरूर है। इसका कारण यह है कि मस्तिष्क अधिक समय तक विचारों से खाली नहीं रह सकता। निद्रा आने पर अथवा एकाग्रता से किसी कार्य में लग जाने पर चिन्तन का प्रवाह कम हो जाता है या कुछ समय के लिए विचारों से मस्तिष्क के सर्वथा शून्य न होने पर भी रुक जाता है; किन्तु अवसर मिलते ही पुनः अपना काम करने लग जाता है।

### चिन्तन के प्रकार

इस विशाल जगत में मनुष्य का चिन्तन करना कोई बड़ी बात नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति चिन्तन करता है किन्तु हमें समझना यह है कि किस प्रकार का चिन्तन आत्मा के लिए अनर्थकारी है और किस प्रकार का चिन्तन उसके लिए लाभकारी।

संसार में अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। वे अपने कार्यों के अनुसार विचार करते हैं तथा उस पर चिन्तन-मनन करते रहते हैं। उदाहरणस्वरूप चोर, डाकू और हत्यारे भी कम चिन्तन नहीं करते, वे अत्यधिक सोचते हैं और विचार करते हैं पर उनका मस्तिष्क यही स्कीमें बनाता है कि किस प्रकार अमुक धनी की हवेली में प्रवेश किया जाय, किस प्रकार तिजोरियाँ खोलकर या सन्दूकों के ताले निःशब्द तोड़कर माल निकाला जाय और फिर किस प्रकार उसे सुरक्षित रूप से लेकर ठिकाने लगाया जाय ? उनके उस अभियान में अगर कोई घर का या बाहर का व्यक्ति बाधक बने तो किस प्रकार उसे सदैव के लिए समाप्त कर दिया जाय यह भी उनके चिन्तन का बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय होता है।

इसी प्रकार किसान चिन्तन करता है कि किस प्रकार उसको फसल अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय, और किस प्रकार उससे अधिक लाभ हासिल हो ? बड़ा व्यापारी अपनी दुकानों को और अधिक बढ़ाने के लिए तथा घटिया माल को भी बढ़िया करके निकालने के लिए चिन्तन करता

रहता है। यह बात तो आप सेठ-साहूकार अच्छी तरह से जानते ही हैं कि किस प्रकार आप अपनी पूंजी को अनेक गुनी अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं तथा सोते-जागते उस विषय में सोचते रहते हैं।

तो मैं चिन्तन के विषय में बता रहा हूँ कि पढ़े-लिखे व्यक्ति अपने अलग ढंग से चिन्तन करते हैं और दार्शनिक तथा वैज्ञानिक आदि अपने-अपने विषयों के लिए अलग-अलग तरीकों से। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति के सोचने-विचारने का और उस पर चिन्तन करने का अपना भिन्न-भिन्न विषय होता है।

अब हमें यह देखना है कि किस प्रकार का चिन्तन आत्मा के लिए लाभदायक बनता है? अभी मैंने उदाहरण के तौर पर आपको बताया है कि चोर, डाकू, किसान, मजदूर, शिक्षक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक आदि-आदि सभी के चिन्तन का विषय अलग-अलग होता है पर अधिकांश व्यक्तियों का चिन्तन भौतिक विषयों को लेकर ही चलता रहता है और इन सब विषयों पर अत्यधिक विचार करने से आत्मा का कोई लाभ नहीं होता।

भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए सदा चिन्तन, प्रयत्न करने से और उन्हें अधिक से अधिक पा लेने से भी आत्मा को क्या लाभ हो सकता है जबकि वह सब कुछ जड़ है और जड़ शरीर के साथ ही यहाँ छूट जाने वाला है। लाभ तो उस आध्यात्मिक चिन्तन से है जिससे कर्म नष्ट होते हैं तथा आत्मा हलकी होकर ऊँची उठती है। वह चिन्तन आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक एवं तत्त्वादि के विषय में विचार करना होता है तथा ऐसे आत्म-चिन्तन से मन निर्दोष होकर कर्मों की निर्जरा में जुट जाता है।

### चिन्तन का समय

बन्धुओं, वैसे तो चिन्तन किसी भी समय किया जा सकता है और न चाहने पर भी वक्त-वे-वक्त दिमाग चिन्तन के क्षेत्र में उतर जाता है किन्तु आत्म-चिन्तन आत्मा के लिए शुभ कदम है। इसलिए इसे शुभ समय में करना उचित है। प्रत्येक अच्छा कार्य अच्छे स्थान पर और अच्छे समय में भली प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है और तभी वह अच्छा फल प्रदान करता है।

इस विषय में कहा गया है—

निशाविरामे परिभाषयामि,  
गृहे प्रदीपे किमहम् शयामि ?

श्लोक में बताया गया है कि मनुष्य को किस समय और क्या चिन्तन करना चाहिए ?

‘निशाविरामे’ अर्थात् रात्रि के अन्त में जिस समय रात्रि का अन्त होता है उसे ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं, क्योंकि वह समय ब्रह्म चिन्तन के लिए उपयुक्त माना जाता है। ब्रह्म का अर्थ परमात्मा होता है और आत्मा भी। तो उस समय जबकि मनुष्य का दिमाग रात्रि विश्राम के पश्चात् स्वस्थ हो जाता है और चारों ओर का वातावरण भी कोलाहल रहित यानी शान्त होता है, मनुष्य को चिन्तन करना चाहिए तथा चिन्तन करते समय यह विचार करना चाहिए कि—‘मेरा मकान जल रहा है और ऐसी स्थिति में भी मैं सो कैसे रहा हूँ?’

कवि ने जीवन को मकान की उपमा दी है और उसमें लगी हुई कषायों की प्रबल आग की ओर व्यक्ति का ध्यान आकर्षित किया है। यानी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेषादि रूप अग्नि मनुष्य के चारित्र्य को जला देती है और चारित्र्य का नष्ट होना जीवन नष्ट होना ही है।

‘निशीथभाष्य’ में कहा भी है—

जं अज्जियं चरित्तं देसूणाए वि पुव्वकोडोए ।  
तंयि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं ।

देशानकोटि पूर्व की साधना के द्वारा जो चारित्र्य अर्जित किया है, वह अन्तर्मुहूर्त मर के प्रज्वलित कषाय से नष्ट हो जाता है।

तो बन्धुओ ! कषायों की आग वास्तव में ही इतनी भीषण होती है कि वह अन्तर्मुहूर्त के लिए भी प्रज्वलित हो जाय तो साधकों की सम्पूर्ण साधना एवं महा-योगियों की वर्षों तक की हुई तपस्या के फल को सर्वथा भस्मीभूत कर देती है और इस सब के नष्ट होने का दूसरा नाम ही जीवन नष्ट होना या जीवन रूपी मकान का जल जाना है।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भी मनुष्य को चेतावनी दी है—

“मकुनखानये जिन्दगानी खराब,  
बसैलाब खेलोबद नासबाब।”

‘मकुन’ यानी मत कर। संस्कृत में इसी को ‘मा कुर्ष’ कहते हैं। दोनों भाषाओं के शब्दों में बड़ा साम्य है। तो कवि ने कहा है—जिन्दगी रूपी जो खाना यानी मकान है, उसे खराब मत कर। मकान के लिए ‘खाना’ शब्द आप और हम भी काम में लेते हैं। यथा—दवाखाना, हाथीखाना आदि-आदि। शायर ने इसीलिए लिखा है—‘अपने बद कार्यों से इस जिन्दगी रूपी मकान को खराब मत करो।’

आप जिसमें रहते हैं, उस मकान को पानी और आग दोनों से नुकसान पहुँचता है। पुराने और जर्जर मकान तो पानी बरसने से ढहते हैं पर भीषण बाढ़

आ जाये तो बड़ी-बड़ी इमारतें भी गिर जाती हैं। इसी प्रकार आग लग जाने पर बड़े-बड़े सुन्दर मकान खण्डहर बन जाते हैं।

यह जीवन-रूपी मकान भी कषाययुक्त कुआचरण से नष्ट होता है तथा सदा-चरण से सदैव अक्षत एवं शुद्ध बना रहता है। जिस प्रकार मकान को आग और पानी दोनों से बचाया जाता है, उसी प्रकार चारित्र-रूपी मकान को भी दो चीजों से बचाना पड़ता है। प्रथम है कषाय रूपी आग। इस आग से मकान को बचाना जरूरी है पर अगर व्यक्ति यह विचार कर ले कि हम इस आग को नहीं लगने देंगे, और केवल इतना ही विचार कर निष्क्रिय बैठ रहे तब भी काम नहीं चलेगा। ठीक है कि बुरे कार्य नहीं किये, पर अच्छे कार्य भी वह नहीं करेगा तो कैसे काम चलेगा? इसीलिए हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं कि धर्म ध्यान न करना भी एक प्रकार से चारित्र रूपी मकान को गिराने वाले ठण्डे पानी के समान है। कहने का सारांश यही है कि जीवन रूपी सुन्दर मकान को कषाय रूपी आग और निष्क्रियता रूपी जल, इन दोनों से बचाये रखना चाहिए अर्थात् पाप कर्मों को करना छोड़कर शुभ कर्मों में प्रवृत्त भी होना चाहिए। इसीलिए ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर आत्म-चिन्तन एवं उत्तम दिनचर्या के विषय में सोचने का विधान हमारे धर्मग्रन्थों में दिया गया है।

### एक पन्थ दो काज

यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है कि ब्राह्ममुहूर्त में उठना केवल आत्म-हित या आध्यात्मिक दृष्टि से ही उत्तम नहीं है अपितु शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अत्युत्तम है।

बैद्यक शास्त्र कहते हैं—

ब्राह्म मुहूर्ते उत्थाय, स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।

तत्र विघ्नोपशान्त्यर्थं स्मरेत् हि मधुसूदनम् ॥

प्रभात काल में शीघ्र उठने से स्वास्थ्य ठीक रहता है तथा आयुष्य की वृद्धि होती है। आप देखते हैं कि जो भी स्वस्थ रहने के अभिलाषी व्यक्ति होते हैं, वे निश्चय ही ब्राह्म मुहूर्त में उठकर धूमने जाते हैं, दौड़ सकने वाले मीलों दौड़ते हैं और पहलवान तथा कसरती पुरुष आसन, व्यायाम कुश्ती अथवा दण्ड-बैठक किया करते हैं। देश की रक्षा करने वाले सिपाहियों को भी प्रातःकाल दौड़ लगानी पड़ती है और उनसे सुबह ही परेड भी कराई जाती है। यह सब इसीलिए कि शरीर स्वस्थ बने। सारांश यही है कि स्वस्थ और नीरोग रहने के नियमों में भी सबसे पहला नियम प्रातःकाल जल्दी उठना है और आत्मोन्नति के लिए आत्म-चिन्तन या ईश-प्रार्थना आदि शुभ-क्रियाओं के लिए भी ब्राह्म मुहूर्त में उठना आवश्यक है। इस प्रकार प्रातःकाल जल्दी उठने से शारीरिक स्वस्थता एवं आध्यात्मिक, स्वस्थता दोनों ही सम्पन्न होती है तथा सहज ही 'एक पन्थ दो काज' कहावत चरितार्थ हो जाती है।



हमारे यहाँ म्रुमुक्षु व्यक्ति के लिए कहा जाता है—

श्रावक तू उठे प्रभात, चार घड़ी से पिछली रात ।

मन में सुमरे श्री नवकार, जिससे पावे भव से पार ॥

कहते हैं—हे श्रावक ! अगर तुझे इस भव-सागर से पार होना है तो चार घड़ी से पिछली रात्रि में अर्थात् डेढ़ घंटे रात बाकी रहे तब उठ कर नमोकार मन्त्र का जाप किया कर क्योंकि नमोकार मन्त्र समस्त पापों का नाश करके आत्मा को कर्म-मुक्त करने वाला है । नमोकार मन्त्र की महिमा बताते हुए कहा भी है :—

सुख कारण भविष्यण , सुमरो नित नवकार ।

जिन शासन आगम, चौदह पूर्व नो सार ॥

इण मन्त्र नी महिमा, कहेतां न लहे पार ।

सुरतरु जिमि चिंतित, बांछित फल दातार ॥

इन दो पद्यों में मनुष्यों को उद्बोधन किया गया है—“भव्य पुरुषो ! अगर तुम सच्चे सुख की बांछा करते हो तो नित्य नमोकार मन्त्र का स्मरण किया करो । चौदह पूर्व का सार जिसमें निहित है, उस महामहिम मन्त्र की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता केवल यही कहा जा सकता है कि यह महामन्त्र कल्पवृक्ष के समान प्रत्येक इच्छित फल को प्रदान करने वाला है ।”

तो बन्धुओ ! वैद्यकशास्त्र में भी कहा गया है कि ब्राह्म मुहूर्त में उठकर जीवन में आने वाली समस्त विघ्न बाधाओं को हटाने के लिए मधुसूदन यानी भगवान श्री कृष्ण का स्मरण करो और हमारे धर्म ग्रन्थ भी यही कहते हैं कि डेढ़ घंटा रात रहते अर्थात् उसी बाह्य मुहूर्त में वीतराग प्रभु का स्मरण करो, नमोकार मन्त्र का जप करो तथा आत्म-चिंतन करो ।

पिछली रात्रि में जबकि वातावरण शांतिमय रहता है तथा हमारा मन एवं मस्तिष्क भी थकावट रहित होता है, उस समय चिंतन करना जीवन के लिए परम श्रेयस्कर बनता है । आप विचार करते होंगे कि आखिर चिंतन से ऐसा कौनसा लाभ हासिल हो जाता है ? इसका उत्तर बड़ी गहराई में जाता है; किन्तु हम यहाँ संक्षेप में यही कह सकते हैं कि हमारे अन्दर ज्ञान का असीम भंडार है और बाहर है अनेकानेक महापुरुषों के अनुभवों का निचोड़ । तो हम जो बाह्य ज्ञान प्राप्त करते हैं अथवा महामानवों के अनुभवों को पढ़ते हैं उन्हें अपने चिंतन में लाकर अपने स्वयं के ज्ञान द्वारा सचाई की मुहर लगाकर उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न कर सकते हैं । दूसरे शब्दों में, हम चिंतन के द्वारा पहले तो अपने विचारों को यथार्थता की कसौटी पर उतारते हैं और तभी उसे आचरण में लाने का संकल्प करते हैं । वही संकल्प धीरे-धीरे हमारे व्यवहारों में, कार्यों में और जीवन के अन्य क्षेत्रों में आता है । स्पष्ट

है कि जब तक चिंतन नहीं किया जाएगा, तब तक विचार सुदृढ़ नहीं बनेंगे और बिखरे हुए तथा उलझे हुए विचार हमारे जीवन को सम्यक् भोड़ नहीं दे पाएंगे।

यह तो हुआ एक लाभ, चिंतन के द्वारा दूसरा बड़ा भारी लाभ यह है कि आज के युग में भ्रमात्मक साहित्य भी मनुष्य के मानस को उलझन में डाल देता है और वह समझ नहीं पाता कि सचाई कहाँ पर है। किन्तु अगर वह ब्राह्म मुहूर्त में गम्भीर चिन्तन करता हुआ यथार्थ को समझने का प्रयत्न करे तो उसकी आत्मा में रहा हुआ ज्ञान उसकी सहायता करता है तथा सचाई के निकट पहुँचा कर सही मार्ग बताता है। आत्म-चिंतन बाहर से आने वाले कुविचारों के कचरे को प्रथम तो अन्दर आने नहीं देता और अगर वह आ ही जाये तो उसे शीघ्र निकाल फेंकता है।

तीसरा लाभ चिंतन का यह है कि मनुष्य का जीवन सदाचारी एवं धर्ममय तभी बनता है जबकि उसके विचार अन्तर्मनस से दृढ़ बनकर आचरण में व्यवहृत होते हैं। चिन्तन गहरी नींव है जिसके आधार पर बना हुआ जीवन-रूपी मकान निर्दोष एवं सुदृढ़ बनता है। परिणाम यह होता है कि फिर वह लोभ-लालच आदि बाह्य विकारों अथवा बाधाओं से विचलित नहीं होता। धर्मप्रिय व्यक्ति को कोई कितना भी भुलावे में क्यों न डाले, वह डिगता नहीं। क्योंकि उसे अपने आप पर पूर्ण विश्वास होता है और इसलिए वह बाहरी विकारों को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। ऐसा व्यक्ति कम सुनकर और कम पढ़कर भी सुने हुए और पढ़े हुए को अपने चिन्तन को कसौटी पर उतारकर यथार्थ को ग्रहण कर लेता है तथा अपने जीवन को सही मार्ग पर ले जाता है। दूसरे शब्दों में, अधिक पढ़ना व सुनना जीवन को लाभ नहीं पहुँचाता, जीवन को लाभ पहुँचाता है चिंतन के द्वारा ज्ञान के सार को ग्रहण कर लेना।

### कम पढ़ना पर चिंतन अधिक करना

एक राजा बड़ा ज्ञान-पिपासु था। वह जीवन और जगत के रहस्यों को समझने की तीव्र इच्छा रखने के कारण राज्य में, आए हुए प्रत्येक विद्वान का आदर करता था तथा उनके द्वारा अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न करता था। किन्तु फिर भी उसे संतुष्टि नहीं हो पाई थी और इसलिए उसका मन अशांत रहता था।

संयोगवश एक बार दो विद्वान उसके राज्य में आए और उन्होंने राजा के विषय में लोगों से ज्ञान कर उससे मिलने का विचार किया।

दोनों ही विद्वान राज्य दरबार की ओर चल दिये तथा अपना परिचय लिखकर द्वारपाल के साथ राजा को भेजा। राजा ने देखा कि एक विद्वान ने बड़ी-बड़ी डिगरियाँ हासिल की हैं, अनेक शास्त्र-पुराण कंठस्थ कर रखे हैं तथा कई भाषाओं पर अधिकार किया है। पर दूसरे विद्वान के परिचय-पत्र में केवल गीता-पाठ लिखा

है। कुछ आश्चर्य होने पर भी राजा ने कुछ कहा नहीं और पहले विद्वान को अधिक ज्ञानवान समझकर उसे पहले अन्दर बुलवाया।

अनेक भाषाओं को जानने वाले और अनेकानेक शास्त्रों और धर्म ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले विद्वान से राजा ने अनेक प्रश्न पूछे और अपनी जिज्ञासाओं को शान्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे उनका समाधान सही नहीं मिला और आत्म-संतोष प्राप्त नहीं हो सका। राजा ने कहा कुछ नहीं और विद्वान पंडित को सादर विदाई दी।

अब उसके सामने दूसरे पंडित का परिचय-पत्र रखा था। यद्यपि राजा का मन खिल था और उसे लग रहा था कि इतना विद्वान व्यक्ति भी जब मुझे संतुष्ट नहीं कर सका अर्थात् मुझे जीवन और जगत के बारे में नहीं समझा सका तो केवल गीता का पाठ करने वाला व्यक्ति मेरी समस्याओं का क्या समाधान करेगा ?

फिर भी उसने आगत विद्वान को निराश करना या उसे अन्दर न बुलाकर उसका अपमान करना ठीक नहीं समझा इसलिए उसे भी बुलवा लिया।

विद्वान अन्दर आया। राजा ने देखा कि उसके शरीर पर मामूली वस्त्र थे पर किसी भी प्रकार के तिलक-छापे से रहित उसका चेहरा आत्म-विश्वास से चमक रहा था।

राजा ने उसे भी अपने समक्ष बैठाया और अपनी उलझनें तथा समस्याएँ उसके सामने रखीं। विद्वान ने उन्हें ध्यान से सुना, कुछ मिनट विचार किया और फिर शान्ति पूर्वक स्पष्ट शब्दों में धीरे-धीरे राजा को समझाना प्रारम्भ किया।

वक्ता और श्रोता दोनों को ही समय का ध्यान नहीं रहा, स्थान का ध्यान नहीं रहा और अपने बीच के अन्तर का भी ध्यान नहीं रहा। बड़े सहज ढंग से केवल गीता-पाठ करने वाले पंडित ने जीवन और जगत, लोक और परलोक तथा कर्म और मुक्ति के विषय में सब कुछ समझाया और राजा ने उसे समझा। वह अत्यंत चकित और संतुष्ट होकर पूछ बैठा—

“महात्मन् ! आपने न सारे धर्म-शास्त्र पढ़े हैं और न ही कई परीक्षाएँ पास करके प्रमाण पत्र प्राप्त किये हैं। केवल गीता का पाठ करके आपको इतना ज्ञान कैसे हासिल हो गया ? मुझे जीवन में पहली बार आज संतोष मिला है।”

विद्वान ने तनिक मुस्कराते हुए उत्तर दिया—“राजन् ! यह सही है कि मैं केवल गीता का पाठ करता हूँ, किन्तु थोड़ा पढ़कर भी उस पर चिन्तन बहुत करता हूँ। चिन्तन किये बिना कभी किसी विषय में गहराई तक नहीं पहुँचा जाता। मैं थोड़ा पढ़ता हूँ, उस पर खूब सोच-विचार करता हूँ और जब उसमें से सत्य को ढूँढ़ लेता

हैं तो उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करता हूँ। बस यही मेरे अल्प-ज्ञान का रहस्य है।”

राजा उस निरहंकारी विद्वान की सहज सरलता और महान् विद्वत्ता से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसे सदा के लिए अपने राज्य में निवास करने का आग्रह करते हुए दरबार में उच्च स्थान दिया।

बन्धुओ ! आप चिन्तन के महत्व को समझ गए होंगे। वस्तुतः जिस प्रकार जमीन के अन्दर से उगकर आया हुआ बीज सुदृढ़ वृक्ष को अस्तित्व में लाता है, उसी प्रकार चिन्तन-मनन के द्वारा मथ कर निकाला गया सत्य अथवा यथार्थ ज्ञान जीवन को निर्दोष एवं समुज्ज्वल बनाता है। इसलिए अगर आपको अपने उच्च जीवन का निर्माण करना है और अपने ज्ञान एवं क्रिया का लाभ उठाना है तो आपको अन्दर से तैयार होकर बाहर आना पड़ेगा। बाहर से अन्दर जाने पर जीवन अव्यवस्थित हो जाएगा और आत्मा अपनी स्वाभाविकता खो बैठेगी। क्योंकि बाहर का विकारमय कचरा अन्दर जाकर आत्मा के ज्ञान एवं गुणों को आच्छादित कर देता है तथा उसे अपने सहज तेज को बाहर नहीं लाने देता। यह सब चिन्तन-मनन से होगा। आप उपदेश-श्रवण, शास्त्र-स्वाध्याय आदि जो कुछ भी करें उस पर प्रतिदिन और विशेष तौर पर प्रातः काल ब्राह्म-मुहूर्त में अधिक से अधिक चिन्तन करें तभी आप अपने जीवन को सार्थक बना सकेंगे। ❀

धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों !

आज आपके समक्ष ही एक धर्मपरायण दम्पति ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने का दृढ़ संकल्प किया है। इस प्रसंग पर आज मैं शील धर्म के विषय में ही अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ।

शील का महत्व अवर्णनीय है। एक पश्चिमी विद्वान ने कहा है—

“जैसे एक शीशे पर पारा चढ़ाने से वह दर्पण बन जाता है और उसके अन्दर व्यक्ति अपना चेहरा स्पष्ट रूप से देख सकता है, उसी प्रकार जिस पुरुष ने ब्रह्मचर्य के द्वारा अपनी शक्ति को सुरक्षित कर लिया है, उसके हृदय में परमात्मा की दिव्य मूर्ति प्रकाशित होती है।”

हमारे यहाँ भी शील अथवा ब्रह्मचर्य के महत्व को बताते हुए कहा गया है—

**समुद्रतरणे यद्वदुपायो नौः प्रकीर्तितः ।**

**संसारतरणे तद्वत्, ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम् ॥**

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र को पार करने का उपाय जहाज है, उसी प्रकार संसार को पार करने का उपाय ब्रह्मचर्य है।

**ब्रह्मचर्य के प्रकार**

शीलधर्म अथवा ब्रह्मचर्य धर्म के दो प्रकार हैं—पहला एकदेशीय ब्रह्मचर्य एवं दूसरा सर्वदेशीय ब्रह्मचर्य। ये दोनों ही प्रकार जीवन को संयमित करने वाले सदा आत्मा को शुद्ध बनाने वाले हैं। हम क्रमशः इन दोनों के विषय में विचार करेंगे।

(१) एक देशीय ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जिसे ग्रहण करने पर पुरुष अपनी विवाहिता पत्नी के अलावा और किसी स्त्री की ओर विकार पूर्ण दृष्टि से न देखे और न ही किसी से अनुचित सम्बन्ध स्थापित करे तथा इस व्रत को ग्रहण करने वाली स्त्री अपने पति के अलावा किसी पर-पुरुष से सम्बन्ध न रखे।

इस व्रत के विषय में बात करते समय अनेक व्यक्ति उपहासपूर्वक कहते हैं कि जब पति-पत्नी आपस में सम्बन्ध रखते ही हैं तो फिर क्या ब्रह्मचर्य का पालन हुआ और उससे क्या लाभ होने की सम्भावना होती है ?

किन्तु ऐसा कहने और विचार करने वाले व्यक्ति बड़ी भूल करते हैं। पति अगर अपनी पत्नी के अलावा अन्य किसी भी स्त्री की ओर कुदृष्टि से न देखे तथा पत्नी अपने पति के सिवाय किसी भी अन्य पुरुष का विचार मन में न लाये तो वे धर्मपरायण और दृढ़ आत्मशक्ति के धनी बनते हैं। सती सुमद्रा ने पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण नहीं किया था, किन्तु एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन दृढ़ता से करती थी। उसका भी परिणाम यह हुआ कि उसने कुएँ से चालनी में पानी निकाल लिया तथा देवताओं के द्वारा बन्द किये हुए नगर के दरवाजों को खोल डाला। सेठ सुदर्शन ने भी एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन किया था और उसके बल पर ही सूली को सिंहासन के रूप में परिवर्तित कर दिया। एकदेशीय ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाली महान् आत्माओं की कथाएँ इतिहास में अनेकों मिलती हैं।

महाभारत में आपने धृतराष्ट्र की पत्नी सती गांधारी के विषय में पढ़ा होगा। गांधारी भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली स्त्री नहीं थी। उसके सौ पुत्र थे, किन्तु वह पतिव्रता थी और अपने पति के अन्धे होने के कारण स्वयं भी सदा आँखों पर पट्टी बाँधे रहती थी। पातिव्रत्य धर्म के फलस्वरूप उसकी दृष्टि में इतनी शक्ति आ गई थी कि अगर वह किसी मनुष्य के शरीर पर मात्र दृष्टिपात ही कर देती तो उसका शरीर वज्र का हो सकता था।

जब उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवों से लड़ रहा था उस समय किसी भी प्रकार से युद्ध में विजय प्राप्त न कर सकने पर और मृत्यु की आशंका होने पर दुर्योधन ने अपनी माता से अपने शरीर को वज्रमय बनाने की प्रार्थना की। प्रत्येक माता अपने पुत्र का हित चाहती है, गांधारी भी यही चाहती थी कि उसका पुत्र मृत्यु को प्राप्त न हो और वह युद्ध में विजयी बने। अतः उसने दुर्योधन से कहा—“बेटा ! तुम अपने शरीर पर से वस्त्र अलग करके मेरे सामने आ जाना, मैं उस पर अपनी दृष्टि डाल कर उसे वज्र के सदृश बना दूँगी।”

दुर्योधन प्रसन्नता से फूला नहीं समाया और एक समय निश्चित करके नग्न होकर अपनी माता के समक्ष आने लगा। किन्तु अन्तर्यामी श्रीकृष्ण उसके गुरु निकले और ऐन वक्त पर आकर दुर्योधन से बोले—

“अरे भाई ! यह क्या करते हो ? गांधारी तुम्हारी माता हैं तो क्या हुआ, तुम अब शिशु तो नहीं हो। इतने बड़े होकर उनके सामने सर्वथा नग्न जाओगे ? लज्जा नहीं आएगी क्या तुम्हें ? कम से कम एक लंगोट तो शरीर पर रखो।”

और कृष्ण की यह बात सुनकर सचमुच ही दुर्योधन लज्जित हुआ और एक लंगोट शरीर पर रखकर माता के सामने उपस्थित हो गया। पुत्र को आया जानकर गांधारी ने कुछ क्षणों के लिये अपने नेत्रों पर से पट्टी हटाई और उस पर दृष्टिपात किया। दुर्योधन का सम्पूर्ण शरीर ब्रज के सदृश हड़ हो गया किन्तु लंगोट रहने से शरीर का वह हिस्सा पूर्ववत् कमजोर बना रहा और युद्ध में वहीं शस्त्र लगने से वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

बंधुओ ! इस घटना के द्वारा मैं आपको सती गांधारी की शक्ति के विषय में बता रहा था कि एक काँटा चुभने से भी जिस शरीर में खून निकलने लगता है, वह वज्र के सदृश बन जाय, ऐसी ताकत गांधारी की दृष्टि में कैसे आ गई ? गांधारी ने साधुपना नहीं लिया था और न ही पूर्ण ब्रह्मचर्य ब्रज अंगीकार किया था। वह गृहस्थ थी और एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन करती थी। अपने पति के अलावा न वह किसी अन्य पुरुष का विचार मन में लाती थी और न ही किसी पर दृष्टिपात ही करती थी। केवल एकदेशीय ब्रह्मचर्य का पालन करके ही उसने शरीर को वज्र के समान हड़ कर देने की महान् शक्ति हासिल करली थी।

आप विचार कर सकते हैं कि जब एकदेशीय ब्रह्मचर्य में भी इतनी शक्ति है तो फिर सर्वदेशीय अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य में तो कितनी शक्ति होगी ? यही कारण है कि साधुपुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

श्री दशवैकालिक सूत्र में एक गाथा दी गई है :—

मूलभेद्यमहम्मस्स, महादोस समुत्सयं ।

तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—अध्ययन ६ गा० १७

अर्थात् मैथुन-सेवन अधर्म का मूल है और महान् दोषों को बढ़ाने वाला है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि उसका त्याग करते हैं।

**ब्रह्मचर्य-पालन असाध्य नहीं है :**

दुःख की बात है कि आर्य संस्कृति में ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक जोर देने पर भी आज लोग इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देते और कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन करना असाध्य कार्य है। ऐसा कहने वाले बड़े भ्रम में होते हैं। वे भूल जाते हैं कि हमारे देश में आजन्म ब्रह्मचारी महात्मा भीष्म ने जन्म लिया था, जिनका गौरव आज भी बना हुआ है, इसी प्रकार अनेकानेक बाल ब्रह्मचारी अपने उच्च एवं दिव्य जीवन को सम्पूर्ण कर गये हैं। विजयकुमार और विजयाकुमारी तो एक पर्यंक पर रहकर भी अपने मन को डाँवाडोल नहीं होने देते थे। केवली भगवान ने जब अपने ज्ञान से यह जाहिर किया तभी लोगों को उनके महान् त्याग और संयम के विषय में ज्ञात हुआ। अधिक क्या कहें ? आज भी अनेक बालब्रह्मचारी संत-महापुरुष अपने जीवन को उच्च साधना में लगाकर जीवन को सफल बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना कोई मनःकल्पना नहीं है। महान् आत्माएँ पहले भी ऐसा करती थीं, और आज भी करती हैं। ब्रह्मचर्य को असाध्य मानना आत्मा की पवित्र एवं दृढ़ शक्ति का अपमान करना है। जो अज्ञानी व्यक्ति आत्मिक शक्तियों से अनभिज्ञ रहते हैं वे ही ब्रह्मचर्य की अशक्यता एवं प्रबल विकार विजय की शक्यता को स्वीकार करते हैं। आत्मिक रूप से ऐसे अत्यंत दुर्बल व्यक्ति ही ब्रह्मचर्य जैसे पवित्र एवं महिमामय व्रत को धारण करने में हिचकिचाते हैं। उन्हें चाहिये कि वे प्राचीन काल के महापुरुषों के पावन जीवन-चरित्र पर ध्यान दें, उन्हें पढ़ें और उन पर चिन्तन-मनन करते हुए अपने आत्मिक बल को बढ़ाएँ। ऐसा करने पर ब्रह्मचर्य का पालन करना कभी असाध्य नहीं रह सकेगा। जो व्यक्ति अपने जीवन को निर्दोष बनाने का सतत प्रयत्न करता है तथा दृढ़ संकल्प करके उसमें जुट जाता है, निस्संदेह उसका जीवन उच्च एवं पवित्र बनता है और इसके विपरीत जो अपने आचरण को पवित्र बनाने का प्रयत्न नहीं करता तथा निकृष्ट भावनाओं को हृदय में स्थान देता है वह पूर्णतया निकृष्ट व्यक्ति बन जाता है। इसलिए मनुष्य को सदा अपनी भावना-शुद्धि का ध्यान रखना चाहिये तथा उसके लिए निरंतर प्रयत्न करना चाहिये। अगर मानस में अपवित्र भावनाओं का जन्म हो भी जाय तो अविलम्ब अपनी दुर्बलता को धिक्कारते हुए उन्हें नष्ट करने का प्रयास करना चाहिये।

भावनाओं की चमत्कारिक शक्ति के विषय में कवि सुन्दरदास जी ने बड़े सुन्दर ढंग से अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है :—

याहि को तो भाव याको शंक उपजावत है,  
याहि को तो भाव याको निसंक करत है ।  
याहि को तो भाव याको भूत प्रेत होय लागे,  
याहि को तो भाव याको सुमति हरत है ॥  
याहि को तो भाव याको चंचल बनाये देत,  
याहि को तो भाव याही थिर को धरत है ।  
याहि को तो भाव याको धार में बहाय देत,  
याहि को सुन्दर भाव याहि ले तरत है ॥

कवि ने सीधी-साधी सरल भाषा में भावों की महान् शक्ति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है कि भावनाएँ ही व्यक्ति के हृदय में नाना शंकाओं को जन्म देती हैं तथा दृढ़ भावनाएँ उसे निःशंक बनाती हैं। भावनाएँ ही मनुष्य से भूत-प्रेत बनकर चिपटती हैं तथा उसकी मति को भ्रमित कर देती हैं। हम प्रायः कहते भी हैं कि अमुक व्यक्ति को भय का भूत सताता है। इसी प्रकार भावनाएँ मनुष्य के मन को चंचल भी बना देती हैं और दृढ़ता भी प्रदान करती हैं। अधिक क्या कहा जाय? कवि का कथन है



कि भाव ही मनुष्य की आत्मा को संसार-सागर में बहा देते हैं और भाव ही उसे पार उतारते हैं ।

### भावनाओं के अनुसार गति

एक लोककथा के अनुसार कहा जाता है कि एक संन्यासी शहर से बाहर किसी मंदिर के समीप अपनी झोंपड़ी बनाकर उसमें रहते थे और उनकी झोंपड़ी से कुछ ही दूरी पर एक मकान था जिसमें एक वेश्या रहती थी ।

वेश्या के मकान पर दिन-रात में अनेकों व्यक्ति आया-जाया करते थे । यह देखकर संन्यासी को बड़ा दुःख होता था अतः एक दिन उन्होंने वेश्या को बुलाकर कहा—“अमागी स्त्री ! क्यों पापों का घड़ा भरे जा रही है ? क्या तू इन पापों से पीछा छुड़ाना नहीं चाहती ?

वेश्या संन्यासी की बात सुनकर अत्यन्त दुखी होती हुई बोली—“महाराज ! मैं तो हर समय भगवान से प्रार्थना करती रहती हूँ कि मुझे इस नारकीय जीवन से निकालो । किन्तु मैं करूँ क्या ? पेट भरने के लिये मेरे पास अन्य कोई उपाय जो नहीं है ।”

संन्यासी वेश्या की बात का कोई उत्तर नहीं दे सके और वेश्या पुनः अपने घर लौटकर उसी प्रकार का जीवन बिताने लगी । तब संन्यासी ने उसे समझाने का एक अन्य उपाय खोजा । वे अपनी कुटिया के बाहर बैठे रहते और उस वेश्या के यहाँ पर रोज जितने व्यक्ति आते उतने ही कंकर एक स्थान पर इकट्ठे कर देते । धीरे-धीरे वहाँ पर कंकरों का एक बड़ा भारी ढेर बन गया ।

एक दिन पुनः संन्यासी जी ने उस वेश्या को बुलाया और उसे धिक्कारते हुए कहा—पापिनी ! यह देख अपने पापों का ढेर ! अब तो तुझे नरक में भी जगह नहीं मिलेगी ।”

कंकरों का वह ढेर देखकर वेश्या को इतना गहरा आघात लगा कि पारे दुःख के और पश्चात्ताप के वह फूट-फूटकर रो पड़ी । रोते-रोते उसने अन्तःकरण से भगवान को पुकारा और अपने पापों से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की । इसी बीच उसके हृदय की गति बन्द हो गई और वह इस लोक को छोड़कर चल दी । संयोग कुछ ऐसा बना कि वेश्या के मरने के बाद ही वह संन्यासी भी मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

दोनों साथ ही भगवान के समक्ष उपस्थित किये गये । भगवान ने उन दोनों के जीवन पर विचार किया और तत्पश्चात् वेश्या को स्वर्ग में पहुँचाने का तथा संन्यासी को नरक में भेज देने का आदेश अपने कर्मचारियों को दिया ।

भगवान का यह निर्णय सुनते ही संन्यासी घोर आश्चर्य से अभिभूत सा रह गया तथा क्रोधित होकर बोल उठा—“भगवान के राज्य में भी ऐसा अंधेर ? प्रमो !

यह तो आपका घोर अन्याय है कि पापी वेश्या को तो स्वर्ग में भेजा जा रहा है और मुझ संन्यासी को नरक में।”

भगवान ने जब संन्यासी की बात सुनी तो शांतिपूर्वक कहा—“संन्यासी ! मैं जानता हूँ कि तुम साधु थे और यह वेश्या । तुमने अपने शरीर को पवित्र रखा और वेश्या ने अपवित्र बनाया । इसलिये देखो ! तुम्हारे शरीर को तुम्हारे भक्त बड़े सम्मान से और फूलों के द्वारा सजाकर अंत्येष्टि क्रिया करने ले जा रहे हैं तथा वेश्या के शरीर पर लोगों ने धूका है और उसे नफरत के साथ कौओं और कुत्तों के खाने के लिये फेंक दिया है ।

किन्तु भावनाओं का और मन का जहाँ सवाल है, वहाँ वेश्या हर समय अपने कुकृत्यों के लिये पश्चात्ताप करती रही तथा सर्वान्तःकरण से हमसे प्रार्थना करती हुई अपने पापों के लिये क्षमा माँगती रही और तुम केवल उसके पापों को देखते हुए उनकी गणना करते रहे । इस प्रकार वेश्या का मन हमारी प्रार्थना में और तुम्हारा मन पापों में लगा रहा । भगवान के भक्त का कार्य औरों के दोष देखना नहीं है अपितु अपने दोषों को खोजना होता है ।

इस प्रकार मन के भावों में महान् अन्तर होने के कारण ही तुम नरक में भेजे जा रहे हो और वेश्या स्वर्ग की ओर जा रही है।” भगवान की बात सुनकर संन्यासी निरुत्तर रह गया ।

तो बंधुओ ! आप समझ गये होंगे कि भावों की उच्चता या पवित्रता किस प्रकार आत्मा को ऊँचा उठाती है और उसकी निकृष्टता कैसे उसे निम्न गति की ओर ले जाती है । जिस मनुष्य की भावनाओं में हड़ता होती है वह प्रत्येक स्थिति में अपने मन पर संयम रख सकता है और उसके लिये ब्रह्मचर्य का पालन करना भी कदापि असाध्य नहीं हो सकता ।

यह सही है कि मन चंचल होता है और वह सहज ही में ठिकाने नहीं रह सकता, किन्तु प्रयत्न करके उसे भी संयमित रखा जाता है । जो व्यक्ति मन पर काबू रखने का संकल्प कर लेते हैं वे प्रतिपल उसे समझाने का प्रयास करते हैं । कहते हैं—

“चल मना ! शोध कर झटभट, अबधी लटपट रे—

बा लटपट रे ।”

मन से कहा गया है—‘अरे मन ! तू ठिकाने रह, अपना स्थान छोड़कर इधर-उधर मत भटक, तभी हम कुछ कर सकेंगे ।’

संत तुकाराम जी उसे धिक्कारते हुए संबोधित करते हैं—

“फजितखोरा मना, किती तुज सांगो,  
नन्दो कोणा लागो, मागे मागे।”

संत का कहना है—“हे मन ! तू ही मनुष्य की फजीहत कराने वाला है अतः अच्छा यही है कि तू किसी के पीछे मत लग और हमें अपने उच्च लक्ष्य की पूर्ति करने दे।”

वस्तुतः हम देखते हैं कि अगर गलत कार्य हो जाने पर किसी मनुष्य की फजीहत हो जाती है तो वह लज्जित होकर पुनः उस कार्य को नहीं करता, किन्तु मन तो इतना चपल होता है कि उसकी जन्म-जन्म में फजीहत होने पर भी वह पुनः पुनः उसी ओर अग्रसर होता है।

आगे और भी कहा गया है :—

“निन्दा स्तुति कोणी करो दया माया,  
न धरी चाड़ या सुख दुःखें।”

मन को संयमित रखने के लिए कहते हैं—अगर कोई तुम्हारी स्तुति करता है तो उसे मुनकर गर्व मत करो और निन्दा करने पर धबराओ मत, इसी प्रकार कोई तुम पर दया करे और तुम्हारी सहायता करे तो सुख मत मानो और किसी के द्वारा छले जाने पर दुःख का अनुभव मत करो।

आप सोचेंगे इन बातों से ब्रह्मचर्य का क्या सम्बन्ध है ? पर ऐसी बात नहीं है। जो व्यक्ति मन के छोटे-छोटे विकारों पर काबू पाना सीख लेता है वही ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। क्योंकि काम-विकार मनुष्य के लिए संसार के समस्त आकर्षणों में से उग्र आकर्षण है। यह प्रलोभन इतना प्रबल होता है कि भले ही मानव अन्य प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करले किन्तु काम के प्रलोभन में वह फँस ही जाता है।

श्री मर्तृहरि ने इसीलिए कहा है—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं,  
शय्या च भूः परिजनो निज देह मात्रम् ।  
वस्त्रं च जीर्णं शतखण्डमयी च कंथा,  
हा हा ! तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥

मावार्थ यही है कि व्यक्ति भीख माँगकर रूखा-सूखा और वह भी एक बार खाकर रह सकता है यानी वह अपनी रसनेन्द्रिय पर काबू पा लेता है। ऊबड़-खाबड़ जमीन पर सोकर शरीर-सुख को त्याग सकता है। संसार में अपना कहलाने वाला कोई भी न होने पर भी सन्तुष्ट रहता हुआ मोह-ममता को छोड़ सकता है। कीमती वस्त्राभूषणों के अभाव में फटा-पुराना वस्त्र पहनकर तथा सैकड़ों बिथड़ों से बनी हुई

कंथड़ी ओढ़कर सम्पूर्ण प्रकार के परिग्रह को छोड़ सकता है और फिर भी पूर्ण सन्तुष्ट और प्रसन्न रह सकता है, किन्तु वही व्यक्ति मन पर इन समस्त प्रकार के प्रलोभनों से विजय पाता हुआ भी काम-विकार का त्याग नहीं कर सकता ।

ऐसा होता है यह विकार । इसीलिए धीरे-धीरे अन्य समस्त विकारों से मन को हटाते हुए व्यक्ति को विषय-भोगों से भी मन को परे करना चाहिए । तभी वह मन को पूर्ण रूप से संयमी बनाकर शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपनी आत्मा को सद्गति की ओर ले जा सकेगा ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है :—

देव दाणव गन्धर्वा, जम्बखरबलस किन्नरा ।  
बंभयारि नमंसति, दुक्करं जे करंसि तं ॥

—अध्ययन १६ गा० १६

स्वर्य भगवान महावीर ने फरमाया है कि दुष्कर व्रत ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले महान पुरुष के चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं किन्नर देवता भी अपने मस्तक झुकाते हैं ।

भगवान ने यह भी स्पष्ट कहा है—

तवेमु वा उत्तमं बंभचेरं ।

अर्थात् ब्रह्मचर्य सभी प्रकार की तपस्याओं में उत्तम तपस्या है । भले ही व्यक्ति साधु न बन सके, पूजा-पाठ, जप-तप और अन्य धार्मिक क्रियाएँ न कर सके, किन्तु अगर वह सर्वदेशीय छोड़कर एकदेशीय ब्रह्मचर्य का भी पालन करता है तो अपने मानव जीवन का लाभ हासिल कर लेता है ।

स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य मानव की आत्मिक, मानसिक एवं नैतिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक व्रत है । इसीलिए प्रत्येक धर्म के अनुयायी और प्रत्येक देश के निवासी मुक्त कण्ठ से इसकी प्रशंसा करते हैं ।

बुद्ध धर्म के 'धम्म पद' नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

अचरित्त्वा ब्रह्मचर्यं, अलद्धा योव्वने धनम् ।  
सेन्ति चापा तिखीणा व, पुराणानि अनुत्थुनम् ॥

— धम्मपद, ११—११

अर्थात् जिन्होंने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया और जिन्होंने जवानी में धन का उपाजन नहीं किया, ऐसे दोनों प्रकार के व्यक्ति टूटे हुए धनुषों के समान पड़े रहते हैं और अपने पहले के समय की याद किया करते हैं ।

इसलिए जो अन्य प्राणी अपनी आत्मा के कल्याण का अभिलाषी है, उसे ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिए क्योंकि ब्रह्मचर्य ही मंगलमय मार्ग या मुक्ति का दिव्य द्वार है ।



धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओं, एवं बहनो !

आपको ध्यान होगा कि कुछ दिन पहले हम प्रवचनों में संवर तत्व के भेदों को क्रमशः ले रहे थे, किन्तु इस बीच पर्युषण महापर्व के आगमन से उन्हें बीच में ही छोड़ देना पड़ा। अब आज से पुनः संवर के भेदों पर विवेचन किया जायेगा। संवर के सत्तावन भेद हैं, जिनमें आने वाले बाईस परिषहों में से ग्यारह परिषहों को पूर्व में ले लिया गया है अतः आज बारहवाँ आक्रोश परिषह आपके समक्ष आएगा।

इस विषय में श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं, ण तेसिं पडिसंजले ।  
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू ण संजले ॥

—अध्ययन २, गा०, २४

इस गाथा में भगवान ने कहा है—साधु को भले ही कोई गाली दे, तिरस्कृत करे अथवा किसी भी प्रकार से अपमान करे तो भी साधु उस पर क्रोध न करे। क्रोध करने से वह स्वयं अज्ञानी के समान हो जाता है।

### आत्मा का शत्रु

क्रोध आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु होता है। वैसे तो कषाय-चतुष्क अर्थात् क्रोध, मान, मांन, भाया एवं लोभ ये चारों ही आत्मा के प्रबल बैरी हैं, जो आत्मा के समस्त गुणों का हनन करके उसे संसार-परिभ्रमण कराते रहते हैं।

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'कष' यानी संसार और 'आय' यानी लाभ। जिससे संसार परिभ्रमण का लाभ होता है उसे कषाय कहते हैं। कषाय चार प्रकार के हैं और उनमें सबसे प्रमुख है क्रोध।

क्रोध के वेग में मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और वह हिताहित के ज्ञान से शून्य हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति कभी यह नहीं सोच पाता कि उसके लिए करणीय क्या है और अकरणीय क्या। जब इस मयंकर शत्रु का अन्तःकरण में आगमन होता है तो वह अपने प्रिय से प्रिय आत्मीय सम्बन्धियों का भी लिहाज नहीं

करता क्योंकि उसके हृदय में प्रवाहित होने वाला प्रेम का पावन स्रोत सूख जाता है। पुत्र पिता का, भाई भाई का, गुरु शिष्य का एवं मित्र मित्र का शत्रु बन जाता है। बहुत समय से चला आने वाला सहज और स्वाभाविक प्रेम भी घोर द्वेष में परिणत हो जाता है। परिणाम यह होता है कि क्रोधी व्यक्ति अपने जीवन काल में भी निन्दा का पात्र बना रहता है और मृत्यु के पश्चात् भी लोगों के द्वारा नफरत पूर्वक स्मरण किया जाता है।

**यमराज ने लौटा दिया तो ?**

एक राजा अत्यन्त क्रूर और क्रोधी था। जरा-जरा से अपराध पर वह अपने राज्य के निवासियों को कठोर से कठोर दण्ड दिया करता था और कभी-कभी तो निरपराध व्यक्तियों पर भी अपना क्रोध उतारा करता था। उसके राज्य का प्रत्येक व्यक्ति राजा के डर से काँपा करता था और प्रयत्न करता था कि कभी वह राजा की दृष्टि के सामने न पड़ जाय।

अन्त में समय आने पर राजा की मृत्यु हुई और उसका पुत्र राजा बना। बड़े धूमधाम से नये राजा की सवारी शहर के प्रत्येक मार्ग से गुजरी और फिर राजमहल के द्वार पर आई। महल का द्वारपाल अत्यन्त चतुर एवं दूरदर्शी था। उसने विचार किया कि कहीं नया राजा भी अपने पिता के समान क्रोधी और अन्यायी न बन जाय इसलिए राज्य-सिंहासन पर बैठने से पहले उसे कुछ सीख देनी चाहिए।

अपनी योजना के अनुसार राजा के हाथी से उतरकर राजमहल की ओर बढ़ते ही वह फूट-फूटकर रोने लगा। राजा अभी नवयुवक ही था और सत्ता के गर्व से परिचित नहीं था अतः वह द्वारपाल को रोते देखकर नरमी से बोला—

“क्यों द्वारपाल ! मेरे क्रोधी पिता के मरने पर और मेरे राजा बन जाने पर तो राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को प्रसन्नता ही रही है। किन्तु तुम फूट-फूटकर रो रहे हो। क्या तुम्हें मेरे राजा बनने की खुशी नहीं है ?”

द्वारपाल यह सुनते ही तुरन्त राजा के चरण छूकर हाथ जोड़ते हुए बोला—  
“नहीं मेरे हुजूर ! आपके राजा बनने की तो मुझे असीम खुशी है पर मुझे याद आ रहा है कि आपके पिता बड़े महाराज जब भी महल में पधारते थे, तभी मुझे बिना बजह दो-चार चाबुक लगा दिया करते थे।”

राजा यह सुनकर हँस पड़ा और कहने लगा—“मेरे भाई ! वह समय तो गया, मेरे अन्यायी पिता अब जीवित नहीं हैं, फिर तुम क्यों रोते हो ?”

“आप ठीक कह रहे हैं महाराज ! पर मैं यह सोच रहा हूँ कि आपके पिता को यमराज उनके अन्यायों की सजा दे रहे होंगे तो उन्हें महाराज किस प्रकार सहन करते होंगे ?”

द्वारपाल की यह बात सुनकर राजा के समीप खड़ा हुआ एक उच्च पदाधिकारी बोल उठा—“अरे, अपने महाराज तो गुरूसे में आकर यमराज को भी पीट देते होंगे।”

“बस, यही तो मेरे दुःख का कारण है कि महाराज क्रोधित होकर जैसा अन्यायपूर्ण व्यवहार यहाँ करते थे, वैसा ही वहाँ यमराज के साथ भी करते होंगे तो वह हैरान होकर पुनः उन्हें यहाँ न धकेल दें और फिर राजा यहाँ आकर हमें सताने न लग जायें।”

द्वारपाल के द्वारा कही हुई यह बात सुनकर एक बुद्धिमान व्यक्ति उसकी बातों का मर्म समझ गया और बोला—“तुम सच कहते हो द्वारपाल ! क्रोधी व्यक्ति जब तक जीवित रहता है, तब तक उसके कारण लोग मयमीत रहते हैं और उसके मर जाने पर भी लोग डरते रहते हैं तथा घृणापूर्वक उसे याद करते हैं। किन्तु तुम धबराओ मत, मरने वाला व्यक्ति पुनः उसी रूप में वापिस नहीं आता और हमारे नये महाराज ! अत्यन्त कोमल दिल के हैं। इन्हें क्रोध तो छू भी नहीं गया है अतः निश्चित होकर राज्य की सेवा करो।”

नवीन राजा यह बातलाप सुन रहा था, उसने मन ही मन दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं कभी भी बिना वजह क्रोधित होकर अपनी प्रजा पर अन्याय नहीं करूँगा और किसी भी निरपराध को सताऊँगा नहीं। द्वारपाल का यही मकसद था जो पूरा हो गया।

बन्धुओ ! इस लघुकथा से आप समझ गये होंगे कि क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन में भी किसी का प्रिय नहीं बनता और मरने पर भी कभी सुगति को प्राप्त नहीं कर पाता।

वस्तुतः क्रोध अनर्थ का मूल है और मन तथा आत्मा को मलीन बनाता हुआ ज्ञान रूपी नेत्रों को बन्द करने वाला है। किसी पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है—

“An angryman shuts his eyes and opens his mouth.”

क्रोधी व्यक्ति अपनी आँखें बन्द कर लेता है किन्तु मँह खोल देता है।

एक बात और यहाँ ध्यान में रखने की है कि अन्य तीनों कषाय यानी मान, माया एवं लोभ तो करने वाले पर और अन्य व्यक्तियों पर धीमे-धीरे प्रभाव डालते हैं किन्तु क्रोध ऐसा ज्वलन्त कषाय या तीव्र अग्नि है जो हृदय में प्रज्वलित होने पर औरों को तो जलाये या न भी जलाये, पर स्वयं को तो तुरन्त ही जला देती है।

संस्कृत का एक श्लोक यही बात कहता है—

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम् ।

क्रोधः कृशानुवत्परचादन्यं वहति वा नवा ॥

इस प्रकार क्रोधी व्यक्ति औरों का अहित तो करता ही है किन्तु उससे पहले स्वयं अपना ही अहित कर लेता है, इसलिए क्रोध का सर्वथा त्याग करना चाहिए। यहाँ तक कि अपनी आत्मा का हित चाहने वाले व्यक्ति को तो किसी क्रोधी व्यक्ति के द्वारा क्रोध में गालियाँ देने, अपमान करने और अन्य किसी भी प्रकार के कटु वचन कहने पर भी अपने हृदय में क्रोध को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए।

भगवान महावीर ने इसीलिए साधु को आदेश दिया है कि भले ही कोई व्यक्ति उसे गालियाँ दे, तिरस्कृत करे या अपमानित करे, किन्तु प्रत्युत्तर में उसे रंभ-मात्र भी क्रोध नहीं करना चाहिए।

क्रोधी व्यक्ति के सन्मुख क्रोध न करने से सबसे पहला लाभ तो यह है कि हमारी आत्मा मलीन नहीं होती, दूसरे क्रोध करने वाला भी आखिर कब तक अकेला अपने क्रोध का प्रदर्शन करेगा? यानी जब उसे प्रत्युत्तर नहीं मिलेगा तो वह भी जल्दी शांत हो जाएगा।

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी म० ने एक दोहे में भी मनुष्य को यही शिक्षा दी है—

“जाणरो तू अजाण होजे, तंत लीजे ताणी।

आगलो अगन होवे तो आप होजे पाणी॥

कहते हैं “अरे मानव, तू कभी भी क्रोध मत कर। अगर तेरे समक्ष कोई अन्य व्यक्ति आगबबूला होकर अपशब्द कहने लग जाय तो भी तू उसके क्रोध को अनुभव करता हुआ अनजान बना रह, केवल उसके शब्दों में अगर कुछ सार निहित हो तो मौन भाव से ग्रहण कर ले और इस प्रकार सामने वाले क्रोधी व्यक्ति की क्रोधाग्नि के लिए शीतल जल के समान बन। ऐसा करने पर ही तू क्रोधी के क्रोध को शांत कर सकेगा।”

कहने का अभिप्राय यही है कि बुद्धिमान और त्रिविकी पुरुष को क्रोध पर विजय प्राप्त करते हुए कर्म-बन्धनों से बचना चाहिए। अगर क्रोध का उत्तर क्रोध से और दूसरे शब्दों में ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाय तो दोनों ही पक्ष समान रूप से कर्म-बन्धन करेंगे।

इसलिए भगवान ने साधु के लिए क्रोध करने का सर्वथा निषेध किया है और कहा है कि साधु को चाहे कोई गालियाँ दे, तिरस्कृत करे अथवा किसी प्रकार से उसका अपमान करे तो भी वह किसी पर क्रोध न करे क्योंकि क्रोध करने से वह स्वयं अज्ञानी साबित हो जाएगा। अर्थात् अज्ञानी के समान बन जाएगा।

जो सच्चे साधु होते हैं वे आक्रोश परिषह को सहन करके अपने कर्मों की



निर्जरा करते हैं। अगर वे ऐसा न कर सकें यानी औरों के अपशब्द सहन न करें और प्रत्युत्तर में क्रोध करें तो कषाय-भाव जाग्रत होगा, आश्रव का कारण बनेगा जो कि संवर का सर्वथा विरोधी होता है इसलिए साधु को क्रोध-कषाय का सर्वथा त्याग करके अपना अहित करने वाले का भी हित करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा कड़वे वचनों का भी भीठा उत्तर देकर कर्मों की निर्जरा करनी चाहिए।

यह बात तो प्रत्येक व्यक्ति को स्मरण रखनी चाहिए कि बुरा करने वाले का बुरा होता है और भला करने वाले का भला। एक हिन्दी के कवि ने कहा है—

बन्दगी न भूल बन्दे बन्दगी न भूल रे !

जो कोई तुझ को शूल बोवे तू बो उसको फूल रे।

तुझको फूल का फूल मिलेगा उसको शूल का शूल रे !

कवि ने अपनी आत्मा का हित चाहने वाले व्यक्ति को सीख दी है—“अरे बन्दे ! तू ईश्वर की बन्दगी करना कभी मत भूल। जो भक्त भक्ति करता है, उपदेश सुनता है, शास्त्रों का श्रवण करता है तथा परमात्मा पर आस्था रखता है वह कभी भी किसी अन्य प्राणी का अहित नहीं करता तथा अपना जीवन तप, त्याग एवं संयम-मय बनाता है। ऐसा व्यक्ति अपना बुरा करने वाले का भी कभी बुरा नहीं करता।

कवि भी यही कहता है कि “परमात्मा में विश्वास करने वाले बन्दे ! तू उसकी बन्दगी करना कभी मत भूल और भले ही तेरे लिए कोई संकट रूपी शूलों को बोये किन्तु तू उसके लिए फूलों को ही बो। निश्चय ही कालान्तर में तुझे फूल प्राप्त होंगे और उस अहितकारी को शूल मिलेंगे।”

व्यक्ति जैसा करता है वैसा ही मरता है। एक फकीर को किसी गृहस्थ ने कड़ाके की सर्दी होने के कारण एक चादर ओढ़ा दी। फकीर ने कहा—“भाई ! तुम्हारे लिए भी ऐसा ही होगा।” आशय फकीर का यही था कि जिस प्रकार तुमने मेरे दुःख को मिटाने का प्रयत्न किया है, इसी प्रकार भगवान भी तुम्हारे दुःख को दूर करेंगे। फकीर साहब चादर ओढ़कर कुछ आगे बढ़े तो किसी अन्य दुष्ट व्यक्ति ने उनकी चादर खींच ली। फकीर ने शान्त भाव से कहा—“तेरे साथ भी ऐसा ही होगा।”

इस संसार में दुर्जनों की भी कमी नहीं है। तीर्थक्षेत्रों में जहाँ अनेक भक्त अपने पापों को नष्ट करने आते हैं वहाँ दुष्ट व्यक्ति चोरी करने, बच्चों को उड़ाने और बहू-बेटियों का अपहरण करने की दृष्टि से भी आ जाते हैं। और तो और हमारे यहाँ स्थानक में भी अनेक प्रकार के व्यक्ति आया करते हैं। कुछ तो सरल भाव से आत्म-कल्याण के लिए प्रवचन के सार को ग्रहण करने की अभिलाषा रखते हैं,

पर कुछ व्यक्ति हमारे आचार व्यवहार में दोषों को देखने के लिए आ जाते हैं और कुछ तो प्रवचन सुनने के लिए आये हुए लोगों के जूते, चप्पल या मौका मिले तो दान-पात्र ही उठा ले जाने की फिराक में आते हैं। पर ऐसा करने वालों को क्या उसका फल भगतना नहीं पड़ता ? निश्चय ही भगतना होता है। बुरा कार्य करने का परिणाम भला बुरा कैसे नहीं होगा।

फकीर साहब ने यही कहा था—'मेरे पास था ही क्या ? ओढ़ाने वाले ने ओढ़ाया, तू ले जाता है ले जा। जिसने शरीर दिया है वह मुझे नंगा नहीं फिरायेगा और तेरे पास भी यह चादर हमेशा नहीं रहेगी। इसलिए कहा जाता है कि अगर कोई व्यक्ति क्रोध करे, गाली दे या किसी प्रकार से अपमानित करे तो भी प्रत्युत्तर में क्रोध नहीं करना चाहिए और किसी प्रकार के भी दुर्वचन नहीं कहना चाहिए। साधु के लिए तो क्रोध का सर्वथा निषेध है ही पर चतुर्विध संघ के लिए भी यही कल्याणकर है।

यहाँ मैं एक बात कहना चाहता हूँ कि धर्म-भावना हमारे भाइयों की अपेक्षा बहनों में अधिक होती है। त्याग और तपस्या में भी वे पुरुषों से कई कदम आगे रहती हैं। इसलिए उनसे सम्बन्धित एक गाथा कह रहा हूँ—

सुन्दर हित की देऊँ मैं सीख, हृदय में धारजे ए।

दुर्लभ उत्तम तन को पाय, कुल उजियालजे ए।

का-का, कंथ आम्ना को नित तू पाल जो रे

खा-खा, क्षमा धरीने रीजे, ग-गा गाल कलह तज दीजे

घा-घा घर में सुजस लीजे, न-ना नरम वेण तज कठिन मत उच्चारजे ए।

यह पद्य क-का बत्तीसी का है और इसमें बहनों के लिए कहा गया है—  
"बहनो ! मैं तुम्हें अत्यन्त सुन्दर शिक्षा दे रहा हूँ, इसे अपने हृदय में मली-भाँति धारण कर लेना। क्योंकि मानव जन्म प्राप्त होना बड़ा कठिन है। और जब यह प्राप्त हो ही गया है तो इसे सार्थक करके अपने कुल की शोभा बढ़ाना।

हम सभी जानते हैं कि मानव शरीर पाकर भी जहाँ पुरुष उत्तम गुणों और संस्कारों को धारण करके भी एक ही कुल को उज्ज्वल बनाता है वहाँ बहनें अगर संस्कारशील हों और उत्तम आचार-विचारों को धारण करने वाली हों तो वे अपने मातृकुल एवं श्वसुरकुल, दोनों को ही सुशोभित करती हैं।

अभिप्राय यही है कि अपने समुदाय और पीढ़, दोनों ही घरानों को उज्ज्वल बनाना या कलंकित करना नारियों पर निर्भर है।

संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है—

नद्यश्च नार्यश्च सदृशप्रभावाः

समानि कूलानि कुलानि तासाम् ।

तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति-

.....॥

कहते हैं—नदियों का और नारियों का प्रभाव समान ही होता है। नदियों के जिस प्रकार दो कूल यानी किनारे होते हैं उसी प्रकार नारियों के दो कुल अर्थात् घराने होते हैं। कूल और कुल में केवल ह्रस्व और दीर्घ का ही अन्तर है।

आगे बताया है कि नदी जब बाढ़ आदि के कारण दोषपूर्ण हो जाती है तो वह अपने ही दोनों किनारों को गिराती है और नारी जब दोषयुक्त बनती है तो वह अपने पीहर एवं समुराल, इन दोनों घरानों को गिराती है अर्थात् उन्हें कलंकित कर देती है।

पर जिस प्रकार नदी निर्दोष रहने पर अनेकानेक प्राणियों को जीवन धारण करने के लिए जल प्रदान करती है तथा लाखों एकड़ जमीन को सींचकर प्राणियों की उदरपूर्ति में सहायक बनती है उसी प्रकार नारी भी सदाचार एवं शील आदि उत्तम गुणों को धारण करके अपने दोनों कुलों को सुशोभित करती है तथा प्रशंसनीय बनाती है। मुसन्तान को और तीर्थंकर तक को भी जन्म देकर वह रत्नकुक्षी कहलाने लगती है।

इसीलिए कवि बहनों को शिक्षा देने के लिए 'क' 'ख' आदि अक्षरों के आधार पर एक-एक सुन्दर स्त्री का निर्माण करते हैं। सर्वप्रथम 'क' के द्वारा वे यह कहते हैं कि कन्त की यानी पति की आज्ञा का पालन करो। अगर पति पूर्व में जाये और पत्नी पश्चिम में, अर्थात् दोनों के विचार परस्पर विरोधी हों तो घर-गृहस्थी की गाड़ी चलनी असम्भव हो जाती है और इसके विपरीत अगर विचारों में समानता हो तो घर स्वर्ग बनता है। इसके अलावा अगर स्त्री बुद्धिमान, विवेकी, चतुर एवं अपने पति पर अखण्ड स्नेह रखती है तो वह विरोधी विचार रखने वाले अविवेकी पति को भी सन्मार्ग पर ले आती है। एक ऐतिहासिक कथा से आपको यह बात स्पष्ट समझ में आ जायेगी।

### पति की आज्ञा का पालन

अकबर के शासनकाल में राजा मानसिंह आमेर में राज्य करते थे। वे अकबर के प्रिय पात्र थे और आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। राजा मानसिंह के तीन रानियाँ थीं। उनमें जो सबसे बड़ी थी, वह अपनी कुलीनता और

सौन्दर्य के अभिमान से भरी रहती थी। मंजली रानी बुद्धिमान, शीलवान एवं पति पर अटूट स्नेह रखने वाली थी और सबसे छोटी रानी बड़ी चालाक थी तथा अपनी सौतीं से ईर्ष्या रखती हुई राजा को केवल अपने ही प्रेम-पाश में बाँधे रखने के प्रयत्न में रहती थी।

एक बार बादशाह अकबर ने राजा मानसिंह को अफगानों के अचानक धावा कर देने से उनका मुकाबला करने के लिए सेना सहित भेज दिया। मानसिंह ने भी शत्रु का डटकर मुकाबला किया और उसके छक्के छुड़ाकर विजय प्राप्त की। उनके लौटने पर नगर में उनका शानदार स्वागत किया गया।

विजय का सेहरा बाँधे हुए राजा अपने महल में लौटे और उस दिन छोटी रानी के यहाँ पहुँच गये। रानी बड़ी प्रसन्न हुई और उसने राजा की आवभगत की। पर कुछ समय बाद उसने मौका देखकर राजा से कहा—“दुजूर, आपकी मंजली रानी आपकी अनुपस्थिति में पीहर जाकर आई हैं। आपकी आज्ञा के बिना इस प्रकार चला जाना कितना बड़ा अपराध है। क्या इस अपराध का आप दण्ड नहीं देंगे ?”

“क्यों नहीं दूँगा दण्ड ? जरूर दूँगा आखिर रानी ने समझ क्या रखा है !” कहकर थके हुए राजा सो गये और प्रातःकाल उठकर अपने राज्य-कार्य में लगे। किन्तु जब शाम हुई और वे मंजली रानी के भवन में पहुँचे तो उन्हें पिछले दिन की हुई छोटी रानी की शिकायत का ध्यान आया और वे क्रोध में भरकर रानी से बोले—

“रानी ! तुम हमारी इजाजत के बिना ही अपने पीहर चली गई ? तुमने राज्य-मर्यादा का उल्लंघन करके भारी अपराध किया है और इसके दण्डस्वरूप में तुम्हें देश-निकाला देता हूँ।”

मंजली रानी यह सुनकर हक्की-बक्की रह गई पर हिम्मत करके बोली—  
“महाराज ! यह सत्य है कि मुझे आपकी आज्ञा के बिना नगर से बाहर कदम भी नहीं रखना चाहिए। किन्तु मेरे पिताजी सख्त बीमार हो गये थे और उन्होंने मुझे अविलम्ब बुलाने के लिए सन्देश भेजा था अतः मैं मायके चली गई थी। फिर भी मैं अपना अपराध कुबूल करती हूँ और आप से क्षमा याचना करती हूँ।”

राजा मानसिंह उस समय नशे में धुत्त हो रहे थे अतः रानी की किसी बात पर ध्यान न देते हुए उन्होंने कह दिया—“मैं तुम्हारी कोई भी बात सुनना नहीं चाहता बस, तुम अपनी इच्छानुसार अपने पसन्द की कोई भी एक चीज लेकर मेरे नगर से चली जाओ।”

इतना कहते-कहते वे नशे से बेसुध होकर पलंग पर गिर पड़े और पूर्णतया अचेत हो गये। रानी शोकविह्वल हो रही थी पर उसका विवेक और पति के प्रति

अगाध स्नेह नष्ट नहीं हुआ था। उसने कुछ समय तक गम्भीरता से चिन्तन किया, तत्पश्चात् उसी समय दो पालकियाँ मंगवाईं और एक में दासियों की सहायता से पति को उठाकर सुलाया तथा दूसरी में स्वयं बैठकर अपने पिता के नगर को चल दी। उसका पीहर दूर नहीं था, रात्रि के पिछले प्रहर तक वह वहाँ पहुँच गई। बड़ी सावधानी से उसने पति को महल में पहुँचवाया तथा पति के समीप बैठकर उनके जागने की प्रतीक्षा करती रही।

मानसिंह शराब की खुमारी में पड़ा रहा किन्तु प्रातःकाल होते-होते उसे होश आया और उसने आँखें खोलीं। आँख खुलते ही जब उसने चारों ओर अपनी निगाह डाली तो सभी कुछ बदला-बदला पाया। उसने देखा कि जिस शयनकक्ष में वह रात्रि को आया था, वह नहीं था और किसी दूसरे ही भवन में दूसरी शैथ्या पर वह लेटा हुआ था। रानी भी समीप ही बैठी थी और उसे देखते ही वह पुनः क्रोध से बोल उठा—“मैं कहाँ पर हूँ और कौन मुझे इस नये स्थान पर लाया है ?”

रानी ने अपने धड़कते हुए हृदय को संभाला और मुस्कराते हुए शांतिपूर्वक उत्तर दिया—

“महाराज ! आप इस समय अपनी समुराल में हैं और मैं ही आपकी आज्ञा-नुसार आपको यहाँ लाई हूँ।”

राजा पुनः गरजे—“मैंने ऐसी आज्ञा तुम्हें कब दी ?”

रानी बोली—“आपने रात को ही कहा था कि अपनी मनपसन्द की केवल एक वस्तु लेकर मेरे नगर से निकल जाओ। बस, मेरे मनपसन्द की वस्तु आप ही थे अतः आपको लेकर मैं रातोंरात आपके राज्य से चलकर यहाँ आ गई हूँ। इस प्रकार मैंने आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन किया है।”

राजा मानसिंह का क्रोध रानी के ऐसे वचन सुनते ही काफूर हो गया और उसने हँसकर अपने शब्द वापिस लेते हुए कहा—“रानी ! मैं तुम्हारे समक्ष शर्मिन्दा हूँ और अपने देश-निकाले की बात को इसी क्षण वापिस लेता हूँ। चलो, अब हम दोनों तुम्हारे पिताजी की कुशल-क्षेम पूछने चलते हैं।”

बन्धुओ ! पतिव्रता और विवेकवान नारियाँ ऐसी ही होती हैं। राजा मानसिंह की मंझली रानी ने अपने पति की आज्ञा का पालन भी किया और अपनी उत्तम सूझ-बूझ से अपने ऊपर आये हुए संकट के बादलों को सहज ही छिन्न-भिन्न कर दिया। ऐसा वे ही नारियाँ कर सकती हैं जो अपने पति पर पूर्ण स्नेह रखती हैं तथा उनकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य करने की क्षमता रखती हैं। इसीलिये कवि ने सर्वप्रथम ‘क’ अक्षर को लेकर नारी जाति को कंत की, अर्थात् पति की आज्ञा का पालन करने की सुन्दर सीख दी है।

दूसरी सीख 'ख' अक्षर के द्वारा क्षमा धारण करने की कवि ने दी है। आप जानते ही हैं कि जिस घर में स्त्री संस्कारशील, गुणवान एवं सहनशील होती है वही घर सुख एवं शांति का आगार कहलाता है। जानियों ने नारी को पृथ्वी के समान सहनशील बताया है। यह बात पूर्णतया सत्य है। आप पुरुष सदा स्त्रियों पर रौब जमाया करते हैं। बात-बात में बिगड़ना और कटुवचन कहना पुरुष होने के नाते आप अपने जन्मसिद्ध अधिकार में मानते हैं। किन्तु आपके घर की सुलक्षणी नारियाँ घर में अपना समान अधिकार और समान महत्त्व समझती हुई भी आपके दुर्व्यवहार को सहज ही पी जाती हैं। अगर नारी का महत्त्व नर के बराबर ही नहीं होता तो हमारे पूर्वज एवं विद्वान, पुरुष एवं स्त्री को गृहस्थी रूपी गाड़ी के दो पहिये क्यों कहते ?

कवि गिरिधर ने भी कहा है—

जीवन-गाड़ी ज्ञान धुरी, पहिये दो नर-नारी ।  
 सुख मंजिल तय करन हित, जो रहूँ इन्हें सम्हारि ॥  
 जो रहूँ इन्हें सम्हारि लगे ना ऊँचे नीचे ।  
 दोनों सम जब होहि, चलहु फिर आँखें मीचे ॥  
 कह गिरिधर कविराय, यही तुम धारो निज मन ।  
 या विधि हों नर-नारी, सफल तब निश्चय जीवन ॥

कहते हैं—गृहस्थ-जीवन एक गाड़ी के समान है और उसकी धुरी ज्ञान एवं विवेक है। आगे कहा है कि इस गाड़ी के दोनों पहिये स्त्री एवं पुरुष हैं, जिन्हें बड़ी सावधानी से जोड़ना चाहिए ताकि वे ऊँचे-नीचे रहकर गाड़ी को नुकसान न पहुँचाएँ अर्थात् उसका सन्तुलन न बिगाड़ें।

कवि के कहने का अभिप्राय यही है कि गृहस्थ-जीवन रूपी गाड़ी को नर एवं नारी अपने सम्यक् ज्ञान एवं विवेक रूपी धुरी के द्वारा सन्तुलित रखते हुए चलाएँ तो वह इतने सुन्दर ढंग से चलती रहेगी कि कभी भी किसी तरह की परेशानी अथवा चिन्ता सामने नहीं आयेगी।

तो कवि ने पुरुष एवं स्त्री का समान महत्त्व बताया है और पुरुष के अन्याय एवं अत्याचार को भी सहन करते हुए स्त्री को क्षमा-भाव रखने की शिक्षा दी है। वह इसीलिये कि अगर वह सहनशीलता एवं क्षमा-भाव रखेगी तो जीवन रूपी गाड़ी का सन्तुलन बिगड़ेगा नहीं और घर में सतत सुख एवं शांति बनी रहेगी।

आगे 'ग' अक्षर को लेकर गाली-गलौज एवं कलह का सर्वथा त्याग करने के लिये कहा है। हमारे यहाँ प्रायः कहा जाता है कि स्त्रियाँ कलहप्रिय होती हैं और तनिक-तनिक सी बात पर गाली-गलौज पर उतर आती हैं। इस विषय में मेरा विचार

यह है कि ऐसा तभी होता है, जब नारियों को पुरुषों के समान प्रारम्भ से शिक्षा नहीं दी जाती है और उनमें सावधानी से उत्तम संस्कार नहीं भरे जाते ।

प्राचीन काल में, दूसरे शब्दों में भारतीय सभ्यता के प्रारम्भिक काल में नारी जाति की महत्ता और प्रतिष्ठा का बड़ा ध्यान रखा जाता था । किन्तु मध्य युग में ऐसी अनिष्टकर विचारधारा फैली कि पुरुषों ने नारी जाति के साथ बड़ा अन्यायपूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया । सामाजिक एवं धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में उसकी अवहेलना की जाने लगी । अपने आपको महान् नीतिकार एवं विद्वान् कहने वाले व्यक्तियों ने तो यहाँ तक कहा कि नारी स्वभाव से ही चंचल, मूर्ख, चरित्रहीन एवं कलहप्रिय होती है । इसलिये उसे सदैव डंडे के बल पर चलाना चाहिए तथा कमी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए । किसी-किसी ने तो यहाँ तक कहा कि—

स्त्रियो हि मूलं निधनस्य पुंसः,

स्त्रियो हि मूलं व्यसनस्य पुंसः ।

स्त्रियो हि मूलं नरकस्य पुंसः,

स्त्रियो हि मूलं कलहस्य पुंसः ॥

अर्थात्—स्त्रियाँ पुरुष की मृत्यु का कारण हैं, स्त्रियाँ पुरुष की विपत्ति का कारण हैं, स्त्रियाँ नरक गति का मूल कारण हैं, और स्त्रियाँ ही पुरुष के कलह का कारण हैं ।

इतना ही नहीं, स्त्रियों के लिये यह भी कहा गया—

अनृतं साहसं माया, मूर्खत्वमतिलोभिता ।

अशौचं निर्दयत्वञ्च, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥

यानी झूठ, साहस, कपट, मूर्खता, लोभ, अपवित्रता और क्रूरता ये सब स्त्रियों के स्वभावजन्य दोष हैं ।

बन्धुओ, मध्ययुग के पुरुषों की यह विचारधारा उनकी स्वार्थपरायणता और घोर अन्याय की सूचक है साथ ही पुरुषवर्ग के लिये महान् कलंक की बात है । क्या पुरुषों को जन्म देकर उन्हें अपने कलेजे का रक्त पिलाने वाली तथा अपने सम्पूर्ण मुखों का बलिदान करके सैकड़ों कष्टों को सहन करती हुई भी अपनी सन्तान एवं पति को सुखी रखने का प्रयत्न करने वाली नारी पुरुष के कलह और उसकी मृत्यु का कारण भी बन सकती है ? कमी नहीं । हमारे शास्त्र पुकार-पुकार कर यही कहते हैं कि कोई भी प्राणी किसी दूसरे को स्वर्ग या नरक में नहीं भेज सकता । अपने-अपने कृतकर्मों के अनुसार ही वह विभिन्न योनियों की प्राप्ति करता है । अगर स्त्रियाँ पुरुषों के नरक का मूल या कारण होतीं तब तो सभी पुरुष नरक में ही जाते, दूसरी कोई योनि उनके लिये प्राप्य नहीं होती ।

हम तो देखते हैं कि भारत के इतिहास में अनेकानेक महान् नारियाँ हुई हैं। उनमें झांसी की रानी के समान समरभूमि में लड़ने वाली वीरांगनाएँ, सती सीता एवं सुभद्रा जैसी पतिव्रताएँ, ब्राह्मी, सुन्दरी, गार्गी एवं मैत्रेयी जैसी विदुषियों और चन्दनबाला जैसी धर्मपरायणा नारियाँ हुई हैं। हमारे जैन संघ में तो महासतियों की इतनी प्रतिष्ठा है कि प्रत्येक जैन श्रावक पुरुष होकर भी प्रातःकाल उठकर मंगल-कारिणी सोलह सतियों के नाम का उच्चारण एवं उनका गुणगान करता है।

ध्यान में रखने की बात है कि जैन धर्म के अलावा अन्य धर्म भी नारी जाति को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं—

विद्याः समस्तास्तथ देवि ! भेदाः,

स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।

या याश्च ग्राम्यदेव्यः स्युस्ताः सर्वाः प्रकृतेः कलाः ।

कलांशांशसमुद्भूताः, प्रति विश्वेषु योषितः ॥

(देवी भागवत)

अर्थात् समस्त विद्याएँ और सब स्त्रियाँ देवी का ही रूप हैं।

समस्त ग्राम्यदेवियाँ और समस्त विश्वस्थिता स्त्रियाँ प्रकृति-माता की अंश-रूपिणी हैं।

नारी जाति की ऐसी महत्ता का अनुभव करने के कारण ही वे यह भी मानते हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः ।

कितनी सुन्दर एवं आदरसूचक विचारधारा है कि जहाँ नारियों का सम्मान किया जाता है वहाँ देवता भी निवास करते हैं अर्थात् वह स्थान स्वर्ग बन जाता है।

पर इन विचारों को मूर्तरूप में लाने के लिए बालक के समान ही बालिकाओं को भी शिक्षा-प्राप्ति का समुचित अवसर एवं साधन मिलने चाहिये। आखिर जन्म से तो कोई भी शिशु अपने साथ ज्ञान एवं सुसंस्कार लेकर नहीं आता। वह धीरे-धीरे ही अपने आस-पास के वातावरण से, शिक्षक से अथवा धर्मगुरुओं से इन्हें प्राप्त करता है और इसीलिये अगर बालिकाओं को भी बालकों के समान ही ज्ञान-प्राप्ति के साधन प्राप्त होंगे तो वह सन्नारी बनेगी और अपने घर को स्वर्ग बना सकेगी।

इतना मैं अवश्य कहता हूँ कि बालक की अपेक्षा बालिका अधिक संवेदनशील, भावक, समझदार एवं ग्राह्यशक्ति को धारण करने वाली होती है अतः जहाँ लड़के साधन अधिक मिलने पर भी उनसे लाभ कम ग्रहण करते हैं और अधिकतर उसका दुरुपयोग भी करते हैं, वहाँ लड़कियाँ संस्कार एवं ज्ञान-प्राप्ति के साधन कम मिलने पर भी उनसे अधिक लाभ लेती हैं और जो कुछ उन्हें प्राप्त होता है, उसे दृढ़ता से



आत्मसात कर लेती हैं। अपने उत्तम संस्कारों को और उत्तम विचारों को वे प्राण जाने पर भी नहीं छोड़तीं। यही कारण है कि वे सफल पुत्री, सफल पत्नी और अन्त में सफल माता सिद्ध होती हैं और उनके कारण ही घर स्वर्ग बनता है।

इसीलिए कवि ने पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक महत्त्व देते हुए उन्हें सीख दी है कि—“तुम कलह, कट-वचन और अग्रिय व्यवहार करने का सर्वथा त्याग कर दो और घर में सुयश की प्राप्ति करो।”

वस्तुतः उसी व्यक्ति से अपील की जाती है या आग्रह किया जाता है जिसके द्वारा अपील या आग्रह को माने जाने की आशा होती है। आप जानते ही हैं कि आपकी बिरादरी के व्यक्ति यानी पुरुष अत्यन्त अस्थिर-चित्त होते हैं। प्रथम तो वे अच्छी बात को जल्दी ग्रहण करते नहीं, और किसी प्रकार कर भी लेते हैं तो अभिमान, ईर्ष्या, लोभ या क्रोध की एक लहर आते ही सब भूल जाते हैं। इसके अलावा जब वे बाह्य परिस्थितियों से मुकाबला नहीं कर पाते तो घर आकर स्त्रियों पर बरसना, उन्हें गालियाँ देना, मारना या और कुछ न बन पाये तो खाने की थाली, गिलास या कटोरियाँ फेंक देना अपना जन्मसिद्ध या पुरुषोचित्त कार्य समझते हैं।

किन्तु नारी सहनशील होती है। वह स्वयं महान् कष्ट सहकर भी घर की व्यवस्था करती है, सन्तान का पालन-पोषण करती है और ऊपर से पुरुष के अत्याचारों को हँसते हुए सहकर उसे क्षमा करती हुई सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करती है। ये विशेषताएँ केवल उसी में होती हैं अतः उससे ही कवि आग्रह करता है कि—“तुम ‘घ’ अक्षर के द्वारा घर में सुयश की प्राप्ति करना और ‘न’ के द्वारा नरम यानी कोमल शब्दों के उच्चारण करने का ही प्रयत्न करना। कभी भूलकर भी अपनी सहज मधुरता का त्याग करके कठोर शब्दों का उच्चारण मत करना। क्योंकि कट-वचन महान् अनर्थ के कारण बनते हैं और कभी-कभी तो वे हृदयों को जीवन भर सालते रहते हैं।

महाभारत में कहा भी है—

कर्णिनालीक-नाराचान्, निर्हरन्ति शरीरतः ।

वाक्शल्पस्तु न निर्हन्तुं, शक्यो हृदिशयो हि सः ॥

—अनुशासन पर्व १०४

बन्दूक की गोली एवं तीर तो प्रयत्न करने पर शरीर से निकल ही जाते हैं, किन्तु वचन का शल्य हृदय में चभता ही रहता है।

‘अंधे के बेटे अंधे होते हैं।’ द्रौपदी के द्वारा उपहास में कहा गया यह कट-वाक्य दुर्योधन के हृदय से जीवन के अन्त तक भी नहीं निकला और महाभारत के रूप में महान् अनर्थ का कारण बना। इसीलिये कवि बहनों से आग्रह करता है कि वे

पुरुषों के अन्याय, अत्याचार या क्रूरता को भी पृथ्वी के समान सहन करते हुए अपने कोमल स्वभाव का त्याग न करें तथा जिद्दा से कभी कटु शब्दों का उच्चारण न करते हुए अपनी श्रेष्ठता को आदर्श के रूप में जगत के समक्ष रखें ।

तो बन्धुओ, प्रसंगवश मैंने एक कवि के द्वारा बहनों के लिए दी गई सीख को आपके सामने रख दिया है पर हमारा मूल विषय 'आक्रोश परिषह' को लेकर चल रहा है ।

'आक्रोश परिषह' बारहवाँ परिषह है और इस परिषह को सहन करने के लिए भगवान ने साधु को आदेश दिया है । उन्होंने कहा है — 'भले ही कोई भी पुरुष साधु की निन्दा करे, किन्तु साधु प्रत्युत्तर में कभी क्रोध न करे । क्योंकि निन्दा करना मूर्खों का स्वभाव होता है और वे ही इस प्रकार के जघन्य कार्य क्रिया करते हैं ।

किन्तु साधु ज्ञानी होता है और फिर भी अगर वह मूर्खों के द्वारा की गई निन्दा से क्रोध में आकर उन्हें बुरा-मला कहे तो फिर उन मूर्खों में और उसमें क्या अन्तर हो सकता है ? कुछ भी नहीं, अर्थात् वह भी उन निन्दा करने वाले अज्ञानियों की या मूर्खों की श्रेणी में आ जाएगा । अतएव साधु का कर्तव्य है कि वह कभी भी क्रोध के आवेश में न आए, उलटे अपने को कोसने वाले, निन्दा करने वाले या कटु-वचन कहने वाले व्यक्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए समभाव में विचरण करे । वह यही विचार करे — "यदि मुझमें सत्य ही यह दोष है तब तो यह व्यक्ति उचित कह रहा है, फिर मैं इस पर क्रोध क्यों करूँ और अगर यह असत्य कहता है तो मेरी निन्दा करके यह अपने कृतकर्मों का फल स्वयं ही भोगेगा और इसलिये मैं व्यर्थ ही इस पर क्रोध करके अपनी आत्मा को दोषी क्यों बनाऊँ ?"

इसी प्रकार प्रत्येक साधु और साधक को अपनी निन्दा और प्रशंसा से उपरत रहकर अपने साधना-पथ पर बढ़ना चाहिए । ऐसा करने वाला साधक ही सच्चा ज्ञानी कहला सकता है ।

'श्री आचारांग सूत्र' में कहा भी है—

उभेह एणं बहिया य लोगं ।

से सध्व लोगम्मि जे केइ विष्णू ॥

अर्थात्—जो कोई अपने विरोधियों के प्रति भी उपेक्षा अथवा तटस्थता का भाव रखता है, वह सम्पूर्ण विश्व के विद्वानों में अग्रणी विद्वान है ।

वस्तुतः वही सच्चा साधक है जो पूर्ण समभाव का आराधन करता है और किसी भी स्थिति में अपनी आत्मा के स्वभाव को नहीं छोड़ता तथा क्रोध को अपने अन्दर स्थान नहीं देता । जो भव्य प्राणी सच्चे मायनों में संत कहलाते हैं और 'आक्रोश-परिषह' को पूर्ण समता से सहन करते हैं वे ही अपने मानव जन्म को सार्थक करते हुए आत्मा का कल्याण करते हैं ।



धर्मप्रेमी बन्धुओ ! माताओ एवं बहनो !

संवर के सत्तावन भेदों में से पाँच समिति, तीन गुप्ति और ग्यारह परिषदों का विवेचन किया जा चुका है। कल मैंने बारहवें 'आक्रोश परिषद्' के विषय में कुछ कहा था और आज भी उसी को लेकर कुछ कहने जा रहा हूँ।

मराठी भाषा में एक आर्या है, जिसमें लिखा है—

**दिधले दुःख परानें, उसणे फेडूं नयेचि सोसावे,  
शिक्षा देव तयाला, करील म्हणूनि उगीच बंसावे !**

कितना सुन्दर पाठ है ? कहते हैं, अगर कोई व्यक्ति तुम्हें दुःख दे तो भी बदले में तुम उसे दुःख मत दो। किसी से पाँच रुपये कर्ज लेने पर तो उन्हें चुकाना चाहिए पर मिले हुए दुःख को वापिस करने का तो कदापि विचार नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि अगर कोई व्यक्ति बुरा कार्य करता है तो उसका परिणाम स्वयं ही उसके सामने आ उपस्थित होता है। कृतकर्म कभी भी अपना कर्ज वसूल किये बिना नहीं रहते, फिर हमें दुःख के बदले में ही सही पर दूसरे को दुःख देकर अपने कर्मों का बन्धन क्यों करना चाहिए ? हमें दुःख देने वाला तो उसका फल स्वयं ही भुगत लेगा फिर हम क्यों बीच में पड़कर जबर्दस्ती पाप कर्म बाँधें और उसका भुगतान करें ? हमें तो अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करना चाहिए।

संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है—

**उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ?  
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ।**

कहते हैं उपकार करने वाले के साथ साधुता रखने पर क्या विशेषता है ? सच्चा साधु तो यह है जो अपकार करने वालों के प्रति भी साधुता रखे अर्थात् उसका भी उपकार करे और उपकार करते न बने तो समभाव रखे।

'आक्रोश परिषद्' को लेकर भी भगवान महावीर ने साधु के लिए आदेश दिया है—

सोच्छाभं फरसा भासा, दारुणा गामकष्टगा ।  
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, २—२५

दूसरों की अत्यन्त कठिन और कंटक के समान तीक्ष्ण चुम्बने वाली भाषा को सुनकर भी साधु मौन रहे और उन पर मन से भी क्रोध या द्वेष न करे ।

वस्तुतः वही सच्चा साधु है जो कटु शब्द सुनकर भी क्रोध न करे तथा मौन-भाव से उन्हें सहन करे ।

### मौन की महिमा

मौन का जीवन में बड़ा भारी महत्व है । जो व्यक्ति अधिक समय तक मौन धारण किये रह सकता है वह प्रथम तो लड़ाई-झगड़े से बचता है, दूसरे अपने उस समय को आत्म-साधना में लगा सकता है । महात्मा कबीर ने कहा भी है—

वाद-विवादे विष घणां, बोले बहुत उपाध ।  
मौन गहे सब की सहे, सुमिरे नाम अगाध ॥

कहते हैं वाद-विवाद करने से आपसी कलह बढ़ती है और बोलने वालों के दिलों में वैर रूपी विष बढ़ता जाता है । कभी-कभी तो यह विष इतना व्याप्त हो जाता है कि जीवन पर्यन्त नहीं उतरता और इस प्रकार अनेक उपाधियों का यानी मुसीबत और परेशानियों का कारण बनता है । किन्तु इसके विपरीत कटुता के समक्ष मौन धारण कर लेने से झगड़ा वहीं शांत हो जाता है । इसका कारण यही है कि क्रोध-रूपी आग लगने पर मौन शीतल जल का काम करता हुआ तुरन्त उसे मिटा देता है और अगर प्रत्युत्तर में कटु शब्द कहे जायें तो वे आग के लिए और ईंधन का काम करते हैं अर्थात् उसे बढ़ा देते हैं । इसलिए कटु-वचनों का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

श्री स्थानांग सूत्र में छः प्रकार के वचनों का निषेध किया गया है । वे इस प्रकार बताये गये हैं—

“इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए—अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसित्तवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउसवित्तं वा पुणो उदीरित्तए ॥”

छः प्रकार के वचन नहीं बोलने चाहिए—

(१) असत्य वचन, (२) तिरस्कार युक्त वचन, (३) झिड़कते हुए वचन,

(४) कठोर वचन (५) अविचारपूर्ण वचन एवं (६) शांत हुए कलह को पुनः भड़काने वाले वचन ।

अभिप्राय यही है कि इन छः प्रकार के वचनों में से किसी भी प्रकार के वचन कहने से कटुता बढ़ती है और चित्त के अशांत रहने से आत्म-साधना में बाधा आती है । इसीलिए भगवान ने माधु को कटुवचन सुनकर भी मौन रहने की आज्ञा दी है ।

शांत कैसे रहते हैं आप ?

संत एकनाथ के समीप एक व्यक्ति आया और बोला—“भगवन् ! आपका जीवन कितना सादा, सरल और निष्पाप है ? आप कभी क्रोध नहीं करते, किसी से लड़ाई-झगडा नहीं करते और प्रायः मौन ही रहा करते हैं । ऐसा कैसे कर पाते हैं आप ?”

एकनाथ जी ने व्यक्ति की बात सुनी, उस पर कुछ क्षण विचार किया और बोले—“माई ! मैं तो जैसा हूँ सो हूँ पर तुम्हारे विषय में मुझे कुछ ज्ञान हुआ है, अगर तुम चाहो तो कह दूँ ?”

भक्त संत की बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला—“महाराज ! अवश्य कहिये । भला आपकी बात मैं नहीं सुनूँगा ! संतों के प्रवचन, उपदेश और कथन से बढ़कर सुनने वाली और कौनसी बात हो सकती है ?” बड़ी उत्सुकतापूर्वक उस व्यक्ति ने पूछा ।

एकनाथ जी शांत स्वर से बोले—“मुझे ऐसा मालूम हुआ है कि आज से सातवें दिन तुम मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे ।”

संत की बात सुनते ही उस व्यक्ति पर मानों बिजली गिर पड़ी । पृथ्वी उसे अपने पैरों तले से खिसकती हुई प्रतीत हुई । आस-पास की सम्पूर्ण वस्तुएँ भी जैसे उसके चारों ओर तेजी से चक्कर काटती हुई प्रतीत हुईं । कुछ देर वह पाला पड़ी हुई फसल के समान निर्जीव-सा बैठ रहा और उसके पश्चात् द्रुतगति से अपने घर की ओर भागा ।

एक-एक करके छः दिन व्यतीत हो गए और ठीक सातवें दिन संत एकनाथ जी उस व्यक्ति के घर जा पहुँचे । व्यक्ति घर पर ही था, उसे देखते ही उन्होंने पूछा “क्यों माई कैसे हो ?”

वह व्यक्ति बोला—“महाराज ! बस मृत्यु की ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ । आज सातवाँ दिन है ।”

पर मैं यह पूछ रहा हूँ कि तुम्हारे ये छः दिन कैसे निकले ? इन दिनों में तुमने कितने पाप-कार्य और कितने पुण्य-कार्य किये ? तुम्हारे मन में कैसे विचार आए ?”

वह व्यक्ति बड़ी शांति पूर्वक बोला—

“गुरुदेव ! अब मैं कैसे बताऊँ कि ये दिन कैसे निकले । फिर भी आपसे यही कहता हूँ कि इन दिनों में मैंने अपनी समझ में कोई भी पाप-कार्य नहीं किया । तनिक भी बेईमानी नहीं की, किसी को धोखा नहीं दिया, मन, वचन और कर्म से हिंसा से बचा, झूठ नहीं बोला और किसी से कटु-शब्द कहकर लड़ा नहीं । इतना ही नहीं मृत्यु को समीप पाकर मैं अधिक से अधिक मौन रहा और वह समय चिंतन-मनन और शुभ विचारों में गुज़ारता रहा ।”

संत एकनाथ जी उस व्यक्ति की बात सुनकर मुस्कराये और कहने लगे—  
 “भाई ! मैंने तुम्हारी मृत्यु की बात केवल इसीलिए तुमसे कही थी कि तुम, भीत को सामने पाकर किस प्रकार समय व्यतीत किया जाता है, यह समझ सको । उस दिन तुमने मेरे जीवन के लिए निष्पाप एवं सरल किस प्रकार बना यह पूछा था, उसका उत्तर मैं शब्दों में नहीं दे सकता था अतः तुम्हें स्वयं अनुभव करने के लिए मृत्यु के विषय में कहा था । अब तुम स्वयं समझ सकते हो कि मृत्यु को समाने पाकर व्यक्ति का जीवन कैसा बन जाता है । मैं तो प्रतिक्षण मृत्यु को अपने सामने खड़ी हुई देखता हूँ और इसीलिए अपने आपको अन्याय, अत्याचार, हिंसा, क्रोध, गाली-गलौज आदि से बचाकर रखता हूँ । साथ ही इन सबसे बचा हुआ समय मौन रहकर आत्म-साधना में लगाता हूँ । अगर मैं मौन न रहूँ और दूसरों की निन्दा, भर्त्सना, लड़ाई तथा कलह आदि में अपना समय बर्बाद करूँ तो फिर आत्म-चिन्तन एवं साधना किस प्रकार करूँ ? संत को तो अधिक से अधिक वाद-विवाद से बचना चाहिए तथा अपना समय मौन रहकर आत्मिक कार्यों में लगाना चाहिए, इसके बिना साधु अपने उद्देश्य में कदापि सफल नहीं हो सकता ।”

हमारे जैन शास्त्र तो मौन को सम्यक्त्व मानते हैं तथा उसे मुनित्व का अनिवार्य अंग कहते हैं ।

आचारांग सूत्र में कहा है—

“जं सम्मति पासहा, तं मोणंति पासहा ।  
 जं मोणंति पासहा, तं सम्मति पासहा ।  
 ण इमं सबकं सिडिलोहि,  
 अछिञ्जमार्णेह गुणासाएहि, बंकसमायारेह,  
 पमत्तेहि, गारमावसंतेहि ।”

अर्थात्—जो सम्यक्त्व है, वह मौन मुनित्व है और जो मौन है, वह सम्यक्त्व है । शिथिल, आर्द्र, विषयास्वादी, वक्रचारी, प्रभक्त और घर में रहने वाले मनुष्यों के द्वारा यह सम्यक्त्व एवं मौन शक्य नहीं है ।

तो बन्धुओ, भगवान ने इसीलिए साधु को किसी के भी द्वारा कटु, निन्दनीय एवं भर्त्सनायुक्त शब्द कहने पर भी मौन रहकर समता से उन्हें सहन करने का आदेश दिया है। वाद-विवाद या कलह को समाप्त करने के लिए मौन महौषधि है। साथ ही मौन आत्म-साधना के लिए सबसे बड़ा सहायक भी है। साधक जब वाद-विवाद, में अथवा औरों के कटु शब्दों का प्रत्युत्तर देने में समय बर्बाद करता है तो अपने ज्ञान ध्यान एवं चिंतन में पूरा समय नहीं दे पाता। किन्तु इसके विपरीत जब वह इन बातों में समय नहीं बिगाड़ता है तो मौन रहकर निर्बाध रूप से साधना कर सकता है।

### करेगा सो भरेगा

मैंने अभी बताया था कि जो व्यक्ति बुरा कार्य या पाप-कार्य करता है उसका फल तो वह स्वयं ही भुगत लेता है, फिर हम भी उसमें भाग लेकर कर्मबन्धन क्यों करें? आप कहेंगे कि हम उसमें स्वयं भाग लेने नहीं जाते पर अगर कोई हमें कटु-वचन कहता है और हमारी निन्दा करता है तो उसका प्रत्युत्तर भी न दें क्या? क्या वह भी पाप है?

मेरे भाइयो! यह ठीक है कि आप पहल नहीं करते और आगे होकर किसी को दुर्वचन नहीं कहते, किन्तु किसी और के दुष्टतापूर्ण वचन कहने पर जब प्रत्युत्तर में वैसे ही शब्द कहते हैं तो फिर आप भी उसके समान तो हो ही जाएंगे। अन्तर केवल कुछ ही क्षणों का रहेगा। आपके सामने वाला व्यक्ति कुछ क्षण पहले बोलेंगा और आप कुछ क्षणों के बाद में। बस इतना ही फर्क आप दोनों में होगा।

इसीलिए भगवान का आदेश बताते हुए मैं कहता हूँ कि अगर आपको कर्मों के बन्धन से बचना है तो किसी और के आक्रोशपूर्ण वचनों को सुनकर भी आप उनका उत्तर न दें तथा मौनभाव से उन्हें सहन करें। इससे दो लाभ होंगे। प्रथम तो कटु-वचनों को सम-भाव से सहन कर लेने के कारण आपके बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होगी, दूसरे नये कर्म नहीं बंधेंगे। इसके अलावा जो व्यक्ति आपको दुर्वचन कहेगा, वह तो उसका फल स्वयं ही भोग लेगा। जो जहर खायेगा उसे लहर तो आएगी ही।

श्रीपाल चरित्र में धवल सेठ का वर्णन आता है। धवल सेठ ने श्रीपाल को भारी कष्ट पहुँचाया। उन्हें समुद्र में फेंककर मारने का प्रयत्न भी किया किन्तु अपने पुण्यों के उदय से वे बच गये। राजकुमार श्रीपाल ने इस पर भी धवल सेठ का अनिष्ट नहीं चाहा। उसने जकात नहीं भरी और पकड़ा गया तो श्रीपाल ने अपना उपकारी रिश्तेदार बताकर उसे छुड़ा दिया।

पर दुष्ट अपनी दुष्टता से बाज नहीं आते। यद्यपि श्रीपाल ने धवल सेठ को बचाया किन्तु फिर भी वह उन्हें मारने के लिए रात्रि को कटार लेकर जाने लगा।

संयोगवशा उसका पैर काड़े में अटक गया और उसके हाथ की कटार उसी के पेट में घुस गई ।

इस उदाहरण से हमें ज्ञात हो जाता है कि जो बुरा करता है उसका नतीजा उसे स्वयं ही मिल जाता है । श्रीपाल जी ने धवल सेठ के द्वारा मारे जाने के कई प्रयत्न करने पर भी उसका बदला नहीं लिया अतः वे कर्मों के बन्धन से बचे रहे । किन्तु धवल सेठ ने श्रीपाल को मार डालना चाहा था अतः उसे अपने जघन्य कर्मों का फल कुछ ही समय में मरकर भोगना पड़ा । यानी कुकृत्यों का फल उसे स्वयं ही मिल गया । इसे चाहे दैव, नसीब या कर्म कुछ भी कहा जाये, पर वे पापों का दण्ड अवश्य देते हैं, यह निश्चय जानना चाहिए । कंस ने कृष्ण का बुरा सोचा और रावण ने राम का । परिणाम यह हुआ कि दोनों ही समाप्त हुए ।

एक कवि ने भी यही कहा है—

जो और के मुंह में शक्कर दे, फिर भी वह शक्कर पाता है,  
जो और किसी को टक्कर दे, फिर भी वह टक्कर पाता है ।  
जो और किसी को चक्कर दे, फिर भी वह चक्कर खाता है,  
जो जंसा जिसके साथ करे, फिर वह भी बंसा पाता है ।

पद्य में सीधे-साधे वाक्य हैं पर शिक्षाप्रद बहुत हैं । आप किसी का आदर-सत्कार करते हैं तो दस वर्ष बाद भी अगर वह मिलता है तो आपका आदर-सम्मान किये बिना नहीं रहता । और अगर किसी को आपने कटु, निंदात्मक अथवा व्यंगात्मक शब्द कहे तो बहुत वर्ष पश्चात् मिलने पर भी वह व्यक्ति आपका अपमान करने का प्रयत्न करता है । इसीलिए विद्वानों ने कहा है—

“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।”

जो व्यवहार आपको क्षम्य नहीं है, वह दूसरों के साथ भी मत करो ।

जो मव्य प्राणी ऐसा करता है यानी बुराई का बदला भलाई से देता है वही महान् बनता है, किन्तु इसके विपरीत जो चूक जाता है वह अपने लिए अनिष्ट का उपाजन कर ही लेता है ।

स्कंदक आचार्य के पाँच सौ शिष्य थे । एक बार उन्होंने श्री मुनिसुव्रतस्वामी से देशाटन करके प्रचार करने की अनुमति माँगी । भगवान ने कहा—“तुम्हारा विहार तुम्हारे लिए दुष्कर है पर औरों के लिए कल्याणकर बनेगा ।” स्कंदक आचार्य ने उत्तर दिया—“भगवन् ! दूसरों के कल्याण के लिए अगर मेरा नुकसान हो तो भी कोई बात नहीं है अतः मुझे आज्ञा प्रदान कीजिए ।”

इस प्रकार वे भगवान से अनुमति लेकर अपने सभी शिष्यों सहित भ्रमण के



लिए निकल गये। घूमते-घामते वे अपने बहनोई राजा पुरंदर के नगर की ओर आए उस राज्य का प्रधान स्कंदक आचार्य से दुश्मनी रखता था, क्योंकि उन्होंने गृहस्थावस्था में उसे वाद-विवाद में हराया था। संस्कृत में कहा गया है—

**वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः**

**वाद-वादे जायते बैरबोधः ।**

अर्थात् वाद-विवाद से तत्वों का ज्ञान होता है और कभी-कभी वाद-विवाद से बैर भी बंध जाता है।

तो वाद-विवाद के कारण प्रधान स्कंदक आचार्य का शत्रु बन गया था। और अब उसने स्वर्णसंयोग समझकर नगर से बाहर जहाँ आचार्य अपने पाँच सौ शिष्यों सहित ठहरने वाले थे, वहाँ पाँच सौ तीक्ष्ण हथियार जमीन में गड़वा दिये और जब आचार्य अपने शिष्यवृन्द सहित वहाँ ठहर गए तो राजा से कहा ये मुनिरूप में आपके राज्य पर आक्रमण करके आपसे राज्य छीनने आए हैं।

राजा ने मन्त्री से इस बात का प्रमाण माँगा और मन्त्री ने राजा को साथ लेकर बाहर बगीचे में गड़े हुए हथियार निकालकर बता दिये। परिणाम यह हुआ कि राजा ने सभी मुनियों को मौत के घाट उतारने की आज्ञा दे दी और मन्त्री को उसका पालन करने का आदेश दिया।

मन्त्री यह तो चाहता ही था। वह तुरन्त घानी ले आया और सभी संतों को उसमें पीलने के लिए उद्यत हो गया। उस समय स्कंदक आचार्य ने सिर्फ यह कहा—

“भाई ! मैं अपने शिष्यों को अपने नेत्रों के सामने घानी में पीले जाते नहीं देख सकूँगा, अतः तुम सबसे पहले मुझे ही इसमें डालकर पील दो।” किन्तु दुष्ट मन्त्री इस बात को भी कैसे मानता ? वह तो स्कंदक आचार्य को अधिकाधिक कष्ट पहुँचाना चाहता था। अतः उसने यह बात भी नहीं मानी और एक-एक करके शिष्यों को घानी में डाल चला।

स्कंदक आचार्य ने इस पर भी दिल कड़ा किया और पीले जाने वाले अपने प्रत्येक शिष्य को बोध देने लगे। क्रमशः चारसौ निन्यानवे शिष्य उनसे प्रतिबोधित होकर आत्म-कल्याण कर गए। पर जब एक सबसे छोटा और अन्तिम शिष्य बचा तो स्कंदक आचार्य अपना दिल कड़ा नहीं रख सके और मन्त्री से बोले—“अब इस मेरे छोटे शिष्य से पहले तो मुझे पील डालो। मैं इसे मरते नहीं देख सकूँगा।”

मन्त्री तब भी नहीं माना और उस लघु शिष्य को घानी की ओर ले चला। वह शिष्य स्कंदक आचार्य को बहुत प्यारा था अतः अब उन्हें क्रोध आ गया और वे

कह उठे—‘मिरे जप, तप और करनी का अगर फल हो तो यह दुरात्मा जलकर भस्म हो जाय ।’

यद्यपि वे अपने उस लघु शिष्य को बोध दे चुके थे और उसके कारण वह शिष्य भी जन्म-मरण से मुक्त हो गया था, किन्तु उसके पीले जाने के समय स्कंदक आचार्य अपने आप पर संयम नहीं रख सके, चूक गये अतः अपनी करनी पर आप ही पानी फेरकर जन्म-मरण के चक्कर में फँस गये। थोड़ी सी चूक का परिणाम उन्हें बड़ा भारी पड़ गया—

चार कोस का मांडला, वे बाणी का झोरा ।

भारी कर्मा जीवड़ा, उठेहि रह गया कौरा ॥

चार कोस पर समवशरण में भगवान तीर्थंकर उपदेश दे रहे थे, किन्तु कर्मोदय से वे उसका लाभ नहीं उठा सके और कोरे रह गये।

इसी प्रकार महाशतक श्रावक पोषधशाला में बैठे थे। वहाँ उनकी पत्नी रेवती आई और अपने हाव-भावों के द्वारा उन्हें चलायमान करने का प्रयत्न करने लगी। परन्तु श्रावक व्रतधारी थे अतः डिग्रे नहीं किन्तु जब रेवती ने बहुत परेशान किया तो उन्हें क्रोध आ गया और उनके मुँह से निकल गया—“सात दिन के अन्दर-अन्दर तू समाप्त हो जाएगी ।”

भगवान सर्वदर्शी थे, उन्होंने महाशतक को संदेश भेजा कि—‘पोषधशाला में बैठकर तुमने ऐसे शब्द मुँह से निकाले हैं, अतः इनके लिए प्रायश्चित्त करो ।’

यद्यपि महाशतक ने बिना वजह ऐसे शब्द नहीं कहे थे, रेवती के बहुत परेशान करने पर ही कह दिये थे। फिर भी उन्हें प्रायश्चित्त लेना पड़ा। इसीलिये साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका सभी को चेतावनी दी जाती है कि मन पर पूर्ण संयम रखो तथा कारण मिलने पर भी, यानी किसी के दुर्व्यवहार करने अथवा आक्रोशपूर्ण शब्द कहने पर भी उसका प्रत्युत्तर मत दो, अपितु उस सब को समभाव से सहन करो तभी संवर का मार्ग मिलेगा अन्यथा आश्रव का रास्ता तो सामने है ही।

भगवान का उपदेश है—

सबका सहेउं आसाइ कंटया,

अओमया उच्छहया नरेणं ।

अणासए जो उ सहिज्ज कंटए,

बईमए कल्लसरे स पुज्जो ॥

—दशबैकालिक सूत्र, अ० ६ गा० ६

इस गाथा में बताया गया है कि वंदनीय पुरुष कौन होता है ? भगवान का कथन है कि आशा अथवा किसी स्वार्थ के वशीभूत होने के कारण तो व्यक्ति किसी के लोहे के काँटे के समान तीक्ष्ण चुभने वाले शब्द सहन कर लेता है और इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। पर जो व्यक्ति बिना किसी आशा, स्वार्थ या गरज के भी ऐसे लोह-काँटक के समान शब्दों को सुनकर सहन करता है, वही पूज्य होता है।

वस्तुतः गरज होने पर व्यक्ति गधे को बाप बनाता है तथा दूध की आशा से दुधारू गाय की लातें भी खा लेता है, किन्तु जब स्वार्थ की भावना नहीं होती तो वही व्यक्ति तनिक-सा निमित्त मिलते ही साँप के फन के समान उठकर मुकाबला करने के लिए तैयार हो जाता है। इन बातों से स्पष्ट है कि मनुष्य आशा का दास होता है, और जब तक वह इससे परे नहीं जाता तब तक किसी के सम्मान का पात्र नहीं बन सकता।

मराठी भाषा में संत तुकाराम जी कहते हैं—

“आशा, तृष्णा, माया, अपमानाचे बीज,  
नाशियेल्या पूज्य होईजे ते ।  
अधीरासी नाही चालो जाता मान,  
दुर्लभ, दर्शन, धीर त्याचे ।”

यह सिद्धान्त की वाणी है और भगवान की फरमाई हुई गाथा का सार बताती है। इसमें कहा गया है—आशा, तृष्णा और माया ये अपमान रूपी वृक्ष के बीज हैं। जब तक ये नष्ट नहीं हो जाएँगे यानी व्यक्ति इनको त्याग नहीं देगा, तब तक वह पूज्य नहीं बन सकेगा। आगे कहा है—जिनके हृदय में धैर्य एवं संतोष नहीं है उन्हें कहीं भी मान नहीं मिल सकता, पर जो इन गुणों को हृदय से धारण किये हुए हैं, ऐसे महापुरुषों के दर्शन वस्तुतः दुर्लभ हैं।

संस्कृत के एक श्लोक में भी इस विषय को बड़ी सुन्दर रीति से समझाया गया है। कहा है—

आशाया ये दासाः, ते दासाः सन्ति सर्वं लोकस्य ।  
आशा येषां दासी, तेषां दासा यतेलोकः ॥

अर्थात् जो आशा के दास हैं वे दुनिया के दास हैं और आशा जिनकी दासी है, उनके लिए सारा ससार दास है।

राजा और फकीर में अन्तर

एक बार एक राजा घूमते-घामते किसी संत के पास पहुँच गया। संत एक वृक्ष के नीचे आनन्द से बैठे थे और समीप बैठे हुए अपने मत्तों को उपदेश दे रहे थे।

राजा उसके पास कुछ समय बैठा और अचानक ही उसने पूछ लिया — “महाराज ! आपमें और मुझमें क्या अन्तर है ?”

संत ने कहा — “इसका उत्तर कुछ समय पश्चात् दूंगा ।” इस पर राजा ने उनसे आग्रह किया — “आप मेरे नगर में चलिये और जब आपकी इच्छा हो मेरे प्रश्न का उत्तर दे दीजियेगा ।”

संत उसी क्षण उठकर खड़े हो गये और बोले —

“चलो ! ऐसा ही सही ।” राजा उनके इस प्रकार निमंत्रण देते ही उठ खड़े होने पर तनिक चकित हुआ पर प्रसन्न होकर उन्हें अपने साथ ले चला ।

राजा और संत दोनों ने नगर में प्रवेश किया तथा राजमहल में पहुँच गये । राजा ने राजमहल का एक सुन्दर एवं सुसज्जित भवन स्वामी जी के लिए खुलवा दिया, जिसमें सुख-सुविधा के समस्त साधन मौजूद थे । बैठने के लिए बढ़िया कुर्सियाँ और सोफे तथा सोने के लिए तकिये और मसहरी वाला नर्म गद्देदार पलंग भी उसमें मौजूद था । राजा ने पूछा —

“महाराज ! यह भवन ठीक है आपके लिए ?”

“बहुत बढ़िया ।” कहते हुए संत आराम से पलंग पर उसी प्रकार सो गया, जिस प्रकार वह जंगल में वृक्ष के नीचे कंकरीली जमीन पर लेटता था ।

राजमहल में रहते हुए स्वामी जी महाराज को कई महीने ही गये । महल की भोजनशाला से उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थ उनके खाने के लिए आ जाते थे और वह आराम से उन्हें ग्रहण करके दिन-रात मस्ती से व्यतीत करते रहे । उन्हें किसी बात से परहेज नहीं था । राजा के कहते ही वे सुन्दर बगीचों की सैर के लिए निकल जाते और उसके कहते ही संगीत एवं नृत्य की भजलिस में भी शामिल हो जाते ।

राजा संत के इस व्यवहार से बड़ा चकित था, पर कई मास व्यतीत हो जाने पर भी जब संत ने उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया तो एक दिन उसने पुनः अपना प्रश्न दोहराया कि — “आपमें और मुझमें क्या अन्तर है महाराज ! देखिये आप भी आनन्द से राजमहल में रह रहे हैं और मैं भी इसी प्रकार रहता हूँ ।”

संत राजा के प्रश्न पर हँस पड़े और पलंग से उठकर खड़े होते हुए बोले — “राजन् ! आज मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूंगा, पर राजमहल से बाहर चलो ।”

राजा संत के साथ हो लिया और दोनों राजमहल से ही नहीं बरन् नगर से भी बाहर आ गये । अब राजा ने अपने प्रश्न का उत्तर चाहा, किन्तु संत ने कहा — “जल्दी क्या है ? कुछ दूर और चलो !” इस प्रकार कुछ दूर और, कुछ दूर और, कहते हुए संत राजा को नगर से बहुत दूर वन में साथ ले गये ।

अब राजा को कुछ झुंझलाहट हुई और वह बोला—“महाराज ! आप तो फक्कड़ हैं, पर मुझे तो समग्र राज्य-कार्य संभालना है। मैं कैसे अधिक समय तक अपने राज्य से दूर रह सकता हूँ ?”

“बस, तुममें और मुझमें यही अन्तर है राजन् ! मैं जिस प्रकार एक क्षण में जंगल से उठकर तुम्हारे महल में जाकर रह सकता हूँ, उसी प्रकार एक क्षण में तुम्हारे राजमहल को छोड़कर जंगल में आ सकता हूँ। इतने दिन मैं सुख-सुविधा के अनेक साधनों का उपभोग करता रहा पर आज मैं उन सब को पल भर में छोड़ आया हूँ और उनके लिए मेरे हृदय में रंचमात्र भी आसक्ति नहीं हुई। किन्तु तुम ऐसा नहीं कर सकते यानी अपने राज्य, अपने महल, अपने परिवार और अपने भोग-विलास के साधनों को कुछ समय के लिए भी त्याग नहीं सकते। इस प्रकार तुम आशाओं के दास हो और आशाएँ मेरी दासी हैं। मैं फकीर हूँ, मेरे लिए वन में खड़ा हुआ नीम का वृक्ष और राजमहल दोनों समान हैं, चाहे उत्तमोत्तम स्वादिष्ट पदार्थ खाने को मिलें या कंदमूल, मैं दोनों को ही समान भाव से खाता हूँ। किन्तु तुम ऐसा नहीं कर सकते। यही अन्तर तुम्हारे और मेरे बीच में है। बस तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तुम्हें मिल चुका है, अब तुम जाओ ! मैं यहीं-कहीं किसी पेड़ के नीचे रहूँगा।”

राजा बड़ा शर्मिन्दा हुआ तथा उस वृक्ष के तले और राजमहल में भी समान एवं निरासक्त भाव से रहने वाले फकीर संत को नमस्कार कर धीमे-धीमे वहाँ से चल दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो प्राणी अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में समानभाव से रह सकता है तथा सुख एवं दुख को समभाव से ग्रहण करता है वही आशा, तृष्णा एवं इच्छाओं का स्वामी बनता है। ऐसा व्यक्ति ही निन्दा और अपमानजनक शब्दों को क्रोध रहित होकर सुनता है एवं प्रत्युत्तर में मौन रहकर क्रोध करने तथा कटु-शब्द कहने वाले की क्षमा करता है।

एक बात और ध्यान में रखने की है कि क्रोध आत्मा की विभाव दशा है और क्षमा तथा शान्ति उसकी स्वभाव दशा। आत्मा विभाव दशा में अधिक समय तक नहीं रह सकती किन्तु स्वभाव दशा में जीवन पर्यन्त भी रह सकती है।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि गर्मी में अधिक ताकत है या सर्दी में ? सर्दी में ताकत अधिक है। भले ही चार महीने एक सरीखी तेज गर्मी पड़े किन्तु एक घंटे भी जोरदार बारिश हो जाए तो वह ठण्डी पड़ जाएगी और गीली जमीन को सूखने में भी वक्त लगेगा। इसी प्रकार क्रोध गर्मी है और क्षमा सर्दी। क्रोध में आकर इन्सान चाहे जैसी अन्कहनी कह दे किन्तु क्षमा का जल गिरते ही वह शान्त हो जाएगा, अधिक टिकेगा नहीं।

तो बन्धुओ ! भगवान का उपदेश केवल साधु के लिये ही नहीं है कि वह किसी भी व्यक्ति के कटु एवं तीक्ष्ण शब्दों को मौन रहकर शांति से सहन करे, अपितु प्रत्येक मुमुक्षु के लिये है। जो भी व्यक्ति कषायों पर विजय प्राप्त करता है, उसके हृदय की मलिनता नष्ट हो जाती है तथा आत्मा निर्मल बनती है। ऐसे व्यक्ति की आत्मा ही परमात्म-पद को प्राप्त करती है तथा दूसरे शब्दों में शुद्ध एवं निर्मल हृदय वाले व्यक्ति के मन में परमात्मा का निवास होता है।

एक उर्दू भाषा के शायर ने अपने शेर में कहा है—

दिल बवशत आर्बूद कि हज्जे अकबर अस्त ।

अज हजारों काबा, यक दिल बेहतर अस्त ॥

अर्थात् निर्मल एवं स्थिर जल में सूर्य की तरह शुद्ध मन वाले को परमेश्वर दिखाई देता है और उसके चरणों में हजारों तीर्थ हाजिर रहते हैं।

शायर ने यथार्थ कहा है। वस्तुतः वही मन मन्दिर बन सकता है, जिसमें कषायों की मलिनता न हो और जो अपनी सम्पूर्ण चेतना को परमात्मा के चिन्तन में लगा दे। भक्ति और उपासना का सच्चा फल तभी मिलता है जबकि भक्त और भगवान के बीच कोई भी व्यवधान न हो। अन्यथा भक्ति, पूजा और उपासना करने के लिये तो व्यक्ति बैठ जाय किन्तु उसका मन इधर-उधर डोलता रहे तो आत्म-स्वरूप की अथवा परमात्मा की प्राप्ति कैसे होगी ?

### अल्लाह की इबादत

कहा जाता है कि एक बादशाह किसी एकान्त स्थान पर बैठे नमाज पढ़ रहे थे। इतने में एक स्त्री उधर आई और उनके 'जाये नमाज' पर पैर रखती हुई द्रुत गति से किसी ओर चली गई।

कुछ समय पश्चात् वही स्त्री पुनः उधर से लौटी, पर तब तक बादशाह नमाज पढ़ चुके थे अतः उससे पूछ बैठे—“तू इधर कहाँ गई थी ?”

“अपने प्रेमी से मिलने।” स्त्री ने निर्भीक होकर उत्तर दिया।

बादशाह को यह सुनकर क्रोध आ गया और वे उसे डाँटते हुए बोले—“अपने प्रेमी से मिलने के लिये तू इस प्रकार बेमान होकर चली कि तुझे मेरे 'जाये नमाज' का भी ध्यान नहीं रहा और उसे कुचलती हुई चली गई ?”

स्त्री ने उत्तर दिया—“जहाँपनाह, मैं तो एक सांसारिक पुरुष के ध्यान में ही ऐसी बेखबर हो गई कि मैं आपकी नमाज पढ़ने के लिये बिछी हुई चादर को न देख

सकी, किन्तु आप तो उस समय सारे जहान के मालिक अल्लाह की इबादत कर रहे थे, फिर आपने भला किस प्रकार मुझे आपकी 'जाये नमाज' कुचलते हुए और इधर से जाते हुए देख लिया ?'

स्त्री की बात सुनकर बादशाह बहुत शर्मिन्दा हुआ और उसकी समझ में आ गया कि अल्लाह की इबादत तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि मन इधर-उधर भटकता रहे। जिस प्रकार दो घोड़ों की सवारी एक साथ नहीं हो सकती, उसी प्रकार मन संसार में रहता हुआ भगवान को स्मरण नहीं कर सकता। सारे संसार से बेखबर होकर ही वह उनका चिन्तन कर सकता है।

बन्धुओ, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि सच्चे साधक को प्रथम तो अपना मन विकारों की गन्दगी से शुद्ध करना चाहिए और उसके पश्चात् चंचलता रहित होकर आत्म-चिन्तन में लीन होना चाहिए। जब तक साधक के मन में विकार रहेंगे तब तक वह अपनी साधना को फलप्रद नहीं बना सकेगा। उदाहरणस्वरूप किसी ने साधक को तनिक कटु या मानभंग करने वाले अपमानजनक शब्द कह दिये और वह प्रत्युत्तर में क्रोध कर बैठा तो फिर साधना कैसे करेगा ? इसलिये निन्दा, अपमान एवं भर्त्सनापूर्ण शब्दों से उसे कभी विचलित नहीं होना चाहिए तथा मौन भाव से उन शब्दों को सहन करके 'आक्रोश परिषह' पर विजय पानी चाहिए।

ऐसा करने वाला साधक अथवा भुनि ही अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मुनिवृत्ति सहज वस्तु नहीं है, यह फूलों का नहीं, अपितु काँटों का मार्ग है तथा—

“जवा लोहमया च्चेव, चावेयंवा सुदुष्करं ।”

अर्थात् मोम के दाँतों से लोहे के चने चबाने के समान कठिन है।

सच्चे सन्त क्रोध, मान, माया एवं लोभ के विष वृक्षों को क्रमशः क्षमा, मृदुता, सरलता एवं निस्पृहता के तीक्ष्ण शस्त्रों से जड़ से काट देते हैं। वे आत्मिक कल्मष को धो डालने के लिये संवर की आराधना करते हैं।

कवि सुन्दरदास जी ने अपने एक कवित्त में इस विषय को बड़े सरल ढंग से कहा है—

काम ही न क्रोध जाके, लोभ ही न मोह जाके,

मद ही न मत्सर जाके कोउ न विकारो है।

दुःख ही न सुख माने, नाहीं हानि-लाभ जाने,

हरष न शोक आने देह ही तें ग्यारो है।:

निन्दा न प्रशंसा करे, राग ही न द्वेष धरे,  
 लेन ही न देन करे, कछु ना पसारो है ।  
 सुन्दर कहत ताकी अगम अगाध गति,  
 ऐसो कोई साधु हो तो प्रभु को पियारो है ॥

वास्तव में सच्चे सन्त सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान, मित्र-शत्रु और जीवन-मरण आदि सभी में पूर्ण समभाव धारण करते हैं। वे निरन्तर अपनी आत्मा में रमण करते हैं तथा जल में रहते हुए कमल की तरह जगत से निर्लिप्त रहते हैं।

ऐसी वृत्ति वाले मुनि भला 'आक्रोश परिषह' पर विजय प्राप्त क्यों नहीं कर सकेंगे? अवश्य करेंगे। वे ही भगवान के द्वारा दिये गये आदेश का अक्षरशः पालन करते हुए संवर की आराधना कर सकेंगे तथा अपने सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा पाएँगे।

बन्धुओ ! आशा है आपने 'आक्रोश परिषह' के विषय में भली-भाँति समझ लिया होगा और अब हम अगले परिषह के विषय में आगे विचार करेंगे। ❀



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संवर तत्व के सत्तावन भेदों में से बारहवें 'आक्रोश परिषह' के विषय में विचार किया था और आज तेरहवें 'बध-परिषह' के विषय में जानकारी करेंगे ।

इस परिषह के बारे में 'श्री उत्तराख्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय में छब्बीसवीं गाथा आई है । उसमें कहा है—

हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए ।

तित्तिक्खं परमं नच्चा, भिक्ख-घम्मं विचितए ॥

अर्थ है मार-पीट किये जाने पर भी साधु मारने वाले पर मन से भी द्वेष न करे अपितु क्षमा को उत्तम समझकर अपने मुनिधर्म का ही चिन्तन करे ।

इस गाथा के द्वारा भगवान महावीर ने साधु को उपदेश दिया है कि अगर कोई अज्ञानी एवं मूर्ख व्यक्ति उसे मारे-पीटे तथा डण्डे आदि से ताड़न करे तो भी साधु मन या वचन से उसका अनिष्ट न सोचे तथा उसके प्रति क्षमा का भाव रखे ।

मुनियों के लिए ऐसे प्रसंगों का आना कोई बड़ी बात नहीं है । संसार में दुष्ट व्यक्ति होते हैं और वे समय-समय पर साधुओं को ऐसे कष्ट भी पहुँचाये बिना नहीं रहते । किन्तु वे समय ही साधु के लिए क्षमा एवं सहनशीलता की परीक्षा के कारण बनते हैं । अगर इस प्रकार के परिषहों के उपस्थित होने पर साधु अपने क्षमाधर्म को त्याग दे तो उसकी उत्कृष्ट साधु-चर्या दूषित हो जाती है तथा उसमें कलंक लग जाता है । वह परिषह पर विजय प्राप्त करने के बदले स्वयं पराजित होता है । इसलिए ऐसे अवसरों पर साधु को रंचमात्र भी विचलित हुए बिना अपने श्रमण-धर्म पर दृढ़ रहते हुए 'बध-परिषह' का मुकाबला करते हुए उस पर पूर्ण विजय प्राप्त करनी चाहिए ।

हमारे श्रोताओं के दिल में यह विचार आयेगा कि मार-पीट का यहाँ क्या काम है ? पर यह विचार सही नहीं है, क्योंकि सन्तों पर भी ऐसे परिषह आते हैं

और अनेक बार उनसे मुकाबला करना पड़ता है। स्वयं भगवान महावीर को भी अनेक परिषद सहन करने पड़े थे। उनके कानों में गवाले ने कीले ठोक दिये थे। भगवान पार्श्वनाथ को भी परिषद सहने पड़े थे। इस प्रकार जब तीर्थंकरों को भी परिषद सहने पड़े तो फिर अन्य साधुओं की तो बात ही क्या है।

अर्जुनमाली देवताधिष्ठित होने के कारण प्रतिदिन सात मनुष्यों की हत्या करता था। किन्तु पुण्य कर्मों के उदय से सेठ सुदर्शन के साथ वह भगवान महावीर के पास पहुँच गया। भगवान का उपदेश सुनकर उसने संयम ग्रहण किया और साधु बन गया। साधु बनने के पश्चात् उसने अपने पूर्वकृत पाप कर्मों का प्रायश्चित्त करने की दृष्टि से तपश्चर्या करना प्रारम्भ किया।

यद्यपि उसने जो नरहत्याएँ की थीं वे यक्ष के आधीन होकर ही की थीं, किन्तु फिर भी वह अपने आपको निर्दोष नहीं मानता था। वह सोचता था कि परतन्त्र होकर ही सही, पर पाप तो मेरे ही हाथों हुए हैं अतः उनसे छुटकारा तप के बिना नहीं हो सकता। यह विचार कर सन्त अर्जुनमाली ने बेला-बेला करके पारणा करने का निश्चय किया। वह बेला करता और पारणे के दिन भी किसी और सन्त का लाया हुआ अन्न ग्रहण न करके स्वयं ही भिक्षा लेने जाता था।

पर बन्धुओं! उस समय अर्जुनमाली मुनि का क्या हाल होता था, यह आप जानते हैं? उन्हें देखते ही लोग गालियाँ देते थे, पत्थर फेंकते थे या मार-पीट किया करते थे। कोई कहता—यह मेरे बेटे का हत्यारा है। कोई कहता—मेरे बाप को इसने मारा था और कोई कहता—मेरी माँ की इसने जान ली है। इस प्रकार जिनकी हत्याएँ हुई थीं, उनके पारिवारिक जन जी भर कर अर्जुनमाली मुनि को कष्ट पहुँचाते थे।

किन्तु मुनि केवल यही विचार करते थे कि—“मैंने महा-पाप किये हैं। इनके रिश्तेदारों की हत्या की है। ये तो मुझे उससे बहुत कम कष्ट ही पहुँचाते हैं। कल मैंने आपको स्कन्दक मुनि के विषय में भी बताया था कि उन्हें पाँच सौ शिष्यों समेत धानी में पील दिया था। इसी प्रकार गजसुकुमाल मुनि के सिर पर उनके ससुर सोमिल ब्राह्मण ने मिट्टी की पाल बनाकर उसमें अंगारे भर दिये थे। किन्तु जो मुनि सच्चे होते हैं वे ऐसे परिवहों को देने वालों के प्रति भी क्रोध नहीं करते तथा मन, वचन एवं कर्म से उन्हें क्षमा प्रदान करते हुए विचार करते हैं कि उपसर्ग और परिषद पुराना ऋण है, जिसे हमें सहर्ष चुकाना चाहिए।

आज के युग में भी सन्तों को 'आक्रोश' एवं 'वध-परिषद' का सामना करना पड़ता है। हम लोग जब गाँवों में विहार करते हैं तो लोग हमें गालियाँ देते हैं तथा अपमानजनक वाक्य कहते हैं। कमी-कमी तो मार-पीट की नौबत भी आये बिना

नहीं रहती। एक बार जब हमारा चातुर्मास जोधपुर में था और हमारे प्रवर्तक, मरुधर केसरी जी म० समीप के ही एक गाँव में विराज रहे थे, तब वहाँ के व्यक्तियों ने उन्हें बिना अपराध के मारा-पीटा था। एक बार स्वयं मुझे भी यह परिषह सहन करना पड़ा था। किन्तु सन्तों को ऐसे परिषहों से धबराहट नहीं होती।

श्रीगुरु बुद्ध के शिष्य आनन्द बड़े योग्य, विद्वान एवं समझदार साधु थे। एक बार उन्होंने बुद्ध से प्रार्थना की—“भगवन् ! मैं जनपद में विहार करके धर्म-प्रचार करना चाहता हूँ।”

बुद्ध ने उनसे कहा—“तुम्हारा विचार तो ठीक है, पर उस देश के व्यक्ति अगर तुम्हारी निन्दा करेंगे और गालियाँ देंगे तो तुम क्या करोगे ?”

आनन्द ने उत्तर दिया—“गुरुदेव ! मैं यह सोचूँगा कि ये लोग मुझे केवल अपशब्द ही कह रहे हैं, मारते तो नहीं।”

बुद्ध ने पुनः प्रश्न किया—“अगर वे लोग तुम्हें मारेंगे तब क्या करोगे ?”

“मैं सोचूँगा कि ये केवल मेरे शरीर को ही चोट पहुँचा रहे हैं, प्राण तो नहीं लेते।”

“और अगर कोई तुम्हें जान से खत्म करने का प्रयत्न करेगा तब ?”

“भगवन् ! उस समय मैं यह विचार करूँगा कि ये सिर्फ मेरे शरीर को ही नष्ट कर रहे हैं, आत्मा का तो कुछ भी नहीं बिगाड़ते।”

आनन्द के ऐसे दृढ़ वचन सुनकर बुद्ध ने उन्हें जनपद (देश) में विहार करने और धर्म का प्रचार करने की आज्ञा दे दी।

बन्धुओं, इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि प्रत्येक आत्मार्थी सन्त को परिषहों का मुकाबला करने के लिए कितना दृढ़ होना चाहिए।

‘श्री उत्तराध्ययन सूत्र’ में इसी विषय को लेकर एक गाथा और कही गई है—

समर्थं संजयं वंत्तं. हृण्णिज्जा कोइ कत्थई ।

नत्थि जीवस्स नासुत्ति, एवं पेहेज्ज संजए ॥

—अध्ययन २, गा० २७

इन्द्रियों का दमन करने वाले साधु को यदि कोई किसी स्थान पर मारे तो वह साधु शान्त भाव से इस प्रकार विचार करे कि जीव का नाश तो कभी होता नहीं है और यह शरीर जो है, वह भेरा नहीं है।

इस गाथा के द्वारा भगवान ने उपदेश दिया है कि कोई भी दुष्ट व्यक्ति ताड़ना करने के साथ ही साथ अगर साधु का बध करने के लिए उद्यत हो जाय, तब

भी उसका प्रतिकार करने की भावना मन में न लाये। वह ऐसे निकृष्ट एवं जघन्य व्यवहार को अनुभव करके भी अपने मुनिधर्म पर दृढ़ रहकर शान्तिपूर्वक यह विचारे कि यह व्यक्ति मेरे शरीर को तो हानि पहुँचा सकता है किन्तु मेरी ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्यमय आत्मा का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। यह शरीर तो नश्वर ही है और एक दिन इसे नाश को प्राप्त होना है, फिर आज ही इसके जाने पर दुःख अथवा शोक किस बात का ? ऐसा विचार करने वाला श्रमण ही सच्चे मायने में श्रमण कहला सकता है।

गाथा में सर्वप्रथम 'श्रमण' शब्द आया है। 'श्रमण' यानी ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप में श्रम करने वाला। यद्यपि श्रम तो कुदाली और फावड़ा लेकर दुनियादासी के अन्य लोग भी करते हैं। किन्तु उन्हें श्रमण नहीं कहा जायेगा। श्रमण वे ही कहलायेंगे जो आत्मा को कर्मों से मुक्त करके जन्म-मरण को समाप्त करने का प्रयत्न या श्रम करते हैं।

श्रमण के विषय में कहा गया है—

इह लोणगिरावेकलो,  
अप्पडिबद्धो परम्भ लोयम्हि ।  
भुत्ताहारविहारो,  
रह्विकसाओ हवे समणो ॥

—प्रवचनसार ३।२६

अर्थात् जो कषायरहित है, इस लोक में निरपेक्ष है और विवेकपूर्वक आहार-विहार की चर्या रखता है, वही सच्चा श्रमण है।

तो बन्धुओ ! जैसा कि श्लोक में बताया गया है—जो साधु कषाय से सर्वथा रहित है वही सच्चा श्रमण है और कषाय से रहित होने वाला श्रमण ही परिषदों को शान्ति एवं समभाव से सहन कर सकता है। वह श्रमण ही किसी के द्वारा प्राण हनन किये जाने पर विचार कर सकता है कि नाश शरीर का हो रहा है, आत्मा का नहीं।

भगवद्गीता में एक श्लोक दिया गया है—

नेनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नेनं बहति पावकः ।  
न चनेनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥

श्लोक में कहा गया है कि इस आत्मा को न तो शस्त्र काट सकते हैं, न इसको आग जला सकती है, न इसको जल गीला कर सकता है और न ही वायु इसे सुखा सकती है।

वस्तुतः यह आत्मा 'न छिद्दई न भिद्दई।' इसका न छेदन हो सकता है और न भेदन।" यह अनन्त काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। इसका कोई भी

विनाश नहीं कर सकता । जल प्रत्येक पदार्थ को भिगोता है किन्तु आत्मा को गीला नहीं कर सकता । इसी प्रकार वायु प्रत्येक गीले पदार्थ को सुखा देती है किन्तु आत्मा को नहीं सुखा सकती । केवल जन्म और मरण इसे कैद में रखते हैं तथा वह किसी का पुत्र, किसी का पिता और किसी का पति कहलाता है । किन्तु ये सब सम्बन्ध प्रत्येक जन्म में बदलते रहते हैं और आत्मा इन सबसे अलग ही बनी रहती है । कहा भी है—

“जन्योस्ति न जनकोस्ति भवान् कदाचित् ।  
सच्चित्तसुखात्मकतया त्वमसि प्रसिद्धः ॥”

पद्य में जीव को सम्बोधित करते हुए कहा है—“हे आत्मन् ! तुम किसी के पुत्र या किसी के पिता नहीं हो । तुम तो सदा रहने वाले चेतन के रूप में प्रसिद्ध हो ।”

आत्मा के इस सच्चे स्वरूप को कामदेव श्रावक ने भली-भांति समझ लिया था । ‘उपासकदशामूत्र’ में इनका वर्णन आता है कि मिथ्यात्वी देवता आकर उन्हें धर्म से डिगाने का प्रयत्न करता है । वह कहता है—‘धर्म के इस ढोंग को छोड़ दो, इसमें क्या रखा है ?’

पर कामदेव कहाँ मानने वाले थे ? वे निश्चल बने रहे । इस पर देव ने हाथी, पिशाच और भयंकर विषधर नाग के रूप में आकर उन्हें डराया । यहाँ तक कि शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके भी अपने प्रयत्न को जारी रखा । किन्तु पक्के श्रावक कामदेव मुमैरु पर्वत की तरह अडिग बने रहे । उन्होंने विचार किया—“यह तो एक ही देवता है पर हजार देव भी मिलकर आ जाएँ तो क्या भेरी आत्मा के टुकड़े कर सकते हैं ? कभी नहीं । यह शायद बैर के रूप में अपना पुराना कर्ज वसूल कर रहा है, और नहीं तो पाप-कर्म बाँध रहा है । मुझे इस पर क्रोध करने की और धर्म से चलित होने की आवश्यकता ही क्या है ?” यह विचार करते हुए वे दृढ़ रहे ।

कामदेव श्रावक की इस दृढ़ता की स्वयं भगवान महावीर ने अपनी सभा में संत-सतियों के समक्ष प्रशंसा की और कहा—“देखो, कामदेव श्रावक ने गृहस्थ होकर भी धर्म के लिये कितना ‘परिषह’ सहन किया तथा कैसी दृढ़ता रखी फिर तुम तो संयमी और मोक्षमार्गी हो अतः तुम्हें तो स्वप्न में भी परिषहों से घबराना नहीं चाहिए तथा ‘आक्रोश’ या ‘वध’ कैसा भी परिषह क्यों न सामने आए, पूर्ण समभाव से सहन करना चाहिए ।

बन्धुओ, यहाँ आपके दिल में प्रश्न उठ सकता है कि जब जीव मरता ही नहीं है तो फिर ‘अहिंसा परमो धर्मः’ कहने की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर यही है कि जिस प्रकार साहूकार लेन-देन में किसी व्यक्ति का धन, मकान एवं खेती वगैरह सब कुछ कुर्क कर लेता है तो व्यक्ति शोकग्रस्त होकर

कहता है—'इस साहूकार ने मेरा सब कुछ ले लिया, मुझे जीते जी मार डाला।' लेकिन वह जीवित तो होता ही है।

इसी प्रकार जीवात्मा की सम्पत्ति पाँचों इन्द्रियाँ हैं—कान, नाक, आँख, जवान और शरीर। किसी के द्वारा मार दिये जाने पर वह सम्पत्ति लुट जाती है। आत्मा की इस सम्पत्ति को लूटना ही हिंसा है और इस हिंसा से बचने के लिए 'अहिंसा परमो धर्मः' कहा जाता है।

तो साधु एवं प्रत्येक साधक को यही समझना है कि अगर कोई व्यक्ति उसे कष्ट पहुँचाता है या उसका वध भी कर देता है तो उसके शरीर की ही हानि होती है, आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता। इस प्रकार का समभाव आना संवर मार्ग में प्रवेश करना है, पर यह सहज में नहीं आता। मन को बड़ा मजबूत बनाना पड़ता है। यद्यपि संवर और आश्रव में दूरी नहीं है। जैसे नल के पेच को इधर घुमाया तो पानी गिरना चालू हो जाता है और जरा सा उधर घुमाया तो बन्द हो जाता है। इसी प्रकार मन को स्थिर रखा तो संवर और अस्थिर कर दिया तो आश्रव यानी कर्मों का आना प्रारम्भ होता है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि परिषदों के आने पर तो दिल को मजबूत रखना ही है किन्तु उसके अलावा भी हमें जीवन का प्रत्येक क्षण सार्थक करना है। यह सही है कि आत्मा कभी मरती नहीं है, किन्तु यह मानव शरीर तो इसे पुनः पुनः नहीं मिलता। न जाने कितने पुण्यों के उदय से जब यह प्राप्त हो गया है तो इससे लाभ न उठाना महा मूर्खता है। अगर यह शरीर पाकर भी हम व्यर्थ के व्यापार में लगे रहे तो उससे क्या लाभ होना है ?

सन्त तुकाराम जी कहते हैं :—

**खापराचे होण, खेलती लेकुरे;**

**काय त्या व्यापारे लाभ हानि ?**

बन्धुओ, आप जानते हैं कि छोटे-छोटे बालक मिट्टी के ठीकरे के पैसे और मिट्टी की ढेरियों को ढाल, चावल एवं गेहूँ आदि बताकर व्यापार का खेल खेलते हैं। एक बच्चा मिट्टी तोल-तोल कर देता है और दूसरा ठीकरी के पैसे से उन्हें खरीदता है तो उस खेल में ठीकरी की मोहरों को प्राप्त करके बालकों को क्या लाभ हो सकता है ? कुछ भी नहीं। उलटे हाथ-पैर एवं कपड़े गन्दे हो जाते हैं तथा माता-पिता की डाँट और मार खानी पड़ती है।

ठीक यही हाल आप लोगों के व्यापार का भी है। आप भी जमीन से निकली हुई धातु, सोने या चाँदी के और आजकल तो केवल कागजों के सिक्कों से दिन-रात

व्यापार करते हैं और जीवन भर करते रहते हैं। पर यह बताइये कि उससे आपको क्या लाभ होता है ? जिस प्रकार बच्चों की 'खापरखुटी' और मिट्टी का सामान वहीं पड़ा रह जाता है, उसी प्रकार क्या आपकी धन-दौलत रुपये-पैसे और जमीन-मकान यहीं नहीं रह जाते ? उससे हुआ कौन सा लाभ आपके साथ रहता है ? कुछ भी तो नहीं। आप बच्चों के ऐसे खेलों को देखकर हँसते हैं पर हमें आप पर भी इसी प्रकार हँसी आती है कि जैसे बालक अपना थोड़ी देर मनोरंजन करके या खेल खेल करके बिना कुछ प्राप्त किये अपने घर चले जाते हैं, इसी तरह आप भी सांसारिक व्यापार का खेल खेलकर खाली हाथ यहाँ से जाने की तैयारी कर लेते हैं।

आगे कहा गया है :—

स्वप्नांचे जे सुख, दुःख झाले कांही;  
जागृति तो नाही सांच भाव।

मान लीजिये आप सो रहे हैं और स्वप्न में राजा, महाराजा या बड़े साहूकार बन गये हैं। लाखों रुपयों का लेन-देन है और उससे आप महान् सुख का अनुभव करते हैं। किन्तु आँख खुलते ही वह सुख कहाँ रहता है ?

इसी प्रकार कभी-कभी मयप्रद स्वप्न भी देखते हैं, जिसमें शेर आपकी ओर झपटता है या कोई राक्षस आपको दबोच ही लेता है उस समय आप चीखते-चिल्लाते हैं, रोते हैं तथा अत्यधिक दुखी होते हैं। पर जागने पर वह घोर संकट और आपका दुःख क्षण भर में ही गायब हो जाता है। क्योंकि आप जान लेते हैं कि सुख-दुःख स्वप्न के थे, वास्तविक नहीं। जाग जाने पर कहाँ का सुख और कहाँ का दुःख ?

इसी प्रकार मोहनिद्रा का हाल है। जब तक इस निद्रा में व्यक्ति पड़ा रहता है, तब तक उसे संसार के सुख-दुःख सच्चे सुख-दुःख महसूस होते हैं, किन्तु जब वह श्रावकधर्म या साधुधर्म अंगीकार कर लेता है तब ज्ञान के द्वारा समझता है कि संसार क्या है और इसमें प्राप्त होने वाले सुख और दुःख कैसे हैं ? वस्तु तत्वों का सच्चा स्वरूप समझने पर ही निस्सार पदार्थों की निस्सारता एवं नश्वरता का उसे भान होता है और सच्चे धन की पहचान होती है। एक उदाहरण से इसे और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है।

साथ न जावे कौड़ी

गुरु नानक एक बार लाहौर आए। वहाँ के अनेक व्यक्ति उनके दर्शन करने आए और अपने आपको कृतार्थ समझते हुए घर लौटे।

लाहौर का एक करोड़पति श्रेष्ठ भी उनके पास आया और बोला—  
“मगवन् ! आप महान हैं। कृपा करके एक बार मेरे घर को अपने चरणों से पवित्र करें।”

गुरुजी ने मुस्कुराकर भगत की प्रार्थना मान ली और उसके साथ चल दिये । घर पहुँचने पर श्रेष्ठि ने गुरु नानक की बड़ा श्रद्धा से आवभगत की तथा बोला—  
“महाराज ! हमें कुछ उपदेश दें तथा सच्चा मार्ग बताएँ ।”

नानक जी ने उसी समय अपने थैले में से एक छोटी सी सुई निकाली और सेठ से कहा—“माई इस सुई को संभालकर रखना । अगले जन्म में जब हम पुनः मिलेंगे तो मैं इसे तुमसे वापिस ले लूँगा । पर इसकी संभाल पूरी रखना कहीं यह लापरवाही से खो न जाय ।”

सेठ ने नानक जी की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया और गुरु का सेवा-कार्य समझकर सुई घर के अन्दर ले गया तथा प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नी से सारी बात बताई । साथ ही बोला—“भागवान, इसे सम्हालकर कहीं तिजोरी आदि में रख लो ।”

सेठानी बड़ी चतुर एवं बुद्धिमान स्त्री थी । उसने पति की बात सुनी पर सुनकर बड़े आश्चर्य के साथ बोली—“आप कैसी बात कह रहे हैं ? हम इस सुई को भला अगले जन्म तक कैसे साथ रख सकेंगे ? मरने पर तो इस संसार की समस्त वस्तुएँ यहीं रह जाती हैं और आत्मा अकेली ही इस लोक से जाती है ।”

अब सेठजी की समझ में बात आ गई और वे भी सुई की समस्या को लेकर चकरा गये । वे बोले—“चलो हम दोनों गुरुजी से ही उनके इस कार्य का रहस्य समझ लें । वे अभी दिवानखाने में ही विराजे हुए हैं ।”

पति पत्नी दोनों ही अपने भवन के बाहरी हिस्से में आए और नानक जी से बोले—“गुरुदेव ! हम इस सुई को अगले जन्म तक किस प्रकार साथ रख सकेंगे ?”

गुरुजी मुस्कराये पर उनकी बात का उत्तर न देते हुए उन्होंने एक प्रश्न पूछा—“श्रेष्ठिवर ! आपके महल के ऊपर ये सात झंडे कैसे लहरा रहे हैं ? इसका क्या कारण है ?”

“महाराज ! मैंने अब तक ये सात करोड़ रुपया एकत्र कर लिया है । एक-एक झंडा एक-एक करोड़ का चिह्न है । इसलिए ये सात झंडे भवन के ऊपर लगाये गये हैं ।”

गुरु नानक आश्चर्य के भाव से बोले—“अरे ! आपके पास इतना धन है ? बड़े भाग्यवान् हैं आप । पर मुझे यह बताइये कि जब आप सात करोड़ रुपया संभाल सकते हैं और उसे अगले संसार में साथ ले जाने की आशा रखते हैं तो फिर मेरी इस छोटी सी सुई को भी साथ ले जाने में क्यों हिचकिचा रहे हैं ? क्या आपने इस धन के बारे में नहीं सोचा कभी कि इसे साथ कैसे ले जाएँगे ?”

सेठ और सेठानी गुरु नानक की बात का रहस्य समझ गये । उन्होंने जीवन



की अनित्यता एवं धन की निस्सारता को भलीभाँति समझ लिया। परिणामस्वरूप अपना सारा धन उन्होंने गरीबों को दान कर दिया तथा कम से कम पैसे में गुजर-बसर करते हुए लोगों की सेवा में दिन गुजारने लगे।

वस्तुतः इस लोक से जीव के साथ एक कौड़ी भी नहीं जाती। साथ में जाता है तो केवल पुण्य और पाप। इसलिए सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति रखना महान् मूर्खता है। और तो और, संसार की वस्तुएँ तो इस लोक में भी मनुष्य का साथ नहीं देती।

पंचतंत्र में एक श्लोक दिया गया है—

अभ्रच्छाया खलप्रीतिः सिद्धमन्नं च योषितः ।  
किञ्चित् कालोपभोग्यानि, यौवनानि धनानि च ॥

बादल की छाया, दुष्टों की प्रीति, पका हुआ अन्न, स्त्री, धन एवं यौवन—ये छः चीजें अल्पकाल तक ही उपयोग में आने योग्य हैं, अर्थात् अस्थिर हैं।

इसलिए बन्धुओ, महा मुश्किल से मिले हुए इस मानव जन्म को हमें संसार के नाशवान एवं अस्थिर पदार्थों को भोगने में तथा उनके लिए नाना प्रकार के पाप-कर्मों को करने में ही नहीं गँवाना चाहिये। तारीफ की बात तो यह है कि आज व्यक्ति सांसारिक कार्यों को करने में तो सदा तत्पर रहता है, किन्तु आत्मिक अर्थात् आत्मा को लाम पहुँचाने वाले कार्यों को करने में प्रमाद करता है और उसकी यह प्रमाद-निद्रा कभी भी समाप्त नहीं होती, चाहे जीवन समाप्त हो जाता है। पर ऐसा करने से उसे जीवन का क्या लाभ प्राप्त हो सकता है? कुछ भी नहीं। उसके लिए यह जीवन मिला न मिला समान ही रहता है। कहा भी है—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पाद शौचं विधत्ते,  
पीपूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यन्ध भारम् ।  
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् बायसोड्डायनार्थं,  
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्ममसतः ॥

—सिन्दूर प्रकरण ५

कहा है—जो व्यक्ति प्रमाद के वश में रहकर मनुष्य जीवन को व्यर्थ गँवा रहा है, वह अजानी मनुष्य मानों सोने के थाल में मिट्टी भर रहा है, अमृत से पैंर धो रहा है, उत्तम हाथी पर ईधन ढो रहा है या चिन्तामणि रत्न को कौए उड़ाने के लिए फेंक रहा है।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को जीवन का महत्व समझना चाहिये तथा मोह-निद्रा से जाग्रत हो जाना चाहिये। जब तक व्यक्ति प्रमाद अथवा मोह की नींद में सोया

रहेगा, उसे ससार की वस्तुओं में सुख और दुःख का अनुभव होगा। किन्तु इस नींद के उड़ते ही उसे समझ में आ जाएगा कि संसार की वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सुख और दुःख क्षणिक तथा स्वप्नवत् हैं। सच्चे आश्रवक और साधु जब अपने ब्रतों को ग्रहण कर लेते हैं और उनमें गहराई तक उतर कर रम जाते हैं तो उन्हें समझ में आ जाता है कि संसार कैसा है और इसमें मिलने वाले सुख तथा दुःख किस प्रकार के हैं। वस्तु-स्वरूप का बोध हो जाने पर बाकी सब कुछ उन्हें निस्सार लगने लगता है। और ऐसा होने पर ही व्यक्ति आश्रव को रोककर संवर-मार्ग में प्रवेश करता है। जिस साधक को आश्रव से भय और संवर में रुचि हो जाती है वह पापों से भयभीत होता हुआ कभी नवीन कर्मों को बंधने नहीं देता। इसके लिए चाहे उसे कोई कष्ट पहुँचाये, मारे-पीटे अथवा मरणांतक दुःख ही क्यों न दे। सच्चा साधक कभी मृत्यु से भयभीत नहीं होता। वह भली-भाँति जानता है कि यह शरीर तो एक दिन नष्ट होना ही है, फिर इसके मोह में पड़कर क्रोध, कषाय, ईर्ष्या, द्वेष अथवा बदले की भावना से नये कर्मों का बंधन क्यों किया जाय? क्या इस शरीर को परिषह प्रदान करने वाले प्राणियों से बचा लिया जाएगा तो फिर यह नष्ट नहीं होगा? होगा, क्योंकि काल तो निश्चय ही एक दिन इसे समाप्त कर देगा, चाहे व्यक्ति चतुरंगिणी सेना को अपने पहरे पर नियुक्त कर दे, धन्वन्तरि वैद्य के सिद्ध रसायन सत्त् खाता रहे अथवा तंत्र-मंत्र जानने वालों की कतार ही अपने सन्मुख क्यों न सदा उपस्थित रखे।

पूज्यपाद श्री अमी ऋषि जी म० ने अपने एक पद्य में कहा है—

अन्त करे सबही जग को पै,  
 कृतांत पै तो किनकी न बली ।  
 नर्क पशु सुर मानव वृन्द,  
 मरे तन धूलि में जाय मिली ॥  
 मन्त्र रसायन आदि उपाय,  
 किये नहि काल की चोट टली ।  
 कहत अमीरिख सिद्ध बिना,  
 सबके संग डोलत काल बली ॥

पद्य का अर्थ सरल है, आप समझ गये होंगे कि यमराज पर किसी का वश नहीं चलता। वह समय पाते ही प्रत्येक प्राणी को इस लोक से ले जाता है। चाहे जीव नर्कगति में हो, तिर्यचगति में हो, मनुष्यगति में हो और चाहे स्वर्ग में देवता ही क्यों न हो, प्रत्येक का अन्त काल करता है। कवि का कहना है कि संसार के प्रत्येक प्राणी के साथ काल छाय्या के समान लगा रहता है और मन्त्र, तन्त्र, औषधि एवं सुरक्षा के लाख उपाय करने पर भी उसे नहीं छोड़ता।

इसीलिए भगवान ने प्रत्येक साधक को और मुनि को अनिवार्य आदेश दिया है कि कैसा भी परिषह क्यों न सामने आए, कभी भी उससे विचलित होकर अपने साधनापथ से मत हटो। किसी दुष्ट व्यक्ति के द्वारा शारीरिक या मरणान्तक कष्ट दिये जाने पर अगर साधक के मन में क्रोध आ गया तो समझना चाहिए कि वह संवर मार्ग से च्युत होकर आश्रव की ओर गमन कर रहा है। क्योंकि क्रोध ऐसा कषाय है, जिसका उद्रेक होने पर व्यक्ति आपे में नहीं रहता तथा औरों का अहित करने के साथ ही अपना ही बुरा कर बैठता है। अतः शास्त्रकार कहते हैं कि 'आक्रोश' अथवा 'वध-परिषह' के उपस्थित होने पर भी आत्म-मुक्ति के अभिलाषी साधक को कषाय पर विजय प्राप्त करते हुए पूर्णतया समभाव में विचरण करना चाहिए। उसे यह निश्चित रूप से जानना चाहिए कि उपसर्ग और परिषह उसके लिए पुराना कर्ज है, जिसे चुकाना तो अनिवार्य है ही, पर उन्हें चुकाते समय कषाय करके नवीन कर्ज न चढ़ा लिया जाय। जो साधक या मुनि इस बात को भली-भाँति समझ लेते हैं वे संवर की आराधना करते हुए अपने मानव-जीवन को सफल कर लेते हैं तथा जीवन के लक्ष्य को हासिल करने में समर्थ बनते हैं। ❀

बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारा संवर तत्त्व के विषय में विवेचन चल रहा है। कल 'वध-परिषद्' के विषय में बताया गया था और आज संवर के बाईसवें भेद यानी चौदहवें परिषद् के विषय में कहा जाएगा। यह परिषद् 'याचना परिषद्' कहलाता है। किसी से याचना करना सरल नहीं है, अपितु बड़ा कठिन कार्य है।

आज आप लोगों से अगर कहा जाय कि एक दिन के लिए ही सही, पर आप झोली लेकर कुछ घरों से अपने खाने के लिए माँग लाइये अर्थात् भिक्षा ले आइये तो सुनते ही आपका पारा गरम हो उठेगा। इस बात को सुनने में भी आप अपना अपमान महसूस करेंगे और अपने गौरव पर की हुई चोट समझेंगे।

किन्तु हमारे साधु-समाज में ऐसा सोचने से काम नहीं चलता। यहाँ तो साधु चाहे निर्धन कुल से आया हो अथवा कोई श्रेष्ठ, राजा, महाराजा या चक्रवर्ती ही क्यों न रहा हो, जब वह संयम ग्रहण कर लेता है तो उसे अपने लिए भिक्षा लेने जाना ही पड़ता है और याचना करनी होती है।

पर यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि गृहस्थों के आहार ग्रहण करने की भावना में और साधु के आहार ग्रहण करने की भावना में बड़ा भारी अन्तर होता है। गृहस्थ जहाँ भोजन जीम के स्वाद की दृष्टि से और शरीर को पौष्टिक बनाने की दृष्टि से खाता है, वहाँ साधु उसे केवल शरीर को भाड़ा देने की दृष्टि से ग्रहण करता है। वह न खाद्य-पदार्थों के सरस या नीरस होने की परवाह करता है और न ही उसके पौष्टिक होने का खयाल रखता है। वह तो जो कुछ, जैसा और जितना भी मिल जाय अर्थात् भले ही उससे उदरपूर्ति न हो, लेकर पेट में डाल लेता है कि उसके द्वारा शरीर टिका रह सके और उसके द्वारा भक्ति, जप, तप एवं साधना आदि आत्मिक लाभ की क्रियाएँ की जा सकें।

भगवान महावीर ने 'याचना परिषद्' के विषय में फरमाया है—

दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो ।

सच्चं से जाइयं होइ, नत्थि किच्चि अजाइयं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २, गा० २८

अर्थात्—हे लोगो ! साधु का आचार अत्यन्त कठिन है। उसके उपकरण आदि समस्त पदार्थ माँगे हुए होते हैं, बिना माँगा तो उसके पास कुछ भी नहीं होता।

इस गाथा में भगवान ने साधुचर्या को अत्यन्त दुष्कर बताया है, क्योंकि साधु-जीवन में आयुपर्यन्त याचनावृत्ति बनी रहती है। साधु के पास वस्त्र एवं पात्र आदि जो भी उपकरण होते हैं, वे सब गृहस्थों से माँगे हुए होते हैं। बिना माँगी एक भी वस्तु उसके पास नहीं होती। जिस वस्तु की भी उसको जरूरत होती है वह बिना माँगे उसके पास नहीं आती और यह वृत्ति सदा उसके साथ बनी रहती है, अतः इस परतन्त्रता के कारण ही साधु-जीवन को अत्यन्त दुष्कर माना जाता है। किन्तु साधु को याचना करना परिषद् नहीं समझना चाहिए तथा आवश्यकतानुसार वस्तु को माँगने में किसी भी प्रकार की लज्जा का, हीनता का अथवा संकोच का अनुभव नहीं करना चाहिए।

सच्चे साधु इस परिषद् को भी हर्ष या शोक से रहित होकर सहन करते हैं। संत-समाज में सेवाभावी संत तपस्वी या रोगी साधुओं की सेवा के लिए प्रति-पल तैयार रहते हैं। उनके दिल में इस प्रकार का अभिमान नहीं होता कि मैं अमुक कार्य नहीं करूँगा अथवा पुनः पुनः वस्तुओं की याचना के लिए नहीं जाऊँगा।

मैंने स्वयं देखा है कि मुनि कृष्णमोहन जी करीब बहत्तर वर्ष की उम्र के थे। किन्तु आहार एक बार ले आने पर भी अगर वे देखते कि संतों को यह कम होगा तो चुपचाप पुनः चल देते थे। कभी यह विचार नहीं करते थे कि एक बार चक्कर लगाकर मैं थक गया हूँ या दुबारा जाने में शर्म आएगी। संयोग मिले तो साधु ले आता है और न मिले तो न सही।

तो, भिक्षा लाना बड़ा कठिन कार्य है, वस्त्र तो एक बार ले लिया फिर कई दिनों तक माँगने की जरूरत नहीं पड़ती, किन्तु आहार तो एक दिन नहीं, नित्य ही लाना पड़ता है। जब तक जीवन है भिक्षा लाने से छुटकारा नहीं मिलना। संग्रह तो साधु किसी भी चीज का नहीं कर सकता। वस्त्र या पात्र वह इतना ही रखेगा, जितना अपने हाथों से विहार करते समय उठा सकेगा और खाने-पीने की वस्तु को तो एक रात भी वह अपने पास नहीं रख सकता, ऐसा नियम है। इसलिए प्रतिदिन उसे भिक्षाचरी के लिए जाना पड़ता है। यह भी नहीं हो सकता कि कोई गृहस्थ स्वयं लाकर दे दे अथवा किसी से कहकर ही अपने निवास पर मंगा लिया जाय।

कभी-कभी तो भिक्षा लेने के लिए काफी-काफी समय तक भी लोगों को समझाना पड़ता है और अनेक बार गालियाँ या अपशब्द सुनने को मिलते हैं, भिक्षा नहीं मिलती।

एक बार हम दक्षिण से मालवे की तरफ जा रहे थे, साथ में मेरे छोटे गुरु-भाई उत्तमश्रृंगिणी थे। धूलिया से आगे 'पलाशनेर' गाँव आता है। आठ-दस

कोस का मार्ग था किन्तु अवस्था अधिक नहीं थी अतः उत्साह के कारण चलते गये । आखिर गाँव आया । वहाँ जैन श्रावकों के घर नहीं थे । पूछने पर मालूम हुआ कि ब्राह्मण का घर है । मैं काफी थक गया था अतः उत्तमऋषि जी भिक्षा के लिए गये । ब्राह्मण के घर से बाहर ही उसकी दुकान थी । उत्तमऋषि जी वहाँ पहुँचे कि शायद भुने हुए चने वगैरह मिल जायँ । ब्राह्मण के मन में कुछ भावना जागी और वह उत्तमऋषि जी से बोला—“चलो, तुमको रोटी दिलाता हूँ ।” संत ब्राह्मण के साथ घर गये तो ब्राह्मण बोला—“दरवाजे पर खड़े रहो, मैं रोटी ला देता हूँ ।”

किन्तु संत ने कहा—“भाई ! इस तरह हम आहार नहीं लेते । पहले घर में जाकर देखेंगे, फिर लेंगे ।”

इस बात पर ब्राह्मण नाराज हो गया और बोला—“अरे वाह ! घर में घुसने की क्या जरूरत है ? तुम्हें रोटी ही तो चाहिए, मैं लाकर दे दूँगा ।” संत नहीं माने और वहाँ से लौट चले तो ब्राह्मण उनके साथ भेरे पास आया और कहने लगा “महाराज ! यह तुम्हारे कैसे नियम हैं कि घर में घुसकर देखेंगे, तब रोटी लेंगे ?”

मैंने ब्राह्मण को समझाया—“देखो, हमें घर में जाकर देखना पड़ता है कि खाने की वस्तु शुद्ध है या नहीं ? शुद्ध हो तभी ले सकते हैं । हम जानते हैं कि इस संसार में कनक और कामिनी दो ही चीजें हैं, जिन्हें देखकर मन विगड़ता है पर प्रत्येक स्त्री हमारे लिए माता या बहन के समान है तथा धन मिट्टी के समान । पर घर में जाकर इसलिए देखते हैं कि कोई खाद्य पदार्थ अशुद्ध तो नहीं है । इसीलिए संत घर के अन्दर जाना चाहते थे ।”

इस प्रकार ब्राह्मण को काफी समझाया किन्तु वह टम से मस नहीं हुआ और बोला—“घर में तो मैं साधु को नहीं घुसने दूँगा । चने चाहिए तो ले लो ।”

मैंने उत्तर दिया—“ठीक है, हम चने ही ले लेंगे ।”

सारांश यही है कि याचना के लिए जाना कठिन है तथा अपने नियमों का पालन करते हुए भिक्षा लाना उससे भी कठिन है । आप विचार करते हैं कि बड़े-बड़े शहरों में संतों को क्या तकलीफ है ? बहुत घर होते हैं अतः सहज ही आहार की उपलब्धि हो जाती है ।

आपका यह विचार करना ठीक है, पर साधु एक स्थान पर केवल चातुर्मास में ही ठहरते हैं । बाकी समय में तो उन्हें ग्रामानुग्राम विचरण करना पड़ता है । और उस काल में आहार-जल के लिए उन्हें न जाने कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं तथा कितनी ही अप्रिय बातें भी सुननी होती हैं । साथ ही आहार ताजा मिले या बासी, कपड़ा नया मिले या पुराना किन्तु संयम की मर्यादा के अनुसार ही लिया जा सकता है । इस प्रकार साधु को याचना जीवन भर करनी पड़ती है और साथ ही

अपनी मर्यादा का खयाल रखते हुए शरीर को भाड़े के रूप में अन्न एवं वस्त्र देना पड़ता है।

आप व्यापारी लोग जिस प्रकार दुकान के लिए जगह किराये पर लेते हैं तथा उसके मालिक को किराया देकर अपने धन्ये से मुनाफा कमाते हैं। इसी प्रकार साधु शरीर को भी किराये पर ली हुई जगह समझते हैं तथा उसे आहार-जल के रूप में भाड़ा देते हुए जप, तप, सेवा, भक्ति एवं ज्ञान-ध्यान रूपी धन्यथा करके कर्म-निर्जरा के रूप में मुनाफा कमाते हैं। केवल शरीर को पुष्ट करने के लिए साधु आहार नहीं लेते।

संत तुकाराम जी ने कहा है—

“मागणे लई नाही, लई नाही,  
पोटा पुरते बेई, मागणे लई नाही।

संत प्रभु से कहते हैं—“हे भगवन् ! हम आपसे अधिक नहीं मांगते। केवल पेट भर जाय और उससे शरीर टिका रहे, बस इतना ही मांगते हैं। अधिक कदापि नहीं।

वस्तुतः आहार का वास्तविक प्रयोजन शरीर यात्रा का निर्वाह करना है। प्राणियों का शरीर कुदरती तौर पर इस प्रकार का बना हुआ है कि आहार के बिना वह अधिक समय तक नहीं टिक सकता। यही कारण है कि संत, मुनि एवं तपस्वियों को भी पारणे के दिन आहार करना पड़ता है। शरीर को टिकाने की दृष्टि से आहार ग्रहण करना अनिवार्य है अतः जगत के किसी भी धर्मशास्त्र में आहार करने का निषेध नहीं किया गया है।

फिर भी संत, मुनि एवं महापुरुष बिना किसी स्वाद-लोलुपता के शरीर के निर्वाह मात्र को आहार ग्रहण करते हैं तथा उसमें भी अगर कभी कोई भूखा व्यक्ति सम्मुख आ जाता है तो बिना हिचकिचाहट के अपना भाग उसे प्रदान कर देते हैं। एक प्रसिद्ध वैदिक कथा है—

सर्वश्रेष्ठ दान

महाभारत की समाप्ति के बाद युधिष्ठिर हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठे। राज्य प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने ‘अश्वमेध’ नामक बड़ा भारी यज्ञ किया। इस महायज्ञ में भारत के समस्त राजा-महाराजा आए। बड़ी धूम-धाम से यज्ञ हुआ। उस अवसर पर देश के कोने-कोने में भी मुनादी करवा दी गई कि जितने भी ब्राह्मण एवं दीन-दरिद्र व्यक्ति दान लेना चाहें, निस्संकोच आएँ तथा राजाधिराज युधिष्ठिर के द्वारा अन्न, वस्त्र एवं धन ले जाएँ।

इस घोषणा के कारण प्रत्येक जाति के अभावग्रस्त व्यक्ति दल के दल आते जा रहे थे तथा युधिष्ठिर के द्वारा इच्छित दान लेकर लौट रहे थे। इस प्रकार शास्त्रोक्त रीति का पूर्णतया पालन करते हुए महायज्ञ सम्पन्न किया गया।

किन्तु यज्ञ की समाप्ति के दिन एक बड़ी विस्मयजनक घटना हुई। वह इस प्रकार कि उस दिन अचानक एक बड़ा सा नेवला वहाँ आया। नेवले का शरीर अजीब दिखाई दे रहा था, क्योंकि उसका आधा शरीर सुनहरा था और आधा वैसा, जैसा कि साधारण नेवलों का होता है।

वह नेवला यज्ञशाला के मध्य में आया और वहाँ उपस्थित असंख्य व्यक्तियों को देखकर जोर-जोर से हँसने लगा। उसे इस प्रकार मनुष्यों के समान हँसते देखकर उपस्थित जन-समुदाय चौक उठा तथा लोग समझे कि कदाचित् कोई भूत-पिशाच नेवले का रूप धारण करके यज्ञ में विघ्न डालने आया है। वे चौंकते हुए नेवले को देख रहे थे जो निर्भिकता पूर्वक यज्ञशाला की भूमि पर लोट रहा था।

कुछ समय तक इस दृश्य को देखने के पश्चात् कुछ लोगों ने हिम्मत करके नेवले से भूमि पर लोटने का और उसके जोर से हँसने का कारण पूछा।

इस पर नेवला मनुष्यों के जैसी भाषा में बोला—“सज्जनो ! आप यह यज्ञ करके बड़े प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं और सोच रहे हैं कि हमने यह यज्ञ करके बड़ी प्रशंसा के योग्य कार्य किया है। पर याद रखिये आपका यह गर्व मिथ्या और भ्रम-मात्र है। इससे महान यज्ञ तो कुरुक्षेत्र में रहने वाले एक गरीब ब्राह्मण ने बहुत पहले किया था जिसका मुकाबला आपका यह यज्ञ नहीं कर सकता।”

यज्ञशाला में उपस्थित लोग नेवले को देखकर जितना चौंके थे, उससे भी अधिक उसकी बात सुनकर चौंक पड़े। अनेक याजक ब्राह्मणों ने उससे पूछा—

“भाई ! तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो और इस अश्वमेध महायज्ञ की बुराई क्यों कर रहे हो ? यह यज्ञ सभी शास्त्रोक्त विधियों और सामग्रियों के द्वारा किया गया है तथा इस यज्ञ में आने वाले धनी-निर्धन एवं याचकों को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किया है। न यहाँ मन्त्र-पाठ में कोई त्रुटि हुई है, न आहुतियाँ गलत तरीके से दी गई हैं और न ही दान में कहीं कमी की गई है। चारों वर्णों के व्यक्ति पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किये गये हैं। फिर किस कारण तुम इसे गलत और दोषपूर्ण बता रहे हो ?”

नेवले ने अपनी बात पर जोर देकर पुनः कहा—“मैं सत्य कहता हूँ कि उस दरिद्र ब्राह्मण ने एक सेर आटे में जो यज्ञ किया था, वह आपके लाखों रुपये खर्च करके किये गये इस महायज्ञ की तुलना से अनेक गुना अधिक महत्त्वपूर्ण था।”



“एक सेर आटे में यज्ञ ?” लोग इस बात को सुनकर मुँह बाये खड़े रह गये। पर अपनी उत्सुकता शान्त न कर पाने के कारण फिर कह बैठे—“कैसी बातें कर रहे हो तुम ? इस महान् यज्ञ से बड़ा यज्ञ केवल एक सेर आटे में किया गया था ? और वह भी एक दीन-दरिद्र ब्राह्मण के द्वारा ? क्या प्रमाण है इसका तुम्हारे पास कि उसका यज्ञ हमारे इस शास्त्रोक्त यज्ञ से महान् था ?”

इन प्रश्नों को सुनकर नेवला बोला—“अगर आप लोग जानना ही चाहते हैं तो सुनिये ! इस महाभारत के युद्ध से पहले कुरुक्षेत्र में एक अत्यन्त गरीब ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधू भी उसके परिवार में थे। उनके पास पैसा नहीं था अतः खेतों में बिखरे हुए अनाज के दानों को बीन-बीनकर वे इकट्ठा करते थे और तीसरा पहर प्रारम्भ होने के कुछ पहले ही सब आपस में बाँटकर खा लिया करते थे।

वे अनाज मिलने पर अपने नियत समय पर खाते थे और उस समय तक अगर कभी अनाज न मिलता तो चारों उपवास कर लेते थे। एक बार पानी न बरसने के कारण बड़ा भारी अकाल पड़ गया। चारों तरफ लोग भूख एवं प्यास से तड़पने लगे। ऐसी स्थिति में खेतों में कुछ उगता नहीं था और जब उगता नहीं था तो फसल कहाँ से कटती और अनाज वहाँ बिखरता भी कैसे ? अतः ब्राह्मण परिवार को कई दिन तक निराहार रहना पड़ा।

पर एक दिन संयोगवश वे लोग बहुत दूर निकल गये और तपती दोपहर में घूमते-घामते उन्हें करीब एक सेर ज्वार के दाने मिल गये। उन दानों को बीनते हुए उन्हें धण्टों लगे पर वे प्रसन्न होकर घर लौटे और उनका आटा पीसा। परिवार के चारों सदस्यों ने अपना नित्य का पूजा-पाठ समाप्त किया। इसके पश्चात् उस आटे को बराबर-बराबर चार भागों में बाँटकर वे प्रसन्नता पूर्वक खाने के लिए बंटे।

किन्तु ठीक उसी समय एक ब्राह्मण वहाँ आया और उसने भूख से पीड़ित होने की दुहाई देते हुए अपने लिए भोजन माँगा। ब्राह्मण तो अतिथि को देखते ही उठ खड़ा हुआ और उसने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक विधिवत् उसका सत्कार किया। उसे अपने समीप बैठाया और कहा—“विप्रवर और तो कुछ हमारे पास है नहीं, केवल परिश्रम से तैयार किया हुआ यह ज्वार का आटा है। कृपा करके आप इसे ग्रहण करें।” यह कहते हुए हर्ष-विह्वल होकर ब्राह्मण ने अपने भाग का आटा अतिथि के समक्ष रख दिया।

अतिथि ने ब्राह्मण के हिस्से का आटा खा लिया किन्तु उसकी भूख नहीं मिटी और वह तृपित नेत्रों से ब्राह्मण की ओर देखने लगा। ब्राह्मण ने यह समझ लिया और समझकर वह चिन्तित हो गया कि ब्राह्मण को अब क्या खिलाऊँ।

“इस स्थिति में कुछ क्षण भी नहीं बीते थे कि चतुर एवं पतिव्रता ब्राह्मणी जो कि समीप ही बैठी थी, बोल उठी—“स्वामी ! मेरे हिस्से का यह आटा भी अतिथि देवता के समक्ष रख दीजिये ।”

ब्राह्मण संकुचित होता हुआ बोला—“देवी तुम भूखी हो । पति का कर्तव्य तो पत्नी का भरण-पोषण करना होता है, किन्तु मैं कई दिनों से तुम्हें कुछ भी नहीं खिला सका, इसलिए तुम्हारा शरीर अत्यन्त निर्बल हो गया है । फिर भला तुम्हें भूखी रखकर मैं अतिथि-सत्कार कैसे करूँ ?”

पर पत्नी कब मानने वाली थी ? आग्रहपूर्वक बोली—“मैं आपकी सह-घर्मिणी हूँ । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सभी में मेरा आपके समान अधिकार तो अतिथ्य में क्यों नहीं होगा ? आप कृपा करके मेरे हिस्से का आटा भी सहर्ष अतिथि को प्रदान करिये ।”

ब्राह्मण ने पत्नी की पति-भक्ति एवं अतिथि-सत्कार का आदर करते हुए उसके हिस्से का आटा भी अतिथि के समक्ष रख दिया । पर उसे खा चुकने पर भी ब्राह्मण की भूख नहीं मिटी । इस पर ब्राह्मण बड़ा उदास हुआ और अतिथि को सन्तुष्ट न कर पाने के कारण दुखी होने लगा ।

यह देखते ही ब्राह्मण का पुत्र बोला—“पिताजी ! आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं ? यह मेरा आटा रखा है न, इसे अतिथि को खिलाइये ।”

पुत्र की बात सुनकर ब्राह्मण व्यथित होता हुआ कहने लगा—“बेटा ! बृद्धे व्यक्ति भूख सहन कर लेते हैं पर जवानी में तो भूख अधिक सताती है, फिर मैं किस प्रकार तुम्हारा हिस्सा अतिथि को दूँ ?”

सपूत पुत्र बोला—“पिताजी ! पुत्र का कर्तव्य पिता के गौरव और धर्म को अक्षुण्ण रखना होता है । इसके अलावा भूख मले ही जवानी में अधिक लगती हो पर जवान शरीर अधिक समय तक भूख सहन भी कर लेता है तथा कृश नहीं होता । मुझे तनिक भी कष्ट नहीं है । आप सहर्ष इस आटे को अतिथि के सन्मुख रखें ।”

इस बात पर बेटे के लिए गर्व करते हुए ब्राह्मण ने अपने पुत्र का हिस्सा भी अतिथि को सन्तुष्ट करने के लिए दे दिया ।

पर आश्चर्य की बात थी कि अतिथि का पेट तब भी नहीं भरा और उसके मुँह पर सन्तोष की झलक दिखाई नहीं दी । यह देखकर ब्राह्मण अत्यन्त लज्जित होता हुआ मस्तक झुकाकर बैठ गया । पर उसी क्षण उसको पुत्रवधू कहने लगी—“पिताजी ! यह मेरा हिस्सा भी मैं अपने आगत अतिथि को देना चाहती हूँ । आप यह आटा कृपा करके इनके सन्मुख रख दीजिए । मेरा तो आपके आशीर्वाद से ही कल्याण होगा ।”

ब्राह्मण बड़े धर्म-संकट में पड़ गया और अत्यन्त कातर होकर बोला—  
“बेटी ! तुम अभी बचची हो। भूख सहते-सहते बैसे ही तुम्हारा चेहरा कुम्हला गया है। क्या सोचती होओगी तुम कि समुद्र के धर में कभी तुम्हें भरपेट अन्न भी नहीं मिला। मला तुम्हें भूखी रखकर मैं किस प्रकार अतिथि-सत्कार करूँ ?”

समुद्र की बात सुनकर बहू गद्-गद् हो गई और बोली—“आपका इतना प्रेम ही मेरे लिए बहुत है पिताजी ! मेरा यह शरीर आपकी सेवा के लिए ही है। फिर आप सबको भूखे रखकर क्या मैं यह आटा खा सकूँगी ? मेरा तो परम सौभाग्य होगा कि मेरे हिस्से का यह आटा अतिथि के उपयोग में आये।”

ब्राह्मण अपनी सती पुत्रवधू की यह बात सुनकर अपने आपको गौरवान्वित एवं भाग्यवान समझने लगा तथा उसे हृदय से आशीर्वाद देते हुए उसके हिस्से का आटा भी अतिथि के सम्मुख रख दिया।

अतिथि ने वह आटा भी खाया और उसे खाते ही वह पूर्ण तृप्ति का अनुभव करने लगा। यह देखकर ब्राह्मण परिवार अत्यन्त प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हुआ और अपने आपको सौभाग्यशाली मानने लगा।

यह देखकर अब अतिथि बोला—“द्विजप्रवर ! आज आपने जो अतिथि-सत्कार किया है तथा अपनी शक्ति के अनुकूल दान दिया है, वह अद्भुत है। आपके इस दान की बराबरी लाखों और करोड़ों रूपयों का दान भी नहीं कर सकता। आपके इस दान के फलस्वरूप देवता भी पुष्पवृष्टि कर रहे हैं तथा आपके दर्शन के लिए व्याकुल हैं। आप चारों ही प्राणी एक से एक बढ़कर हैं और महान हैं। इस संसार में तो यह देखा जाता है कि भूख से विवेक का नाश हो जाता है और अतिथि-सत्कार तो दूर, लोग आपस में ही लड़ मरते हैं। किन्तु आप लोगों ने स्वयं कई दिनों से निराहार रहकर भी आज भुझे जो दान दिया है, वह सैकड़ों राजसूय यज्ञों और अश्वमेध यज्ञों से बढ़कर है। और इसलिए वह देखिए, दैवी विमान आपके लिए प्रस्तुत है। आप चारों ही इस विमान में बैठकर अभी स्वर्ग जायेंगे।” यह कहते हुए वह अतिथि जो कि स्वयं विष्णु थे, अन्तर्धान हो गये और ब्राह्मण परिवार स्वर्ग की ओर गया।

यह कहते-कहते नेवला राजाधिराज युधिष्ठिर की यज्ञशाला में उपस्थित व्यक्तियों से बोला—“विप्रगण ! उस ब्राह्मण परिवार को मैंने स्वयं अपनी आँखों से विमान में बैठकर स्वर्ग जाते हुए देखा। मैं वहीं था और वहाँ दान में दिये जाने वाले सेर भर ज्वार के आटे के जो कण बिखरे हुए थे, उन्हें सूँघ रहा था। उन कणों की स्वर्गीय सुगन्ध से तो मेरा सिर सुनहरा हो गया और जहाँ वह आटा परोसा गया था, वहाँ लोटेने से आटे के जो कुछ कण वहाँ बिखरे थे, उनके स्पर्श से मेरा आधा शरीर और सुनहरा हुआ। अपने आधे शरीर को जगमगाते हुए देखकर मेरी तीव्र

इच्छा थी कि मेरा बाकी शरीर भी मुनहरा हो जाय। इसी अभिलाषा से मैं तब से तपोवनों में और यज्ञशालाओं की धूल में लोटता रहता हूँ कि कहीं उस ब्राह्मण के जैसा महादान कोई दे तो मैं पूरा मुनहरा बनकर चमकने लूँ। किन्तु ऐसा लगता है कि उस दान का मुकाबला करने वाला कोई भी दान अब तक नहीं दिया गया है और महाराज युधिष्ठिर ने यद्यपि बहुत दान लोगों को दिया है, पर वह भी उस ब्राह्मण के दान से कम है और उस एक सेर आटे की बराबरी नहीं कर सकता।”

नेवले की बात सुनकर यज्ञशाला में उपस्थित महाराज युधिष्ठिर और अन्य सभी लोगों के मस्तक लज्जा से झुक गये। उन्हें समझ में आ गया कि श्रेष्ठ दान किसे कहते हैं।

वस्तुतः कीर्ति की इच्छा से दिया हुआ दान, दान नहीं कहलाता। सच्चा दान वही होता है जो बिना ख्याति-प्राप्ति की अभिलाषा से मन, वचन एवं शरीर से दिया जाता है। कहा भी है—

सककच्चं दानं देथ, सहत्था दानं देथ ।

चित्सीकतं दानं देथ, अनपविद्धं दानं देथ ॥

—दीर्घनिकाय २।१०।५

अर्थात्—सत्कारपूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो और ठीक तरह से दोषरहित दान दो।

बन्धुओ ! आज हम देखते हैं कि आप श्रेष्ठ लोग अगर दान देते हैं तो इसीलिए कि दानदाताओं की सूची में आपका नाम अंकित हो जाय। स्थानकों में, धर्मशालाओं में या मन्दिरों में आपके नाम का शिलालेख सदा के लिए लग जाय। अगर ऐसा न हो तो आपको दान देने की कतई इच्छा न हो। प्रमाणस्वरूप हम लोग आपके घरों में भिक्षा की याचना के लिए जाते हैं, किन्तु आप लोगों को अपने हाथ से हमें भिक्षा देने की भावना नहीं होती। उलटे साधु को आता देखकर आप घर में इधर-उधर हो जाते हैं। आहार आपके घरों में बहनें देती हैं क्योंकि साधु रसोईघर तक पहुँच ही जाते हैं। इसके अलावा अनेक घरों में तो बहनें भी इस कार्य को नहीं करतीं। क्योंकि आपके पास बहुत पैसा होता है अतः रसोई भी नौकर-चाकर बनाते हैं। परिणाम यह होता है कि साधु को आहार-जल प्रदान करना भी नौकरों के जिम्मे कर दिया जाता है।

तो साधु घर में आते हैं, इसलिए अन्य कार्यों के समान भिक्षा देने का कार्य भी जहाँ नौकर का होता है, क्या उस घर में से दिया हुआ आहार-दान, दान कहला सकता है? क्या आप उस दान से कुछ लाभ हासिल कर सकते हैं? नहीं, दान ऐसी सस्ती चीज नहीं है, जिसको चाहे जिस प्रकार दिये या दिलाये जाने पर भी वह फल प्रदान करे।

एक बात और भी है कि लोग दान को पैसा खर्च होना मानते हैं, पर यह विचार नहीं करते कि उससे जो प्राप्त होता है वह दिये हुए अन्न, वस्त्र या धन के मुकाबले में कितना अधिक होता है ।

ध्यासस्मृति में एक बड़ा सुन्दर श्लोक दिया गया है—

अदाता-पुरुषस्त्यागी, धनं संत्यज्य गच्छति ।  
दातारं कृपणं मन्ये, न मृतोऽप्यय मुञ्चति ॥

कहते हैं कि अदाता यानी दान न देने वाला कृपण पुरुष ही वास्तव में त्यागी है, क्योंकि वह धन को यहीं छोड़कर चला जाता है, साथ में कुछ नहीं ले जाता । पर दाता को मैं कृपण मानता हूँ, क्योंकि वह मरने पर भी धन को नहीं छोड़ता और उसे पुण्य के रूप में बदलकर अपने साथ ले जाता है ।

वास्तव में दानी पुरुष ही अपने साथ पुण्य-रूपी धन ले जा सकता है । पर जो जीवन भर धन इकट्ठा करता रहता है, दान में एक पैसा भी खर्च नहीं करता, वह अन्त में हाथ मल-मलकर पछताता है ।

आचार्य चाणक्य ने मधुमक्खियों के सतत पैरों को घिसने से अन्दाज लगाया है कि मधुमक्खियाँ पश्चात्ताप करती हुई कह रही हैं—

देयं भो ! ह्यधने-धनं सुकृतिभिर्नो संचयस्तस्य वै,  
श्री कर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता ।  
अस्माकं मधुदान-भोग रहितं नष्टं चिरात्संचितं,  
निर्वेदादिति नैजपावयुगलं धर्षन्त्यहो ! मक्षिकाः ॥

अर्थात्—व्यक्तियों को धन का केवल संग्रह न करते हुए उसे अभावग्रस्त लोगों को देते रहना चाहिए । क्योंकि दान के द्वारा ही कर्ण, बलि और विक्रम आदि राजाओं की ख्याति आज तक विद्यमान है ।

दान एवं भोग के बिना हमारा मधु, जो चिरकाल से संचित था, नष्ट हो गया है । इसी दुःख से हम अपने दोनों पैरों को घिस रही हैं ।

तो बन्धुओ ! हमारा मूल विषय तो याचना को लेकर चल रहा था, किन्तु प्रसंगवश दान के विषय में भी कुछ बता दिया गया है । क्योंकि याचना और दान का आपस में सम्बन्ध है । साधु प्रत्येक वस्तु याचना करके लेता है और गृहस्थ दान देता है । पर देने वाले की भावना भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । कोई आन्तरिक उल्लास,

प्रेम और भक्ति से देता है, और कोई बेमन से, लोकदिखावे के लिये अथवा यश-प्राप्ति के लिये देता है और कुछ तो ऐसे भी होते हैं जो कुछ देने के स्थान पर नाना प्रकार के दुर्वचन प्रदान करते हैं। साधु सभी की भावनाओं के प्रकट होने पर समभाव से उन्हें सहन करता है। भले ही व्यक्ति परम प्रसन्नतापूर्वक दे अथवा कटु वचनों के साथ दे, या न भी दे, वह सभी स्थितियों में समभाव रखता है और यही भगवान का आदेश है कि याचना करने पर साधु के सम्मुख कौसी भी स्थिति क्यों न आये, वह समता रखे और गृहस्थ के कटु-वचनों को भी 'याचना-परिषह' समझकर सहन करे। ऐसा करने पर ही वह संवरमार्ग का सच्चा पथिक बन सकता है तथा कर्मों की निर्जरा करता हुआ आत्म-कल्याण करने में समर्थ बनता है। सच्चा साधु 'याचना-परिषह' पर विजय प्राप्त करके ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। ❀

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने 'याचना-परिषद्' के विषय में विचार किया था । आज भी इसी विषय पर कुछ और चलाएँगे ।

आप लोगों को 'याचना' शब्द प्रिय नहीं लगता, याचना अर्थात् माँगना । भला किसी से कुछ माँगना आप कैसे पसन्द कर सकते हैं ? कहा भी जाता है—

धनमस्तीति वागिज्यं, किञ्चिदस्तीति कर्षणम् ।

सेवा न किञ्चिदस्तीति, भिक्षा नैव च नैव च ॥

अर्थात्—व्यक्ति के पास पर्याप्त धन हो तो व्यापार, थोड़ा धन हो तो खेती एवं बिलकुल ही धन न हो तो नौकरी या मजदूरी करनी चाहिए किन्तु भिक्षा तो कभी भी नहीं माँगनी चाहिए ।

कबीर जी ने भी यही कहा है—

माँगन मरन समान है, मत कोई माँगो भीख ।

माँगन से मरना भला, यह सतगुरु की सीख ॥

इन पद्यों से स्पष्ट है कि व्यक्ति के लिए माँगना या याचना करना अत्यन्त निकृष्ट कार्य है और माँगना मृत्यु के समान दुःखदायी है ।

किन्तु बन्धुओ ! साधु के लिए यह बात लागू नहीं होती । जो भव्य प्राणी साधु बनना चाहता है वह चाहे लखपति हो या करोड़पति, राजा हो या चक्रवर्ती, अपना सर्वस्व त्याग देता है तथा अकिञ्चन अर्थात्-कुछ भी अपने पास न रखने वाला बन जाता है । वह पूर्ण रूप से अपरिग्रही बनकर कल की चिन्ता न करता हुआ आज की आवश्यकता के अनुसार वस्तु याचना करके लाता है और उसके भी न मिलने पर परेशान या दुःखी नहीं होता वरन् पूर्ण संतोष व शान्ति से अपनी साधना में लगा रहता है । सबसे बड़ी बात यह है कि साधु मानापमान में पूर्ण समभाव रखता है तथा याचना करने पर जैसा भी व्यवहार उसे मिलता है उस पर विजय प्राप्त कर

लेता है। अर्थात् सम्मान सहित दिये जाने पर वह प्रसन्न नहीं होता और अपमान किये जाने पर शोक का अनुभव नहीं करता।

मुनि के लिए नियम है कि उसकी प्रत्येक वस्तु चाहे वह वस्त्र हो, पात्र हो या आहार-जल हो, सभी मांगकर ली हुई होती है। अपना कहने को उसके पास कुछ नहीं होता। सम्पूर्ण 'अपने' को तो वह संयम ग्रहण करने से पहले ही त्याग देता है। इसीलिए वह किसी वस्तु की याचना करने में अपनी हीनता नहीं समझता और याचना को परिषह समझकर उस पर विजय प्राप्त करता हुआ संतुष्ट रहता है। साधु अपने प्रत्येक आचार-विचार एवं कार्य से कर्मों की निर्जरा करने के लिए कटि-बद्ध रहता है। निर्जरा के बारह प्रकार होते हैं तथा उनमें से एक भिक्षाचरी भी है। आशय यह है कि याचना करके भिक्षा लाना भी निर्जरा का कारण है। फिर कर्मों की निर्जरा की दृष्टि से भिक्षा लाना साधु क्यों नहीं पसंद करेगा? कर्मों को तो जिस-जिस प्रकार से भी बने, काटना ही है।

### माँगने-माँगने में अन्तर

बन्धुओ, यहाँ आप यह विचार कर सकते हैं कि माँगना अथवा याचना करना अगर कर्मों की निर्जरा का हेतु है तो जितने भी संसार में भिखारी हैं, वे सभी अपने कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं?

पर ऐसा विचार करना अत्यन्त भ्रमात्मक एवं पूर्णतया गलत है।

अधिकांशतः आप जिन भिखारियों को देखते हैं, प्रथम तो वे अपनी धन-दौलत त्यागकर भिखारी नहीं बनते। अभाव के कारण मजबूर होकर वे भीख माँगते हैं। दूसरे उनमें न आत्म-कल्याण की भावना होती है, न कर्मों की निर्जरा करने की और न ही उनमें समता पूर्वक याचना को परिषह समझ उसे सहन करने की भावना ही रहती है। उनके हृदय में अपार तृष्णा, गृद्धता, लोलुपता एवं आसक्ति सतत बनी रहती है। अतः याचना करने पर इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर उन्हें अपार दुःख, क्रोध एवं कष्ट का अनुभव होता है। वे चिड़चिड़ाते हैं, मन ही मन गालियाँ देते हैं और कोई-कोई तो गृहस्थ को कोसते और शाप देते हुए उसके द्वार से लौटते हैं। साथ ही उन्हें अगर चार पैसे भी माँगने से मिल जायँ तो उसे ऐसी गृद्धता एवं आसक्ति पूर्वक रखते हैं, जिस प्रकार एक श्रेष्ठ अपने लाखों की सम्पत्ति में आसक्ति रखता है। भिखारी की तृष्णा कभी शांत नहीं होती, चाहे उसे कितना भी कुछ क्यों न मिल जाय।

एक श्लोक में ऐसे याचक की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए बताया गया

है—

वदनाच्च बहिर्यान्ति, प्राणा याञ्चाक्षरैः सह ।

वदाभीत्यक्षरैर्दानुः, पुनः कर्णाद् विशन्ति हि ॥



कहा है—याचना के अक्षरों के साथ याचक के प्राण मुंह से बाहर निकल जाते हैं। पर दाता अगर यह कहता है कि—‘देता हूँ।’ तो इन अक्षरों के साथ प्राण पुनः कानों के द्वारा अन्दर प्रवेश कर जाते हैं।

तो ऐसे व्यक्ति जो कि दिन में सैकड़ों बार मरते-जीते हैं तथा अपनी दरिद्रता को कोसते हुए महान् आर्तध्यान पूर्वक दिन-रात हाथ-हाथ करते हुए अपनी जिन्दगी के दिन रो-झीककर गुजारते हैं वे भला याचना को निर्जरा का हेतु कैसे बना सकते हैं ? वे तो प्रतिपल अशुभ कर्मों का बन्धन करते चले जाते हैं।

इसके विपरीत अपना सब कुछ स्वेच्छा से त्यागकर अकिंचन बन जाने वाला तथा अपरिग्रह व्रत को धारण करने वाला श्रमण कदम-कदम पर अपने कर्मों की निर्जरा करता चलता है। वह अपने आपको स्वप्न में भी दीन-हीन नहीं समझता, वरन् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त चारित्र्य का धनी मानता है। वह अपनी आत्मा में असीम शक्ति का अनुभव करता है तथा पूर्ण साहस एवं विश्वासपूर्वक दृढ़ कदम रखता हुआ साधना के मार्ग पर चलता है।

सच्चा साधु केवल तन टकने के लिए वस्त्र की और शरीर टिकाये रखने के लिए आहार की याचना करता है। न उसे यह परवाह होती है कि खाद्य पदार्थ स्वादिष्ट हो, और न यही फिक्र रहती है कि उदरपूर्ति होनी ही चाहिए। रोटी के दो टुकड़े भी मिल जायँ तो वे पेट में डालकर अपनी साधना में लग जाते हैं।

महात्मा कबीर ने तो क्षुधा को कुतिया की उपमा देते हुए कहा है—

क्षुधा कारी कूतरी करत भजन में भंग।

या को टुकड़ा डारि के भजन करो निःशंक ॥

पद्य का अर्थ कठिन नहीं है और न ही इसकी भाषा अलंकार युक्त है। किन्तु सीधे-सादे कुछ शब्दों में ही भावना के पीछे रहने वाला बड़ा भारी रहस्य छुपा हुआ है।

जिस प्रकार कुत्ता भोजन की लालसा में बार-बार दरवाजे के अन्दर घुसने की कोशिश करता हुआ आपको परेशान करता है, पूँछ हिला-हिलाकर याचना करता हुआ आपकी शांति में विघ्न डालता है और इसके फलस्वरूप आप लापरवाही, उपेक्षा और झुंझलाहट से उसके सामने रोटी का टुकड़ा फेंककर निर्विघ्न होते हुए अपने काम में लग जाते हैं, उसी प्रकार सच्चे साधु क्षुधा को कुतिया के समान समझते हैं जो भोज्य-पदार्थ की इच्छा से बार-बार जागृत होकर उनकी साधना में विघ्न डालती है। और इसीलिए वे उसे बड़ी झुंझलाहट, निस्पृहता, उपेक्षा और बेपरवाही से कम-ज्यादा, रूखा-सूखा एवं सुस्वादु या बेस्वाद, जैसा भी मिल जाता है, दे

देते हैं और निःशंक होकर शांत चित्त से अपनी साधना में लग जाते हैं। उनके लिए भोजन का कोई महत्व नहीं होता, महत्व होता है अपनी साधना का, संयम का और समभाव का।

तो बंधुओ, अब आप भली-भाँति समझ गये होंगे कि साधारण मिखारी की याचना में और संयमी साधु की याचना में कितना अन्तर होता है? दोनों की याचना परस्पर विपरीतता लिए हुए होती है और दूसरे शब्दों में जमीन-आसमान का अन्तर रखती है।

कल मैंने संत तुकाराम जी की बात आपका बताई थी, आज उस बात को पूरी करता हूँ। उनकी तथा उन जैसे संतों की ईश्वर से यही प्रार्थना होती है—

मागणे लई नाही, लई नाही,  
पोटा पुरते देई, मागणे लई नाही।  
पोली साजुक अथवा शिली,  
देवा देई भुकेच्या वेली, मागणे लई नाही।  
वस्त्र नव अथवा जुने,  
देवा देई अंग भरून, मागणे लई नाही।

सच्चे साध कहते हैं—हे प्रभो ! हमें संसार की किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं है, महल, मकान, धन, खेत, जमीन, सोना, चाँदी एवं भोग-विलास के किसी भी साधन को हम आपसे नहीं चाहते। हमें साधना करके आत्म-कल्याण करना है पर इसके लिए शरीर की जरूरत है। केवल इसीलिए भूख के तंग करने पर केवल पेट भरने लायक अन्न मिल जाय, वही काफी है। रोटी भी चाहे ताजी हो, चाहे बासी। उससे हमारे लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इसके अलावा सांसारिक मर्यादा अथवा लोक-लज्जा के कारण तन ढकना आवश्यक है अतः हमें वस्त्र लेना है। वह वस्त्र भी चाहे नया हो, चाहे पुराना, इसकी भी हमें परवाह नहीं है, बस शरीर ही ढकना है। बस, इनके अलावा हम आपसे कुछ भी नहीं माँगते।

तो सच्चे साधु इस प्रकार लापरवाही से जैसा मिले वैसा अन्न और जैसा मिल जाय नैसा ही कपड़ा ले लेते हैं। संत-सतियों के काम में नये हों तो ठीक और नहीं तो पुराने वस्त्र भी काम में आ जाते हैं। जरूरत से अधिक लेने का तो सवाल ही नहीं है, क्योंकि अपना बोझ वे स्वयं ही उठाते हैं, फिर अधिक वस्तु लेकर उठाने की परेशानी कौन भोल लेना चाहेगा? कोई भी नहीं। साधु अपरिग्रही होते हैं और आवश्यकता से अधिक होना परिग्रह में आ जाता है। अतः वे उतना ही लेंगे जितने

की उन्हें आवश्यकता होगी। जरूरत होने पर वे निर्विकार भाव से वस्तु की याचना करेंगे और याचना के परिणामस्वरूप किसी ने अपशब्द कहे या गालियाँ दीं तो भी उन्हें सहज एवं समभाव से सहन कर लेंगे। ऐसा करने पर ही वे अपने कर्मों की निर्जरा में सफल होंगे तथा संवर के मार्ग पर चलेंगे।

साधु को जीवन में सभी प्रकार की स्थितियों से गुजरना पड़ता है। कभी उन्हें भक्ति, श्रद्धा और सम्मान से दान देने वाले मिलते हैं और कभी भर्त्सना युक्त शब्दों से देने वाले भी। साथ ही कभी ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जो भर्त्सना, गालियाँ या अपशब्द ही देते हैं, दान नहीं। आशय यही कि संसार में सभी प्रकार के व्यक्ति होते हैं।

स्थानांग सूत्र के चौथे अध्याय में मेघ से तुलना करते हुए चार प्रकार के व्यक्ति बताए गए हैं। गाथा इस प्रकार है—

गज्जित्ता णामं एगे णो वासित्ता ।  
वासित्ता णामं एगे णो गज्जित्ता ।  
एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि ।  
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता ।

मेघ के गरजने को बोलने और बरसने को देने की उपमा देते हुए मनुष्य के लिए कहा गया है कि संसार में चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं—

कुछ बोलते हैं, देते नहीं ।  
कुछ देते हैं किन्तु बोलते नहीं ।  
कुछ देते भी हैं और बोलते भी हैं ।  
और कुछ न बोलते हैं, न ही देते हैं ।

पर साधु इस प्रकार के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समान स्नेहभाव एवं समभाव रखते हैं। वे देने वाले से विशेष प्रसन्न नहीं होते और न देने वाले पर नाराज नहीं होते। साथ ही कोई भी वस्तु न देकर केवल कटु-शब्द प्रदान करने वाले पर भी वे वही सहज और स्नेहपूर्ण भाव रखते हैं। वे इस बात से भयभीत रहते हैं कि अगर मन पर संयम न रहने से कोई कटु शब्द जबान से निकल गया तो मेरे कर्मों का बन्धन तो होगा ही साथ ही, और कोई अनर्थ न घट जाय। द्रौपदी के एक ही कटु-वाक्य से महाभारत हुआ था और ऐवंता मुनि के कटु-शब्दों से कंस का अनिष्ट।

ऐवंता मुनि कंस के भाई थे। मुनिधर्म ग्रहण करने के पश्चात् संयोगवश एक द्वार वे विचरण करते-करते अपने भाई कंस के नगर में आ पहुँचे और उस वक्त राजमहल में अरुहर की याचना के लिए पहुँचे, जबकि कंस की बहन देवकी का विवाह था और ब्याह के गीत गाये जा रहे थे।

कंस की पत्नी और ऐवंता मुनि की भाभी रानी जीवयशा उस समय अपने संसार पक्ष के देवर-मुनि को आया हुआ देखकर मजाक में कह बैठी—“वाह देवर जी ! बड़े मौके पर आए हो, आओ, हम मिलकर देवकी के विवाह के गीत गाएं।” साथ ही उसने यह भी कह दिया—

“तुम्हारे भाई तो राज्य करते हैं और तुम घर-घर मीख माँगते हो। इससे हमें लज्जा आती है।”

ऐवंता मुनि को अपनी भाभी की दोनों ही बातें खल गईं। वे अपने आप पर संयम नहीं रख पाये और क्रोध से कह बैठे—“जिस देवकी की शादी के तुम गीत गा रही हो, उसी देवकी का सातवाँ पुत्र तुम्हारे सुहाग को उजाड़ेगा और राज्य-पाट का तुम्हारा यह गवं चूर-चूर हो जायेगा।”

ऐवंता मुनि के इस कथन से उनके कर्मों का बन्धन तो हुआ ही, साथ ही कंस अपनी बहन देवकी और बहनोई वसुदेव का शत्रु बन गया। उसने विवाह होते ही बहन-बहनोई को जेल में बन्द कर दिया और वर्षों तक कैद रखा। इतना ही नहीं, देवकी के छः पुत्रों का वध किया। सातवें पुत्र तो कृष्ण थे जो अपने जन्म के साथ ही विशेष पुण्य लेकर आए थे। उनके फलस्वरूप ही वसुदेव उन्हें पैदा होते ही टोकरी में डालकर जेल से बाहर निकले।

वैसे क्या भारी-भरकम तालों के और हथियारबन्द पहरेदारों के होते हुए कारागार से निकलना संभव था ? पर श्रीकृष्ण की जबर्दस्त पुण्यवानी के कारण ही दरवाजों के ताले स्वयं खुल गये, पहरेदार सो गये और उफनती हुई यमुना ने कृष्ण के चरणों का स्पर्श करते ही दो भागों में बँटकर मार्ग दे दिया।

कृष्ण गोकुल में नन्द के घर पहुँच गये और वहाँ बड़े हुए। किन्तु बचपन से ही उनके अद्भुत कारनामों की ख्याति मथुरा में कंस तक पहुँच गई और वह यह जानकर कि देवकी का सातवाँ पुत्र गोकुल में बड़ा हो रहा है, अत्यन्त क्षुब्ध और क्रोधित हुआ। उसे यही भय था कि कृष्ण के द्वारा मेरी मृत्यु की बात मुनि के द्वारा कही गई है अतः वह सत्य न हो जाय। इसलिए उसने कमी पूतना राक्षसी को और कमी किसी अन्य को बार-बार भेजकर कृष्ण को मरवा डालना चाहा।

किन्तु, ‘जाको राखे सांडियाँ मार सकै नहिं कोय।’ इस कहावत के अनुसार या स्वयं श्रीकृष्ण के वामुदेव का अवतार होने से उनकी मृत्यु नहीं हो सकी और कंस को उन्हीं के हाथों मरना पड़ा।

तो बन्धुओ, ऐवंता मुनि आहार के लिए गये थे किन्तु वहाँ मामी के अप्रिय वचन सुनकर अपने ऊपर संयम नहीं रख सके और क्रोध में आकर भविष्यवाणी कर बैठे। इससे अपनी हानि तो उन्होंने की ही, साथ ही वसुदेव एवं देवकी को वर्षों

कारावास का कष्ट सहना पड़ा, पुत्र के वियोग का कष्ट भोगना पड़ा तथा वचन पर ही कृष्ण को कंस के अत्याचारों का सामना करना पड़ा ।

इसलिए साधु को सदा अपने वचनों पर पूर्ण संयम रखना चाहिए तथा याचना करने पर भी अगर वस्तु उपलब्ध न हो तो पूर्ण समभाव रखते हुए अपने स्थान पर आना चाहिए । इसके विपरीत अगर वह अपने आप पर कन्ट्रोल नहीं रखता है तथा गृहस्थ के अप्रिय व्यवहार के उत्तर में स्वयं भी कटु व्यवहार कर जाता है तो अनेक कर्मों का भागी बनता है ।

भगवती सूत्र में बताया गया है कि गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न पूछते हैं—

“हे भगवन् ! भिक्षाचरी के लिए जाते समय मुनि कितने कर्म बाँधकर आता है ?”

भगवान उत्तर देते हैं—“गौतम ! गोचरी के लिए गया मुनि ७-८ कर्म बाँधकर आता है ।”

आपके दिल में शंका होगी कि ७-८ कर्म क्यों ? इसका कारण यह है कि अगर आयुष्य कर्म पहले बँध चुका है तो सात कर्म और नहीं तो आठ कर्म बाँधकर आता है ।

ये कर्म समभाव न रहने से, क्रोध आने से, द्वेष होने से और अभिमान जागृत रहने से बँधते हैं ।

गौतम स्वामी पुनः प्रश्न करते हैं कि उस समय किसी के कर्मों की निर्जरा भी होती है ?

भगवान उत्तर देते हैं—“हाँ, अगर गोचरी के लिये जाने पर किसी प्रकार की तकलीफ सामने आए, कोई संकट और विपत्ति आ पड़े, किन्तु उस समय साधु पूर्ण समभाव रखे तथा संयम में हड़ रहे तो ७-८ कर्मों की निर्जरा होती है ।”

इस प्रकार भिक्षाचरी में निर्जरा भी हो सकती है और कर्मबन्धन भी हो सकता है । समता रही तो निर्जरा और विषमता आ गई तो कर्मबन्धन होता है । इसलिये साधु को भगवान का आदेश है कि वह याचना करने जाने पर कौसा भी संकट क्यों न आए, पूर्ण समता से उसे सहन करे ।

श्री उत्तराख्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय की उनतीसवीं गाथा में भिक्षा के सम्बन्ध में ही आगे कहा गया है—

गोयरगपविट्ठस्स, पाणी नो मुप्पसारए ।

‘सेओ अगारवासु’ त्त, इहे भिक्खू न चितए ॥

अर्थात्—भिक्षा के निमित्त से किसी के घर में जाने पर साधु कभी इस प्रकार का विचार न करे कि इन लोगों के घरों में प्रतिदिन हाथ फैलाने की अपेक्षा तो घर में रहना ही श्रेष्ठ है ।

इस गाथा के द्वारा भगवान साधु को भिक्षा के लिये जाने पर मन में तनिक भी ग्लानि अथवा दीनता या हीनता का भाव न रखने का आदेश देते हैं । क्योंकि साधु की भिक्षा, दीन-भिक्षा नहीं, अपितु वीर-भिक्षा होती है ।

अभी मैंने आपको बताया था कि दीन-हीन भिखारी एवं साधु की याचना में कितना अन्तर होता है । एक पद्य के द्वारा पुनः उस बात को आपके सामने रखता हूँ । पद्य इस प्रकार है—

‘वेपथुः मलिनं बब्रं, दीना वाक् गद्गदः स्वरः ।

मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥’

कहा गया है—भिखारी जब भिक्षा माँगते हैं तब उनके शरीर में कंपन होता है, मुँह मलिन रहता है, चेहरा दीनता से कुम्हला जाता है तथा अत्यन्त दीन वाक्य उनके मुँह से निकलते हैं, जिनसे यही झलकता है—हमें कृपा करके कुछ दो, तुम्हारे सिवाय कौन हमारी उदर-पूर्ति करेगा और तुम न दोगे तो हम बेमौत मर जायेंगे । इस प्रकार गद्गद स्वर से वे दर-दर पर याचना करते हैं ।

कवि ने आगे कहा है कि ऐसे व्यक्तियों के मरते समय भी यही चिह्न चेहरे पर बने रहते हैं । शरीर में कंपकपी, चेहरे पर कातरता और मलिनता, अत्यन्त शोक और पीछे रहने वाले बाल-बच्चों के लिये अपार चिन्तायुक्त दीन-वचन ।

तो उन लोगों के याचना करते समय और मरते समय भी वही लक्षण शरीर और चेहरे पर रहते हैं । दूसरे शब्दों में उनका जीना और मरना समान ही होता है । न उन्हें जीवित रहते हुए कभी शान्ति और सन्तोष का अनुभव होता है और न मरते वक्त भी इनकी प्राप्ति होती है ।

किन्तु मुनि दोनों ही परिस्थितियों का वीरता से मुकाबला करता है । वह भिक्षा के लिये जाता है किन्तु कभी दीन-वचनों का उच्चारण नहीं करता और न ही उसके मन में ऐसी भावना आती है । यहाँ तक कि भले ही उसके नेत्रों के समक्ष अनेकों सरस और सुस्वादु पदार्थ हों, पर कहीं तनिक भी दोष वह अपने नियमों के प्रतिकूल देख लेता है तो बिना उनकी ओर दृष्टिपात किये ही उलटे पगों लौट आता

है। उन्हें छोड़कर आते समय उसके हृदय में रंचमात्र भी दुःख नहीं होता वरन् अपने नियम का पालन करने की खुशी होती है।

इसीलिये साधु की भिक्षा वीर-भिक्षा कहलाती है। भगवान महावीर ने भी यही आदेश साधु को दिया है कि वह भिक्षाचरी को निर्जरा का हेतु माने तथा उस समय कैंसी भी परिस्थितियाँ उसके सामने क्यों न आएँ, अपने मन को विचलित न होने दे। यहाँ तक कि भर्त्सना, ताड़ना, अनादर या अपमान मिलने पर भी अपने चित्त को वैसा ही शान्त रखे, जैसा सम्मानपूर्वक आहार पाने पर रखता है। वह किसी प्रकार के भी अपमान या अनादर के कारण कभी यह विचार न करे कि इस प्रकार प्रतिदिन लोगों के समक्ष हाथ पसारने की अपेक्षा तो घर में रहना अच्छा।

साधु को सतत यह विचार अपने हृदय में रखना चाहिए कि साधुचर्या सावद्य प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध करती है तथा गृहस्थ को सुपात्रदान का लाभ देकर उपकृत करती है। यही दोनों बातें मुनिधर्म को उज्ज्वल बनाती हैं तथा मुनि के आचार में चार चाँद लगाती हैं।

शास्त्र की गाथा में कहा गया है कि भिक्षु भिक्षाचरी लाने में तनिक भी ग्लानि महसूस न करे। क्योंकि संयमशील साधु का शास्त्रोक्त धर्म यही है कि वह अपनी उदरपूर्ति के निमित्त किसी भी प्रकार के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त न हो अपितु भिक्षावृत्ति से निर्दोष आहार ग्रहण करता हुआ अपने संयम का यथाविधि पालन करे।

साधु तो प्रवृत्तिमार्ग का सर्वथा परित्याग करके निवृत्तिमार्ग पर चलने का संकल्प करता है। किन्तु अगर वही साधु भिक्षा-वृत्ति से ग्लानि रखे तथा भिक्षा लाने में संकोच करे, इतना ही नहीं, वह पुनः गृहस्थ बनने की भावना हृदय में लाए तो उसके निवृत्तिमार्ग का रत्ती भर भी मूल्य नहीं रहता। साथ ही उसकी सावद्य प्रवृत्ति के त्याग की प्रतिज्ञा तो भंग होती ही है, साधुवृत्ति का भी उच्छेद हो जाता है।

ऐसी स्थिति में फिर जीवन की सफलता एवं मोक्ष-प्राप्ति की चाह का सवाल ही कहाँ रह जाता है? क्या कोई नीम का वृक्ष लगाकर आम की प्राप्ति कर सकता है? नहीं। घर में रहकर व्यक्ति त्यागी नहीं बनता और सांसारिक सुख भोगते हुए कभी आत्म-कल्याण नहीं किया जा सकता। विष चाहे इच्छा से खाया जाय, अनिच्छा से खाया जाय या भूल से खा लिया जाय, वह अपना असर निश्चय रूप से करेगा ही। इसी प्रकार सांसारिक भोग चाहे जैसी भावना से भोगे जायँ, वे कर्मों का बंधन करते हुए आत्मा को शुद्धि से अथवा मुक्ति से दूर ले ही जाएँगे। संसार के भोग अवास्तविक सुख देने वाले और चिरकाल तक घोर कष्ट प्रदान करने वाले होते हैं।

ये मोक्ष-सुख के विरोधी और महा अनिष्ट की खान हैं। इसके अलावा ये कितने दिन भोगे जाने वाले हैं? जब तक जीवन है तभी तक इनके द्वारा सुख का अनुभव किया जा सकता है। और जीवन तो स्वयं ही क्षणभंगुर है, किसी भी दिन और किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है।

पूज्यपाद श्री अमीरकृषिजी म० ने अपने एक पद्य में मानव को मृत्यु की वास्तविकता बताते हुए सीख दी है—

ऐरे मतिमंद खुञ्ची रह्यो क्यों जगत बीच,  
मौत तो सदा ही संग छांह जैसे रहे है।  
जांके घर भूत औ भुयंग को रहे हँ बास,  
सो तो काहें काल में अधान बुःल सहे है ॥  
सोच रे समाने तेरो आयु दिन रात घटे,  
सरिता के पूर के समान नित बहे है।  
कहे अमीरिख क्यों निश्चित होय बंठो हिय,  
दया भूल परम धरम क्यों ना गहे है ॥

महाराज श्री ने प्राणी को चेतावनी देते हुए कहा है—“अरे मंदबुद्धि! तू क्यों इस जगत में रमा हुआ है? जिस प्रकार घर में भूत-प्रेत या सर्प के रहने पर कभी अचानक ही विपत्ति का सामना करना पड़ता है, इसी प्रकार मौत भी तेरे जन्म के साथ ही छाया की तरह तेरे साथ बनी हुई है। और न जाने किस क्षण वह तुझे अपने आगोश में ले लेगी।”

“सयाने बन्धु! जरा विचार कर और यह भली-भाँति समझले कि जिस प्रकार नदी तेजी से बहती चली जाती है, उसी प्रकार तेरी उम्र भी प्रतिफल समाप्त होती जा रही है। इसलिए तू क्यों निश्चित होकर संसार के सुखों में भूला हुआ है? क्यों नहीं दयामय धर्म को अपनाकर सदा के लिये सुखी होता है!”

जीवन की सफलता शाश्वतसुख की प्राप्ति में ही है और उस सुख को तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि भोगों की लालसा का त्याग कर दिया जाय। ये सांसारिक भोग भोगते समय तो क्षणिक सुख प्रदान करते हैं, किन्तु जब इनसे बंधने वाले कर्मों से सामना करना पड़ता है, तब इनका असली प्रभाव सामने आता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्यायन में कहा भी है—

जहा य किपायफला मणोरमा,  
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।  
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,  
एओवमा कामगुणा विवाणे ॥



अर्थात्—जैसे किपाक फल चखने में और देखने से बड़े मनोरम होते हैं और खाते समय अच्छे लगते हैं किन्तु जब पेट में जाते हैं और उनका रस बनता है तो इस जीवन का ही नाश कर देते हैं। इसी प्रकार कामभोग भी अत्यन्त आकर्षक और सुखद जान पड़ते हैं, परन्तु अन्त में तो सर्वनाशकारी सिद्ध होते हैं।

इसलिए साधु को कभी भी पुनः घर में रहने का विचार हृदय में नहीं आने देना चाहिए। हो सकता है कि भिक्षा लाने में संकोच या ग्लानि होने के कारण वह प्रथम तो न्यायपूर्वक या अपने श्रम से कमाकर खाने की इच्छा करे। किन्तु जिस प्रकार वह साधुवृत्ति त्यागकर आरम्भ-समारम्भ को अपना सकता है, उसी प्रकार मन के बदलने पर शनैः-शनैः वह काम-भोगों में भी लिप्त हो सकता है। एक काव्य आपने अनेक बार सुना होगा—

काजर की कोठरी में कंसो हू सयानो जाय ।

एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै ॥

यानी काजल से भरे हुए स्थान पर व्यक्ति कितनी भी चतुराई से अपने आपको बचाता हुआ जाय पर उसके बस्त्रों पर अथवा शरीर पर काजल का धब्बा लगे बिना नहीं रह सकता।

### वमन की वाञ्छा

इसके अलावा यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है कि एक साधु जो कि अपना घर, परिवार, धन एवं मकान आदि सभी कुछ एक बार त्याग देता है, और उनसे मुंह फेरकर चल देता है, उसी का पुनः गृहवास की इच्छा करना कितना निकृष्ट एवं निन्दनीय विचार होता है। त्याग देने का अर्थ वमन करना होता है और इसलिए त्यागे हुए घर की पुनः इच्छा करना वमन को ग्रहण करने के समान है।

आपने उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवें अध्याय में पढ़ा होगा कि इषुकार नगर में भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी यशा और दो पुत्रों ने एक साथ ही मुनिधर्म ग्रहण कर लिया। उसके परिणाम स्वरूप पुरोहित की सम्पत्ति वहाँ के राजा बैलगाड़ियों में लदवाकर अपने राज्यकोष के लिए भंगवाते हैं।

पर रानी कमलावती जब यह देखती है तो अबिलम्ब राजा के समीप जाकर उन्हें समझाते हुए कहती है—

बतासो पुरिसो राय न सो होइ पसंसिओ ।

भाहणेण परिच्चसं, घणं आदाउमिच्छसि ॥

रानी ने कहा—“राजन् ! वमन किये हुए पदार्थ को खानेवाला पुरुष प्रशंसित नहीं होता। आप ब्राह्मण द्वारा छोड़े हुए वमन-रूप धन को ग्रहण करते हैं, यह कदापि ठीक नहीं है।

वस्तुतः त्याग किये हुए धन, वैभव और गृह को ग्रहण करना वमन किये हुए पदार्थ को ग्रहण करने के समान ही है। राजा इक्षुकार ने प्रथम तो पुरोहित को स्वयं ही दान दिया था अर्थात् पुरोहित की सम्पत्ति राजा के द्वारा त्यागी हुई थी, और फिर पुरोहित ने उसे त्याग दिया। तो दो बार त्यागी हुई वस्तु वमन की हुई नहीं मानी जाय तो उसे और क्या कहा जा सकता है ?

सती राजीमती ने भी अपने देवर रथनेमि को इसी प्रकार प्रतिबोध दिया था। जब नेमिनाथ ठीक विवाह के समय अपनी होने वाली पत्नी राजुल को त्यागकर दीक्षित हो गए तो उनके भाई रथनेमि के हृदय में राजुल को अपनाने की अभिलाषा जागृत हुई। वह उसके समक्ष गया और प्रणय-निवेदन करते हुए बोला—“राजीमती मेरे भाई तो जाकर दीक्षित हो गये पर मैं भी उनका भाई हूँ, राजकुमार हूँ और उनसे किसी प्रकार हीन नहीं हूँ। अतः मेरे प्रेम को स्वीकार करो, सुख से जीवन-यापन करो।”

राजीमती सती थी, बुद्धिमती और चतुर थी। हृदय से वह नेमिनाथ को पति मान चुकी थी अतः रथनेमि से सम्बन्ध जोड़ने के लिए स्वप्न में भी तैयार नहीं थी। किन्तु उसने अपने देवर को अपशब्द कहने के बजाय अपनी चतुराई से शिक्षा देने का विचार किया। फलस्वरूप वह उत्तर में बोली—

“राजकुमार ! आपके कथन को मैंने समझ लिया है पर इसका उत्तर देने से पहले मैं चाहती हूँ कि आप मेरे लिए कोई अत्युत्तम मेंट लेकर आएँ।”

राजीमती की बात सुनकर रथनेमि फूला नहीं समाया और उसकी बात स्वीकार कर वहाँ से चला गया। अपने निवासस्थान पर पहुँचकर वह विचार करने लगा—“मैं कौनसी उत्तम मेंट लेकर राजुल के समीप जाऊँ, उसके पास किसी वस्तु का अभाव नहीं है क्योंकि वह स्वयं ही राजा की पुत्री है।” पर विचार करते-करते आखिर उसे कुछ सूझा और उसने रत्न-जटित कटोरे में केवल दूध ले जाने का निश्चय किया।

उसी दिन सायंकाल अपने निश्चय के अनुसार वह एक बहुमूल्य कटोरे में सुगन्धित दूध राजुल के पास ले गया और बोला—“राजीमती ! देखो मैं कितनी सुन्दर मेंट लेकर तुम्हारे समीप आया हूँ। इस कटोरे में दूध है और मैं चाहता हूँ कि हम इस दूध में मिली हुई मिश्री के समान मधुर और एक होकर रहें।”

राजुल ने उसकी बात सुनी और मधुर मुस्कान के साथ बोली “लाइये, दूध मुझे दीजिए ! मैं भी आपकी बात का अभी उत्तर देती हूँ।”

यह कहते हुए उसने हाथ में कटोरा लिया और दूध कंठ से नीचे उतारा। तत्पश्चात् कोई दबा खाकर पुनः उसी कटोरे में वमन कर दिया और अपने देवर से

बोली—“आप इस दूध को पी लीजिये । मैं तभी समझूंगी कि आपका स्नेह सच्चा है ।”

इस पर रथनेमि अवाक् होकर बोला—“तुम क्या मुझसे उपहास कर रही हो ? एक राजकुमारी होकर ऐसी असभ्यता तुम्हें शोभा नहीं देती है । प्रेम का प्रमाण देने के लिए क्या मैं तुम्हारा वमन क्रिया हुआ दूध पिऊँगा ?”

राजुल ने रथनेमि के क्रोध का बुरा नहीं माना । वह पूर्ववत् मुस्कराती हुई कहने लगी—“देवर रथनेमि ! आप वमन को ग्रहण करना नहीं चाहते, यह ठीक है ? किन्तु मैं भी तो आपके भाई के द्वारा वमन की हुई अर्थात् त्यागी हुई स्त्री हूँ । फिर मुझे किस प्रकार अपनाना चाहते हैं ?”

राजुल की यह बात सुनते ही रथनेमि की आँखें खुल गईं और वह अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप करता हुआ वहाँ से लौट आया ।

कहने का आशय यही है कि किसी भी व्यक्ति को त्याग करने के बाद पुनः अपने नियम को कभी तोड़ना नहीं चाहिए । सन्तों के लिए तो त्याग का बड़ा जबर्दस्त महत्त्व है । जब वे घर-द्वार सभी कुछ त्याग कर अकिंचन भिक्षु बन जाते हैं तो फिर भिक्षाचरी से घबराकर पुनः घर में रहने की इच्छा करना उनके लिए वमन को ग्रहण करने के समान ही है । अतः भिक्षाचरी को तप एवं निर्जरा का हेतु समझ कर उन्हें मन में ग्लानि, हीनता या दुःख को नहीं आने देना चाहिये । अपितु यह विचार करना चाहिए कि मैंने आरम्भ-समारम्भ का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है और अब घर-द्वार तथा धन-वैभव मेरे लिए वमन के समान है । दूसरे भिक्षा लाने में मेरे लिए किसी प्रकार की लज्जा या दीनता का कोई कारण नहीं है । क्योंकि खाद्य पदार्थ में मुझे तनिक भी गृद्धता, आसक्ति या लोलुपता नहीं है । मैं साधु हूँ और साधु का नियम ही निरवद्य भिक्षा लाकर पेट को माड़ा देना है, अतः उसमें दीनता कैसी ?

साधु को यह भी विचार करना चाहिए कि मेरी भिक्षा दीन-भिक्षा नहीं, अपितु वीर-भिक्षा है । इसे साधारण व्यक्ति नहीं अपना सकता । भिक्षा के लिए ही गली-गली डोलने वाले भिक्षुक की वृत्ति और मेरी वृत्ति में श्वान एवं सिंह के जितना अन्तर है । उन भिखारियों की वृत्ति से जहाँ नाना कर्मों का बन्धन होता है, वहाँ मेरी वृत्ति से मेरे अपार कर्मों की निर्जरा होती है ।

वास्तव में ही ऐसा विचार करने वाले साधु भगवान महावीर के सच्चे अनुयायी एवं आज्ञाकारी सिद्ध होकर परिषदों का सामना कर सकते हैं तथा संबर्ग मार्ग पर चलकर अपने सम्पूर्ण कर्मों की भी निर्जरा करते हुए अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ हो सकते हैं ।

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्व के सत्तावन भेदों में से हम बाईस भेदों का वर्णन कर चुके हैं। जिनमें पांच समिति, तीन गुप्ति एवं चौदह परिषद् आये हैं।

आज हमें पन्द्रहवाँ 'अलाभ-परिषद्' लेना है। अलाभ का अर्थ है 'प्राप्ति न होना।' शिक्षाचरी के लिए सन्त जावे और किसी कारणवश आहार न मिले तो उस स्थिति को 'अलाभ-परिषद्' कहा जाता है। इस परिषद् पर साधु को मन, वचन एवं कर्म से विजय प्राप्त करनी चाहिए, अर्थात् इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर भी उसके मन में किसी प्रकार की खिन्नता, दुःख या आवेश नहीं आना चाहिए।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की तीसवीं गाथा में 'अलाभ परिषद्' के विषय में कहा गया है—

परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए ।  
सद्धे पिण्डे अलद्धे वा, नाणुत्पेज्ज पंठिए ॥

अर्थात्—गृहस्थों के घरों में भोजन तैयार हो जाने पर साधु शिक्षा के लिए जावे परन्तु वहाँ से आहार के मिलने या न मिलने पर भी पण्डित पुरुष मन में किसी प्रकार का हर्ष या शोक न आने दे।

गाथा में आहार के लिए 'घास' शब्द आया है। इसे सुनकर आपको कुछ आश्चर्य होगा। मराठी भाषा में घास ग्रास को कहते हैं—'दोन घास जेवून जा'। दो ग्रास ही खालो। इसी प्रकार यही ग्रास के लिए नहीं, किन्तु आहार के लिए गाथा में घास शब्द दिया गया है।

तो कहा यही है कि 'परेसु' यानी साधुओं से भिन्न गृहस्थों के घरों में शिक्षा के लिए जाने पर अगर अपने नियम और मर्यादा के अनुसार आहार न मिले तो भी साधु कदापि पश्चात्ताप न करे। पश्चात्ताप करने पर कर्मबन्धन होता है और फिर इसकी आवश्यकता भी क्या है? वस्तु के उपलब्ध न होने में कई कारण होते हैं।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

बहुं परधरे अत्थि, विविहं खाद्दमं-साद्दमं ।  
न तत्थ पण्डओ कुत्थे इच्छा देज्ज परो न वा ॥

गृहस्थ के घर में विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ मौजूद हैं, कोई कमी नहीं है। किन्तु भावना देने की होती है और नहीं भी होती। ऐसी स्थिति में मुनि क्या करे? हाथ से उठाकर तो लेना नहीं है। आप जानते ही हैं कि इस संसार में वित्त, चित्त और पात्र तीनों का समान होना बड़ा कठिन होता है। अनेकों व्यक्तियों को हम देखते हैं, उनकी दान देने की भावना बड़ी बलवती होती है किन्तु उसके अनुसार धन नहीं होता। फिर भी वे जो कुछ भी उनके पास होता है, उसी को इतना गद्गद् होकर देते हैं कि तीर्थंकर गोत्र का बन्धन तक कर लेते हैं।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो साधु के आ जाने पर देना पड़ेगा, ऐसा सोचकर तथा न देना तो कुछ बुरा लगेगा या लोग निन्दा करेंगे ऐसा विचारकर बिना हार्दिक भावना के देते हैं या घर के अन्य व्यक्तियों से यहाँ तक कि नौकर-चाकरों से ही दिला देते हैं।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति ऐसे भी पाये जाते हैं जो साधु-सन्त को आहार देना वस्तु को पानी में बहा देना मानते हैं और ऐसे व्यक्ति प्रथम तो साधु को देखकर द्वार ही बन्द कर लेते हैं या द्वार बन्द नहीं कर पाते तो उन्हें मुफ्त का माल खाने वाले तथा कामचोर कहते हुए आहार के स्थान पर अनेक गालियाँ और अपशब्द देते हैं।

#### दान के प्रकार

मगवद्गीता में भी दान के तीन प्रकार बताये गये हैं। प्रसंगवश मैं उन्हें आपके सामने वर्णित कर देता हूँ। गीता के अनुसार सात्त्विक, राजस एवं तामस, इस प्रकार तीन प्रकार का दान बताया गया है—

#### सात्त्विक दान

दातव्यमिति यद्दानं, वीर्यतेऽनुपकारिणे,  
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।

इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं—“हे अर्जुन ! दान देना हमारा कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर बिना किसी स्वार्थ के और बिना किसी प्रदर्शन के दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहलाता है।

ऐसा दान ही अपना सच्चा फल प्रदान करता है। जिस प्रकार एक किसान बाँस की नली से खेत में अनाज के बीज बोता है और दूसरा मुट्टी भर-भर के बीज उछालता है। स्पष्ट है कि नली से चुपचाप बीज डालने वाले के खेत में हजारों मन

अनाज पैदा होता है और मुट्टियाँ भर-भरकर उछालने वाले का बीज भी व्यर्थ चला जाता है। दान का हाल यही है, जो उसका प्रदर्शन करता है उसे कोई लाभ प्राप्त नहीं होता पर जो अन्तःकरण की तीव्र भावना से चुपचाप देता है वह लाभ का अधिकारी बनता है। दान के विषय में "गुप्तदानं महापुण्यं" इसीलिए कहा जाता है। साथ ही यह भी कहते हैं कि अगर दाहिना हाथ दान देता है तो बाँयें हाथ को भी उसका आन नहीं होना चाहिए।

तो ऐसा सात्त्विक दान देने वाला ही सच्चा दाता होता है जो दीपक लेकर हुईने पर भी कदाचित्त ही प्राप्त होता है।

न्यासस्मृति में भी कहा गया है—

शतेषु जायते शूरः, सहस्रेषु च पण्डितः ।

वक्ता दश सहस्रेषु, दाता भवति वा न वा ॥

यानी शूर-वीर सौ में से एक होता है, पण्डित हजार में एक होता है, वक्ता दस हजार में से एक पाया जाता है, किन्तु दाता तो क्वचित्त होता है और नहीं भी होता है।

### राजसदान

बन्धुओ ! अभी हम सात्त्विक दान देने वाले सच्चे दाता के विषय में गीता के अनुसार जानकारी कर रहे थे, अब उसमें दूसरे प्रकार के दान के विषय में जो कुछ कहा गया है वह देखते हैं। दूसरे प्रकार का दान 'राजस' दान कहा गया है। इससे सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार है—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं, तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥

बताया गया है—जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से यानी बदले में सांसारिक स्वार्थों की पूर्ति के प्रयोजन से दिया जाता है वह 'राजस' दान कहलाता है।

आज हम देखते हैं कि अधिकांश व्यक्ति दान देकर बदले में यश की प्राप्ति करना चाहते हैं या दान देकर लेने वाले को सदा के लिए अपना गुलाम बनाने की आकांक्षा रखते हैं। पर यह प्रवृत्ति हीरा देकर कंकर प्राप्त करने के बराबर है। दान का महत्त्व जो मनुष्य नहीं समझता, वही ऐसा करता है। उसे जानना चाहिए—

न्याजे स्यात् द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये चतुर्गुणम् ।

क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनन्तगुणं भवेत् ॥

धन न्याज से दुगुना, व्यापार करने से चौगुना और खेती करने से सौगुना

होता है किन्तु सुपात्र को दान देने से अनन्त गुना लाभ होता है। पर आवश्यकता है उत्तम भावनाओं की। थोड़ा-सा देकर भी अगर उसके बदले में अवश्य ही कुछ पाने की लालसा हो तो वह देना निरर्थक या नहीं के बराबर साबित होता है।

एक राजस्थानी कवि ने अनीति से अत्यधिक धन कमाते हुए थोड़ा-सा दान देकर भी उसके बदले में बहुत अधिक पाने की लालसा रखने वाले व्यक्ति के विषय में व्यंगपूर्णक कहा है—

एरण की चोरी करे, दे सुई को दान।

चढ़ डागलिये देखता, कद आसी विमान ॥

कितनी स्पष्ट और सत्य बात है। व्यक्ति धन की चोरी करके एक सुई का तो दान देता है, किन्तु उसके बदले में भी यह आशा रखता है कि मेरे इस दान के फलस्वरूप कब स्वर्ग के देवता मेरे लिए विमान लाकर मुझे स्वर्ग में ले जायेंगे।

बन्धुओ, ऐसा दान कभी उत्तम फल की प्राप्ति नहीं करा सकता और न ही यह दान श्रेष्ठ दान की श्रेणी में रखा जा सकता है। बदले में पाने की आकांक्षा से दिया हुआ राजस दान मनुष्य के लिए कल्याणकर नहीं बनता।

#### तामसदान

अब आता है तीसरा दान। यह तामस दान कहलाता है। इसके विषय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

अदेशकाले यद्दान-सपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं, तत्तामसमुदाहृतम् ॥

अर्थात्—जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देशकाल में कुपात्रों के लिए यानी मद्य-मांसादि अमृश्य वस्तुओं के खाने वालों एवं चोरी-जारी करके निकृष्ट कर्म करने वालों को दिया जाता है, वह तामस दान है।

आज के युग में लोगों की प्रवृत्तियाँ बड़ी निंदनीय हो गई हैं। वे अन्न से अपने गोदाम भरे रखते हैं और कई गुने दामों पर उन्हें ब्लेक से बेचते हैं। नाना प्रकार के अमूल्य वस्त्रों से अपनी पेटियाँ भरे रहते हैं और उनमें कीड़े लग जाते हैं। इसी प्रकार सोने-चाँदी और हथियारों से उनकी तिजोरियाँ ठसी हुई रहती हैं जो उनके काम नहीं आता।

किन्तु वे भूखों को पेट भरने के लिए अन्न, नंगों को पहनने के लिए वस्त्र और अभावग्रस्त प्राणियों को चार पैसे भी नहीं दे सकते। परन्तु द्वार पर मिश्रक के आ ही जाने पर अगर देना पड़ता है तो जैसा कि श्लोक में कहा गया है, अत्यन्त तिरस्कार, भर्त्सना एवं अपमानजनक शब्दों के साथ उसे यत्किंचित देते हैं।

दान के लिए वस्तु का महत्त्व नहीं है अपितु भावना का महत्त्व है। चन्दन-बाला ने भगवान महावीर को सरस एवं सुस्वादु पदार्थों का दान नहीं दिया था। केवल उड़द के बाकुले दिये थे। किन्तु उन बाकुलों को कितनी पवित्र एवं उत्तम भावनाओं के साथ श्रद्धा से विभोर होकर दिया था कि अपना संसार ही गटा लिया।

तो बन्धुओ, मेरे कहने का आशय यही है कि उत्तम भावनाओं के साथ साधारण वस्तु का दिया हुआ दान भी सात्त्विक और महान् लाभ का कारण बनता है किन्तु बिना इच्छा, बिना श्रद्धा और बिना आत्मा की पवित्रता के जबर्दस्ती और अपमान के साथ दिया हुआ उत्तम पदार्थों का दान भी निष्फल चला जाता है और कर्म-बन्धनों का कारण बनता है। ऐसा दान सबसे निकृष्ट और तामस दान कहलाता है जो दिये जाने पर भी किसी उत्तम फल की प्राप्ति नहीं करा सकता।

### सुपात्र की पहचान

ध्यान में रखने की बात है कि भिक्षु गृहस्थ के यहाँ याचना करने जाता है और गृहस्थ अपनी भावना के अनुसार सात्त्विक, राजस या तामस दान उसे देता है। वह जैसा दान देगा वैसा ही फल प्राप्त करेगा। इसलिए साधु को गृहस्थ के द्वारा किसी भी प्रकार का दान दिये जाने पर हर्ष या शोक नहीं मानना चाहिए। उसे तो यह विचार करना चाहिए कि वह गृहस्थ को दान का लाभ देकर उपकृत करता है।

मैंने सम्भवतः आपको बताया था कि शास्त्रों के अनुसार दो हेतुओं के कारण साधु को कमी भिक्षाचारी से ग्लानि नहीं करनी चाहिए। पहला कारण उसके लिए है—आरम्भ-समारम्भ से निवृत्ति और दूसरा कारण है—सुपात्रदान का लाभ देकर गृहस्थों पर किये जाने वाला उपकार।

तो साधु भिक्षा की याचना करके गृहस्थ पर उपकार करता है, यानी उसे दान देने का अवसर देकर उपकृत करता है। अब यह गृहस्थ पर निर्भर है कि वह उस सुन्दर योग से लाभ उठाता है या हानि। इस विषय में साधु को विचार करने की क्या आवश्यकता है? अगर वह सत्कार एवं सम्मानपूर्वक आहार देगा तो स्वयं लाभ प्राप्त करेगा और ताड़ना या भर्त्सना करेगा तो भी अपनी हानि करेगा। इसके लिए साधु को खेद या पश्चात्ताप क्यों करना चाहिए? और यह क्यों सोचना चाहिए कि प्रतिदिन गृहस्थ के घर हाथ फेलाने से घर में रहना अच्छा।

साधु को आहार मिल गया तो ठीक है और नहीं मिला तब भी कोई हानि नहीं। लाभ या हानि गृहस्थ यानी दान देने वाले को होती है। साधु का भला क्या बनता और बिगड़ता है? केवल यही तो होता है कि मिला तो पेट में डाल लिया और न मिला तो अनशन-ऊनोदरी तप करते हुए वही समय शान्तचित्त से ज्ञान-ध्यान में



लगाया । उसे आहार के मिलने न मिलने पर किसी भी प्रकार का विचार करने की आवश्यकता नहीं होती । सोचना गृहस्थों को ही चाहिए कि हम अवसर का कैसा लाभ उठा रहे हैं ?

बन्धुओ ! मेरा आप से यही कहना है कि साधु आपके यहाँ भिक्षा के लिए आते हैं पर उसके मिलने न मिलने पर उनके लिए कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता । किन्तु आपके लिए देने न देने की भावना के कारण महान् अन्तर पड़ सकता है । इस लिए आपको बड़ा सजग एवं सावधान रहना चाहिए । अर्थात् जब भी किसी तरह के सुपात्र का सुयोग उपलब्ध हो तब हर्षित होते हुए प्रमोद भावना से यथाशक्य दान देना चाहिए । जैनागमों में सुपात्र की भी श्रेणियाँ मानी गई हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) सम्यक्दृष्टि, (२) देशविरति श्रावक एवं (३) सर्वविरति साधु ।

इस प्रकार प्रथम श्रेणी में सम्यक्दृष्टि जीव आते हैं जो वीतराग देव, निर्व्रथ गुरु एवं केवली-प्ररूपित धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखते हैं । यद्यपि ऐसे व्यक्ति चारित्र्यावरणीय कर्म का क्षयोपशम न होने से व्रतों को ग्रहण नहीं कर पाते किन्तु लोक, अलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप एवं आत्मा-परमात्मा पर विश्वास रखने के कारण सुपात्र माने जाते हैं और इन्हें दान देने पर निर्जरा होती है ।

दूसरी श्रेणी के सुपात्रों में श्रावक आते हैं । इनके चारित्र्यावरणीय कर्म का भी पूरा क्षयोपशम नहीं होता, किन्तु अंशतः होता है अतः ये बारह व्रत श्रावक के धारण करते हैं । पूर्ण त्याग न कर पाने पर भी नौ तत्त्व एवं पच्चीस क्रियाओं के ज्ञाता होने के कारण मर्यादित जीवन-यापन करते हैं । इन्हें दान देने से भी कर्मों की निर्जरा होती है ।

अब आती है तीसरी श्रेणी । इस श्रेणी में पंच महाव्रत धारी मुनि होते हैं । मुनि उत्तम कोटि के सुपात्र हैं क्योंकि वे सम्पूर्ण सांसारिक वैभव का सर्वथा परित्याग करके भिक्षावृत्ति से शरीर को टिकाते हैं तथा आत्मा की शक्तियों को जगाते हुए कर्मों से जूझते हैं । इसलिए सर्वोत्कृष्ट सुपात्र मुनि को देने से महान् निर्जरा होती है ।

एक गुजराती भजन में भी सुपात्र की श्रेणियाँ बताते हुए कहा गया है—

मिथ्यात्वी थी सहस्र गुणा फल,  
समदृष्टि ने दीधां रे ।  
तेथो मुनि, मुनी थी गणधर  
तेथी जिनने दीधां रे ।  
दान निश्च करजे रे, दीधांथी,  
जीबने साता उपजे रे ॥

भजन में भी सुपात्र की श्रेणियाँ और सुपात्र-दान का महत्व बताया गया है तथा मानव से कहा गया है कि तुम नित्य ही दान किया करो ? दान देने पर ही जीव को स्थायी सुख प्राप्त हो सकेगा ।

बन्धुओ ! यहाँ आपको शंका होगी कि जब दान देना ही है तो किसी को भी क्यों न दिया जाय, उससे क्या फर्क पड़ सकता है ? वस्तु वही है चाहे किसी को भी क्यों न दें ।

इस विषय को पानी की बूँद के उदाहरण से समझा जा सकता है । पानी की बूँद वही है, किन्तु वह जलते हुए तवे पर गिरेगी तो तुरन्त जल कर भस्म हो जायगी । वही बूँद अगर कमल के पत्ते पर गिर जायगी तो मोती तो नहीं बन सकेगी, किन्तु कुछ समय तक मोती के समान चमकेगी और देखने वालों के हृदयों को प्रफुल्लित करेगी । पर अगर वही बूँद स्वाति नक्षत्र में सीप के अन्दर गिरेगी तो मूल्यवान मोती का रूप धारण कर लेगी ।

इस प्रकार पानी की बूँद एक ही है पर वह तवे के समान कुपात्र के पास पहुँच जाय तो पूर्णतया निष्फल हो जाती है और सीप के समान सुपात्र को प्राप्त होती है तो मोती के समान बहुमूल्य फल प्रदान करती है ।

ठीक यही हाल कुपात्र और सुपात्र को दान देने से होता है । इसीलिए भजन में कवि ने कहा है—एक मिथ्यात्वी को दान देने की बजाय अगर एक सम्यग्दृष्टि को दान दिया जाय तो वह हजार गुना फल प्रदान करता है और केवल सम्यग्दृष्टि को दान देने से अनेक गुना लाभ मुनिराज को देने से होता है । इसी प्रकार मुनि से अधिक गणधर को देने से और गणधर से भी अधिक तीर्थंकर को देने से शुभ फल की प्राप्ति होती है ।

संगम ग्वाले ने बड़ी कठिनाई से खीर की प्राप्ति की थी । किन्तु उसे स्वयं न खाकर वह किन्हीं संयमी मुनि की प्रतीक्षा करने लगा । उसकी तीव्र भावना के अनुसार मासखमण की तपस्या किये हुए मुनि भी उधर आ निकले और हर्ष विभोर होकर उसने मुनि को खीर का दान दिया । मुनिराज शान्ति भाव से खीर लेकर अपने स्थान को लौट गये ।

संगम की खीर कोई अमूल्य वस्तु नहीं थी, अमूल्य और उत्कृष्ट तो उसकी देने की भावना थी । उसी के परिणामस्वरूप आगे जाकर वह महान सिद्धि का उपभोक्ता और मगध-सम्राट् श्रेणिक को भी चकित करने वाला शालिभद्र सेठ बना ।

शंख राजा ने भी केवल दाख का धोया हुआ पानी देकर तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्धन किया और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के उच्च पद की प्राप्ति की ।

यह सब दान देने के पीछे रही हुई भावना का ही चमत्कार था। इसीलिए मुमुक्षु प्राणी अपने चित्त, वित्त एवं पात्र को शुद्धि का ध्यान रखते हुए निःस्वार्थ भाव से और बिना उसका प्रदर्शन किये दान देते हैं। होना भी यही चाहिये। दाता को कभी दान देते हुए सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये। कहा भी है—

“संतोषो नैव कर्तव्यो दानाध्ययन कर्मसु तु ।”

अर्थात् व्यक्ति को दान, अध्ययन एवं कर्म से कभी सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। क्योंकि इनकी कोई सीमा नहीं है।

दान श्रावक के व्रतों में बड़ा महान् व्रत है। जीवन के अन्तिम क्षण तक भी दान देने की भावना लुप्त नहीं होनी चाहिए। दानवीर कर्ण ने अपने जीवन में तो कभी किसी याचक को निराश किया ही नहीं था, मरते समय भी अपने दाँतों को पत्थर पर पटक कर तोड़ते हुए उनमें लगा हुआ एक माशा सोना दान में दे दिया था।

एक बार हमारा चातुर्मास घाटकोपर बम्बई में था। वहाँ लक्ष्मीदास पीताम्बर नामक एक लक्षाधीश सद्गृहस्थ थे। बड़े श्रद्धालु एवं निरहंकारी व्यक्ति थे। सदा आठ दिन में एक वेलां करते थे और समय-समय पर अनेक प्रकार का तप किया करते थे। प्रत्येक शनिवार और रविवार को घाटकोपर प्रवचन सुनने के लिए आया करते थे पर बिना किसी हिचकिचाहट के सबसे पीछे बैठते थे।

एक दिन रात्रि को वे मेरे पास बैठे तो बोले—“मेरे मन में दो बातों की अभिलाषा बाकी है।”

मैंने कुछ आश्चर्य से कहा—“भाई ! तुम्हें सम्पूर्ण सांसारिक सुख प्राप्त है और साथ ही धर्म-ध्यान भी करते जा रहे थे। फिर किस बात की तमन्ना तुम्हारे हृदय में बाकी है ?”

वे संकुचित होते हुए बोले—“महाराज जी ! मैंने पाँच सौ एक, एक हजार एक और पाँच हजार एक का दान तो कई बार किया है पर मैं सोचता हूँ कि मेरे हाथों से एक लाख रुपयों का दान कब होगा ? यह इच्छा मेरे मन में बड़ी तीव्र है। दूसरे मैंने बेले, तेल, अठई बगैरह भी किये हैं, किन्तु मासखमण अभी तक नहीं किया। अतः सोचता हूँ कि मेरे शरीर से एक महीने की तपस्या कब होगी ?”

व्यक्ति के मन में जब इस प्रकार की भावनाएँ बनी रहती हैं, तभी वह उन्नति के पथ पर बढ़ता है। अगर अपने कार्यों से वह सन्तुष्ट हो जाय तो प्रगति का द्वार भी अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि दान से कभी सन्तोष मत करो।

दूसरी बात है—अध्ययन, यानी ज्ञानप्राप्ति से कभी सन्तुष्ट मत होओ। इस पृथ्वी पर अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, सिद्ध एवं केवलज्ञानी हो गए हैं। उनके

मुकाबले में आज हमारे पास है भी क्या ? सिन्धु में बिन्दु के बराबर भी नहीं कहा जा सकता । फिर भी जो अपने आपको ज्ञानी मानता है, वह केवल उसका अहंकार है और पूर्ण ज्ञानी न होने पर भी स्वयं को ज्ञानी मानने वाला अज्ञान है ।

आज लोग थोड़ी सी पुस्तकें पढ़कर और कुछ परीक्षाओं की डिगरियाँ लेकर अपने आपको पूर्ण ज्ञानी मान लेते हैं । वे भूल जाते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान के मुकाबले में भौतिक ज्ञान क्या महत्व रखता है ? यह ठीक है कि भौतिक ज्ञान के द्वारा मनुष्य आज बाह्य-दृष्टि से शक्तिशाली बन गया है । वह पंख न होने पर भी गगन में बड़ी ऊँचाई पर उड़ सकता है और सागर की छाती चीर कर उसमें से रत्न ला सकता है । किन्तु आभ्यंतर या आत्मिक ज्ञान के अभाव में या उसकी अपूर्णता से वह आत्मा को संसार-मुक्त कैसे कर सकता है ? आत्मा तो पिजरे में बद्ध प्राणी के समान ही कष्ट भोगती रहती है ।

आत्मज्ञान का महत्व बताते हुए कहा है—

वाग्बंखरी शब्दज्ञरी, शास्त्र-व्याख्यान कौशलम् ।  
 बंदुष्यं विवुषां तद्वत्, भुक्तये न च मुक्तये ॥  
 अविज्ञाते परे तत्त्वे, शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।  
 विज्ञाज्तेपि परे तत्त्वे, शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥

—विवेक चूडामणि ६०-६१

आत्मज्ञान के अभावों में विद्वानों की वाक्कुशलता, शब्दों की धारा-वाहिकता, शास्त्र-व्याख्यान की कुशलता और विद्वत्ता, ये सभी भोगों का कारण हो सकती हैं, मोक्ष का नहीं ।

आत्मतत्त्व न जानने पर शास्त्राध्ययन व्यर्थ है तथा उसे जान लेने पर भी शास्त्राध्ययन निरर्थक है ।

वस्तुतः भौतिक ज्ञान से भौतिक सुखों की उपलब्धि हो सकती है और भोग के साधन अधिक से अधिक जुटाये जा सकते हैं, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति सम्भव नहीं है । आत्मा की मुक्ति तो तभी हो सकती है, जबकि आत्मा के सम्यक् ज्ञान को जगाया जाय तथा उसकी अनन्त शक्ति को प्राप्त किया जाय ।

भौतिक ज्ञान एवं आत्मज्ञान में महान् अन्तर है । भौतिक ज्ञान भले ही आपको आकाश में उड़ा सकता है, भोगों की प्राप्ति करा सकता है तथा इस लोक में प्रशंसा का पात्र बना सकता है । किन्तु यह अस्थायी और विध्वंसी है । इस शरीर के नष्ट होते ही वह लुप्त हो जाता है, आगे कुछ भी सहायता नहीं करता ।

लेकिन आत्मिक ज्ञान अज्ञान के अंधकार को मिटाता है, कषायों का नाश करता है, धर्म को विशाल बनाता हुआ पापों को जड़ से उखाड़ता है तथा आत्मा

को चिर शांति एवं चिर सुख प्रदान करता है। यह शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता तथा जन्म-जन्म तक साथ रहकर संसार को घटाता है। इस प्रकार यह मनुष्य का इष्ट-साधन करता है तथा आत्मा के कल्याण का कारण बनता है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं—

न ज्ञानतुल्यः किल कल्पवृक्षो,  
न ज्ञानतुल्या किल कामधेनुः ।  
न ज्ञानतुल्यः किल कामकुम्भो,  
ज्ञानेन चिन्तामणिरप्यतुल्यः ॥

अर्थात्—ज्ञान कल्पवृक्ष से भी बढ़कर अभीष्ट फल देने वाला है तथा कामधेनु से बढ़कर अमृत प्रदान करने वाला है। कामकुम्भ इसकी तुलना नहीं कर सकता तथा मनवांछित फल प्रदान करने वाला चिन्तामणि रत्न भी इसके समक्ष नगण्य है।

अधिक क्या कहा जाय ? सहस्रों सूर्य एवं हजारों चन्द्र भी जिस नेत्रविहीन व्यक्ति के लिए निरर्थक हैं, उसी व्यक्ति का अन्तर आत्मज्ञान के उदय होने पर दिव्य प्रकाश से ज्योतिर्मय हो उठता है।

‘आवश्यक नियुक्ति’ में भी यही बताया है—

“दध्वज्जो उज्जोओ, पगासइ परिभियम्मि खेत्तमि ।  
भावज्जो उज्जोओ, लोगालोगं पगासेइ ॥”

यानी सूर्य और चन्द्र का द्रव्य प्रकाश तो परिमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान का प्रकाश समस्त लोकालोक को प्रकाशित कर देता है।

इसलिये बन्धुओ, आत्मज्ञान की प्राप्ति करना आवश्यक है और इसे अधिकाधिक प्राप्त करने का प्रयत्न भी अनिवार्य है। ज्ञान के अलौकिक प्रकाश में तो जीव, जगत के सम्पूर्ण चराचर पदार्थों को हस्तकंगनवत् जान सकता है, फिर हमने अभी पाया ही क्या है ?

विवेक चूड़ामणि की दूसरी गाथा में कहा गया है—आत्मतत्त्व न जानने पर शास्त्राध्ययन व्यर्थ है तथा उसे जान लेने पर भी शास्त्राध्ययन व्यर्थ है।

आत्मज्ञान का यह गम्भीर विवेचन यथार्थ है। हजार शास्त्रों को तोते के समान रट लिया जाय और उनका पारायण किया जाय, किन्तु आत्मतत्त्व को अगर न जाने तो उस व्यक्ति का शास्त्राध्ययन निरर्थक है और इसी प्रकार आत्मतत्त्व को अगर व्यक्ति जान ले तो फिर शास्त्रों के अध्ययन करने की जरूरत ही क्या है ?

ज्ञान का उद्देश्य आत्मतत्त्व को जानना है और जब तक उसे न जान लिया जाय, हमें ज्ञानार्जन से सन्तुष्ट नहीं होना है। जिस दिन भी हमें अपने ज्ञान में पूर्णता

दिखाई दे जाएगी और उससे सन्तोष हो जाएगा, उसी दिन हमारी प्रगति रुक जाएगी तथा मुक्ति की अभिलाषा खटाई में जा पड़ेगी ।

अब तीसरी बात कर्म से सन्तुष्ट न होने की है । जो व्यक्ति यह विचार करता है कि मैंने सेवा बहुत कर ली, ज्ञानार्जन कर लिया, दान खूब दे दिया, खूब व्रत किये हैं और तप भी बहुत किया है, वह व्यक्ति कभी अपने इच्छित उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता । अभी मैंने आपको बताया था कि सन्तुष्टि प्रगति का मार्ग अवरुद्ध कर देती है ।

गीता की ध्वनि केवल यही है—“निरन्तर कर्म करते जाओ किन्तु फलप्राप्ति की आशा मत करो ।”

कहा जाता है कि एक बार कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति गाँधीजी से मिलने आया । गाँधीजी उस समय अपने आश्रम से बाहर की जमीन को फावड़े से खोद रहे थे । व्यक्ति उनके पास पहुँचा, नमस्कार किया और बोला—“महात्माजी ! मैं आपसे गीता का रहस्य जानना चाहता हूँ ।”

महात्माजी उस व्यक्ति की बात सुनकर मुस्कराये और बोले—“अच्छा आप बैठिये ।”

यह कहने के पश्चात् वे पुनः फावड़े से जमीन खोदने लग गये । आगन्तुक व्यक्ति कुछ देर तक चुपचाप बैठा हुआ उनका कार्य देखता रहा । वह सोच रहा था, अब इनका कार्य समाप्त होगा और ये मुझे बैठकर मुझे गीता का रहस्य समझाएंगे ।

किन्तु काफी देर तक बैठे रहने पर भी जब उन्होंने अपना कार्य नहीं छोड़ा तो आगत सज्जन को कुछ बुरा लगा और वह बोला—“महात्मा जी, मैं तो कितनी दूर से आपकी ख्याति सुनकर आपसे गीता का मर्म समझने आया था । पर लगता है कि आपको केवल अपने समय का महत्त्व ही अधिक जान पड़ता है, दूसरे का नहीं ।”

महात्माजी आगन्तुक की बात पर हँस पड़े और मधुरता से बोले—“भाई ! गीता का रहस्य समझा तो रहा हूँ मैं ।”

यह सुनकर व्यक्ति चकराया और कहने लगा—“कहाँ समझा रहे हैं आप ? मैं कब से बैठा हूँ पर आप तो एक शब्द भी नहीं बोले ।”

“अरे भाई ! मेरे बोलने की आवश्यकता ही क्या है ? गीता का उपदेश केवल यही है कि ‘कर्म करो ।’ वही तो मैं आपको जबसे बता रहा हूँ । बस, गीता का यही रहस्य है—निरन्तर कर्म करते जाओ, फल की आशा मत करो ।”

वह जिज्ञासु व्यक्ति गाँधीजी की बात सुनकर बहुत शर्मिन्दा हुआ, किन्तु भली-भाँति समझ गया कि गाँधीजी ने गीता के रहस्य को केवल समझा ही नहीं है, उसे जीवन में भी उतार लिया है ।

वस्तुतः महात्मा गाँधी अपने जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। वे इस बात पर विश्वास रखते थे कि लगन से किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं जा सकता। भारत को स्वाधीन करना कोई हँसी-खेल नहीं था, किन्तु दृढ़ संकल्प और कर्म में आस्था रखते हुए उन्होंने केवल उन्नीस व्यक्तियों को लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति का प्रयत्न शुरू कर दिया था। परिणाम क्या हुआ, आप जानते ही हैं। धीरे-धीरे अनेकानेक व्यक्ति उनके साथ होते गये और भारत स्वतन्त्र होकर रहा।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को अपने कर्म से कभी निराश नहीं होना चाहिए तथा उसमें प्रमाद का अनुभव करते हुए निष्क्रियता नहीं आने देना चाहिए। भले ही किन्हीं कारणों से गति धीमी हो जाय, पर कर्म करते हुए कभी रुकना नहीं चाहिए। धीरे-धीरे भी व्यक्ति चलता रहे तो मंजिल अवश्य मिलती है। मैंने बचपन में एक कहानी पढ़ी थी कि एक बार एक खरगोश और कछुए में दौड़ हुई।

खरगोश बड़ा अहंकारी था। वह अपने प्रतिद्वन्दी को देखकर बड़े उपहास और तिरस्कारपूर्वक बोला—“मूर्ख, तू मेरे साथ मुकाबला करने के लिये तैयार हुआ है? जरा अपनी चाल तो देख? इस चींटी जैसी चाल से तू मुझे दौड़ में हरा सकेगा?”

कछुआ बेचारा सहम गया। पर वह बड़ी शांति और नम्रता से बोला—“भाई! दो में से एक की जीत और दूसरे की हार तो होती ही है। पर मुझे अपने कर्म में विश्वास है अतः तुम्हारे मुकाबले में आया हूँ। मैं अपने कर्म से विमुख नहीं होऊँगा, प्रयत्न करता रहूँगा, ताकि अगर हार भी मेरे पल्ले पड़े, तब भी अफसोस की बात नहीं होगी।”

ऐसे वार्तालाप के बाद प्रातःकाल में दोनों की दौड़ प्रारम्भ हुई। खरगोश तो पवन-वेग से भाग चला और कछुआ अपनी चाल के अनुसार धीरे-धीरे चलने लगा। उसकी आँखों के सामने ही खरगोश चौकड़ियाँ भरता हुआ नजरों से ओझल हो चुका था। कछुआ जानता था कि उसकी और खरगोश की चाल में जमीन-आसमान का अन्तर है, किन्तु आत्म-विश्वास के धनी और कर्म की महत्ता को समझने वाले बहादुर कछुए ने खरगोश के नजरों से ओझल हो जाने पर भी चिन्ता नहीं की और धीरे-धीरे चलता ही रहा।

इधर खरगोश अल्पकाल में ही जब निश्चित किये हुए स्थान के काफी करीब आ गया तो सोचने लगा—“बड़ी ठण्डी हवा चल रही है और समीप ही मीठे पानी का झरना बह रहा है, क्यों न ठण्डा-ठण्डा जल पीकर कुछ देर विश्राम कर लूँ। वह कछुआ तो यहाँ शाम तक भी नहीं पहुँच पाएगा और मैं थोड़ी ही देर बाद अपने गंतव्य तक पहुँच जाऊँगा।”

यह विचारकर अभिमानी खरगोश झरने का ठण्डा पानी पीकर निश्चितता-पूर्वक सो गया। संयोगवश उसे गहरी नींद आ गई और वह घण्टों सोता रहा।

इधर कछुआ अश्विनाम गति से चलता रहा। वह जरा भी निराश नहीं हुआ और धीरे-धीरे चलकर भी खरगोश के समीप से होता हुआ नियत स्थान पर जा पहुँचा। पर घण्टों सो लेने के पश्चात् जब खरगोश उठा तब भी यह सोचकर कि मूर्ख कछुआ अभी तो आधी राह भी पार नहीं कर पाया होगा, दौड़कर अपने लक्ष्य की ओर गया।

किन्तु जब वहाँ पहुँचा तो मस्तक पीटकर रह गया, क्योंकि कछुआ वहाँ पहले ही पहुँचकर शान्ति से बैठा था।

बन्धुओ, कछुए के इस उदाहरण से आप भलीभाँति समझ गए होंगे कि केवल अपने कर्म की ओर दृष्टिपात करने वाला व्यक्ति किस प्रकार लक्ष्य को पाकर छोड़ता है। अगर कछुआ यह विचार करता कि मेरा और खरगोश का मुकाबला कैसे हो सकता है? और यह सोचकर वह हिम्मत हारकर रास्ते में ही बैठ जाता तो क्या वह खरगोश को दौड़ में परास्त कर सकता था? नहीं।

बस, इसी प्रकार मनुष्य को भी अपनी कमजोरियों पर ध्यान न देते हुए सदा सुकर्मों में रत रहना चाहिए। न कभी किए हुए कर्मों का फल न मिल पाने से निराश होना चाहिए और न ही प्रमाद के वश होकर निष्क्रिय होना चाहिए। उसे विश्वास होना चाहिए कि कृत-कर्मों का फल देर-सबेर स्वयं ही मिलेगा। आग जलाने पर उसका ताप न लगे यह कभी सम्भव नहीं होता, इसी प्रकार कर्म-फल न मिले यह भी नहीं हो सकता।

तो बन्धुओ, एक वाक्य के द्वारा अभी मैंने आपको यह बताया है कि दान, अध्ययन एवं कर्म से व्यक्ति को कभी संतुष्ट नहीं होना चाहिए। ये तीनों ही आत्मोन्नति में सहायक होते हैं। इनमें से पहला दान है, जिसके विषय में बहुत कुछ बताया जा चुका है। दान देने से व्यक्ति को अधिक लाम होता है, बजाय दान लेने वाले के। क्योंकि जड़ धन तो मृत्यु के पश्चात् यहीं पड़ा रह जाता है, पर अगर व्यक्ति उसे दान में देता है तो उस धन से अनेक गुना पुण्य वह परलोक में साथ ले जाता है।

इसलिए दान देकर व्यक्ति लेने वाले पर अधिक एहसान नहीं करता किन्तु अपना बड़ा भारी उपकार करता है। दान की व्याख्या करते हुए कहा भी है—

**‘स्वपरोपकारार्थं वितरणं दानं ।’**

अपने एवं पराये उपकार के लिए देने का नाम दान है।

तो दान देकर गृहस्थ अपना स्वयं ही महान् उपकार करता है, अतः साधु को दान लेने से ग्लानि अथवा हीनता का अनुभव नहीं करना चाहिए। उसे तो यह



विचार करना चाहिए कि याचना करके शरीर को भाड़ा देता हुआ मैं अपनी आत्मा का उपकार तो करता ही हूँ साथ ही गृहस्थों को भी दान का सुयोग देकर उपकृत करता हूँ। इस प्रकार दान लेने वाले और देने वाले, दोनों ही लाभ में रहते हैं। पर सच पूछा जाय तो लेने वाले की अपेक्षा दान देने वाला अगर उत्तम भावनाओं से देता है तो बहुत अधिक प्राप्त करता है। कभी-कभी तो दाता भावों की उत्कृष्टता के कारण 'तीर्थकर' गोत्र भी बाँध लेता है। जबकि लेने वाला केवल अपने शरीर की आवश्यकता पूरी करता है।

इस प्रकार साधुओं के लिए कहा जा सकता है—“आप तिरैं औरन को तारैं।” आवश्यकता केवल इस बात की है कि भगवान के आदेशानुसार वे अपने मन पर पूर्ण संयम रखें तथा भिक्षाचरी के लिए जाने पर गृहस्थ के यहाँ कुछ मिले या न मिले, दोनों ही स्थितियों में पूर्ण समभाव रखते हुए अपने स्थान पर लौटें। अच्छा आहार मिल जाने पर कभी यह न सोचें कि यह मेरे पुण्यों के प्रताप से मिला है और उसके न मिलने पर किसी प्रकार का विषाद भाव मन में न आने दें।

जो अपने मन पर इतना संयम रखता है वही सुसाधु अपनी शुद्ध भावनाओं के कारण दृढ़ कदमों से साधना-पथ पर बढ़ता है तथा मुक्ति का अधिकारी बनता है।



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने 'अलाभ परिषह' के विषय में विचार-विमर्श किया था। आज भी इसी पर कुछ आगे चलाएंगे। 'अलाभ-परिषह' संवर के सत्तावन भेदों में से तेईसवाँ भेद है।

कल मैंने "श्री उत्तराध्ययन सूत्र" के दूसरे अध्ययन में दी हुई तीसवीं गाथा आपके सामने रखी थी, आज इकतीसवीं गाथा कहते हुए अपने विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ। गाथा इस प्रकार है—

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया।

जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥

अर्थात् जो साधु इस प्रकार विचार करता है कि आज मुझे आहार नहीं मिला है तो 'सुए' यानी कल मिल जाएगा, उसे अलाभ परिषह से किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

भगवान का आदेश है कि साधु को नियत समय पर भिक्षा के लिए जाने पर भी अगर शुद्ध आहार उपलब्ध न हो तो वह खेद न करे। वरन पूर्ण स्थिरभाव से यह विचार करे कि आज आहार नहीं मिला तो क्या हुआ, कल मिल जाएगा, और कल भी न मिला तो परसों सही।

अभिप्राय यही है कि आहार के लिए जाने पर भी अगर उसकी प्राप्ति न हो तो वह किंचित् मात्र भी खेद न करे और अपने स्थान पर आकर हृदय पूर्वक आत्म-साधना में लग जाए। आहार के अलाभ से उसके भावों में तनिक भी अशुद्धता नहीं आनी चाहिए। अगर भावनाओं में अन्तर आ जाता है तो त्यागवृत्ति दूषित होती है और उसकी सार्थकता नहीं रहती।

इस संसार में अधिकतर यही देखा जाता है कि इच्छित वस्तु की प्राप्ति न होने पर व्यक्ति को सबसे पहले क्रोध आता है। अलाभ की स्थिति में अगर किसी का हाथ न हो तो व्यक्ति भगवान पर ही क्रोध करता है और अगर किसी से याचना करने पर

वह प्रदान न करे तो उस व्यक्ति पर क्रोध किया जाता है। पर साधु को इन दोनों स्थितियों में क्रोध करना वर्जित है। उसके लिए यही निर्देश है कि किसी वस्तु के लिए याचना करने पर अथवा मित्रा के न मिलने पर भी साधु न तो अपने कर्मों को कोसे और न ही जिससे याचना की हो, उस पर ही क्रोध करे। क्योंकि क्रोध बड़ा तीव्र विष माना गया है जोकि करने वाले की भी हानि करता है और जिस पर किया जाता है उसका भी नुकसान करता है।

एक गाथा में कहा गया है—

**कोहो वितंकि अमयं अहिंसा**

अगर कोई प्रश्न करे कि क्रोध क्या है, और अमृत क्या है? तो उसका उत्तर इस गाथा के द्वारा दिया जा सकता है कि क्रोध विष है और अहिंसा अमृत।

क्रोध के द्वारा व्यक्ति निविड़ कर्मों का बन्धन कर लेता है और अहिंसा के द्वारा अनेकानेक कर्मों की निर्जरा। इसलिए साधु को मन, वचन एवं कर्म, इन तीनों में से किसी को भी हिंसा में प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिए।

साधु किसी गृहस्थ के यहाँ मित्राचरी के लिए जाता है, उस समय अगर दो व्यक्ति साथ में भोजन कर रहे हों और एक तो साधु को देखकर गद्गद् होता हुआ अह्वान करता है—“महाराज पधारिये !” और दूसरा व्यक्ति मौन रह जाता है तो ऐसी स्थिति में भी भगवान ने आहार लेने का निषेध किया है। क्योंकि मौन उपेक्षा तथा निषेध का सूचक है, अतः उस स्थिति में आहार लेने से चुप रह जाने वाले व्यक्ति के मन में दुःख होगा।

इसी प्रकार एक दुकान दो व्यक्तियों के सामने में हो। साधु उस कपड़े की दुकान से कपड़े के लिए याचना करे पर एक भागीदार उस समय सहर्ष तैयार हो जाय तथा दूसरा मौन रहे तो उस हालत में भी साधु को कपड़ा नहीं लेना चाहिए। क्योंकि सम्भवतः बाद में उन दोनों मालिकों में कुछ खटपट हो जाय और कपड़ा देने वाले व्यक्ति को दुःख हो। किसी का दिल दुखाना भी हिंसा है।

तो साधु को न तो किसी अन्य के हृदय को क्लेश पहुँचाना चाहिए और न ही इच्छित वस्तु की अप्राप्ति से स्वयं क्लेश का अनुभव करना चाहिए। अगर वस्तु के अलाभ से मन को क्लेश का अनुभव होगा तो क्रोध का आविर्भाव भी हो जाएगा। साधु को देने वाले के मौन रहने पर तो वस्तु का लेना अनुचित है ही, साथ ही दाता मौन न रहकर अगर कटु शब्दों से इंकार कर दे या अपमानजनक शब्द कहे तो भी अपने मन में खिन्नता, ग्लानि, क्लेश या दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिए।

जो सच्चे महापुरुष होते हैं वे तो अपकारी का भी उपकार करते हैं तथा स्वयं कष्ट पाने पर भी उसके देने वाले का सम्मान करते हैं।

### कसौटी में खरा कौन उतरा ?

कहा जाता है कि एकबार अनेक ऋषियों ने एकत्रित होकर विचार किया कि ब्रह्म, विष्णु और महेश, इन तीनों की परीक्षा लेकर देखा जाए कि उनमें कौन सर्व-श्रेष्ठ एवं महान है।

अब समस्या यह उठी कि इनकी परीक्षा कैसे ली जाय और कौन इन बड़े-बड़े देवों के सन्मुख जाए ? अन्त में बड़े विचार-विमर्श के बाद यह तय हुआ कि यह कार्य ऋषिश्रेष्ठ भृगु को सौंपा जाय और वे ही अपनी इच्छानुसार सबकी परीक्षा लें।

महर्षि भृगु ने समस्त ऋषियों के आग्रह को स्वीकार किया और वहाँ से चल पड़े। सर्वप्रथम वे ब्रह्मा के समीप पहुँचे। ब्रह्माजी उस समय वेदों का विवेचन कर रहे थे। भृगु ऋषि उनके निकट जा पहुँचे पर बिना किसी सम्मान का प्रदर्शन किये अशिष्ट ढंग से उनकी बगल में जा बैठे।

यह देखकर ब्रह्मा जी को बड़ा बुरा लगा कि एक ऋषि इस प्रकार बिना उन्हें सम्मान दिये उनके समीप आकर बैठ जाये। उन्होंने वेदों पर उपदेश देना बन्द कर दिया और भृगु जी को बुरा-भला कहना आरम्भ किया। भृगु ऋषि हँसते हुए ब्रह्मा जी की गालियाँ और कटु वचन सुनते रहे और कुछ समय पश्चात् अपनी परीक्षा का प्रथम भाग समाप्त समझ कर वहाँ से चल दिये।

ब्रह्मा जी के पास से उठकर महर्षि शिवजी के निवास-स्थान पर गये। शिवजी उस समय पार्वती के साथ क्रीड़ा कर रहे थे। भृगु ऋषि ने यहाँ भी अशिष्टता बताई। परिणामस्वरूप शिवजी क्रोध से आग-बबूला हो गये। वे भी भृगु जी को मार डालते पर पार्वती ने बीच-बचाव करके उन्हें छोड़ा दिया। भृगु ऋषि वहाँ से जान लेकर मागे। परीक्षा उन्हें बड़ी मँहगी पड़ रही थी। किन्तु अब एक ही भाग उसका बच रहा था, अतः उसे भी पूरा करने का निश्चय किया।

अब वे विष्णुजी के यहाँ गये। विष्णु उस समय शेष शैत्या पर निद्रा ले रहे थे। उन्हें सोये हुए देखकर भृगु जी कपट-क्रोध से आग-बबूला हो गये और मन ही मन में डरते हुए ऊपर से साहस करके उन्होंने विष्णु की छाती में लात मार दी।

विष्णु पैर के प्रहार से चौंक पड़े और आँखें खोलीं तो पाया कि सामने भृगु ऋषि खड़े हैं। वे एकदम उठे और भृगु के चरण पकड़ कर सहलाते हुए बोले—

“भगवन् मेरे कठोर सीने से टकराने पर आपके चरणों में कष्ट पहुँचा होगा। मैं अपनी मूल और अशिष्टता के लिए आपसे क्षमा माँगता हूँ।”

भृगु ऋषि विष्णु का व्यवहार देखकर गद्गद् हो गए और उन्हें उठाकर अपने गले से लगा लिया। उनकी परीक्षा समाप्त हो चुकी थी और विष्णु उसमें खरे उतर चुके थे।

तो बंधुओ, जिन्हें लोग भगवान कहते हैं, वे भी जब अपने सीने में लात खाकर नाराज नहीं हुए, जरा भी उन्होंने क्रोध नहीं किया तो फिर साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या है? विष्णु का व्यवहार जगत के सामने आदर्श प्रस्तुत करता हुआ कहता है कि—अपकारी के प्रति भी मन में क्रोध का भाव नहीं आना चाहिए। जिस प्रकार भृगु का लात मारना विष्णु की परीक्षा थी, उसी प्रकार साधक के लिए भी कष्ट एवं परिषह कसौटियाँ हैं। उन पर कसा जाकर अगर वह खरा नहीं उतरता तो उसकी साधना फल प्रदान नहीं कर सकती। परिषहों के आने पर मन में अगर क्रोध आता है तो उससे किसी न किसी प्रकार की हिंसा होने की सम्भावना रहती है। अतः क्रोध का सर्वथा त्याग करके क्षमा एवं अहिंसा को ही अपनाना चाहिए। क्रोध विषरूप है अतः उसका त्याग करना उचित है और अहिंसा अमृत है अतः उसको ग्रहण करना।

आगे कहा है—

‘माणो अरि किं हियमप्पमावो ।’

सांसारिक प्राणी का सबसे बड़ा शत्रु मान है। रावण और विभीषण दोनों सगे भाई थे। पर रावण के अभिमान ने उसको परिवार सहित नष्ट कर दिया और विभीषण की निरभिमानता ने लंका का राज्य प्रदान किया।

श्री स्थानांग सूत्र में भी मान की निकृष्टता बताते हुए कहा है—

सेलथंभ समाणं माणं अणुपन्नित्ठे जीवे,  
कालं करेइ णेरइएमु उववज्जति ।

अर्थात् पत्थर के खम्भे के समान जीवन में कमी नहीं झुकने वाला अहंकार आत्मा को नरक गति की ओर ले जाता है।

कमी-कमी तो मिथ्याभिमान का परिणाम अगले जन्मों में तो क्या, इसी जन्म में और तुरन्त ही मिल जाता है। रावण और कंस के अभिमान ने उन्हें उसी जन्म में नष्ट किया था यह आप जानते ही हैं। एक ईसाई लघुकथा के द्वारा भी यही बात आपको बताता हूँ।

**अभिमान का परिणाम**

एक बार एक गिरजाघर में ईसामसीह के अनेक भक्त उनका गुण-मान करने के लिए बैठे हुए थे। भक्ति पूर्ण मधुर प्रार्थना से गिरजाघर का वातावरण बड़ा शांत एवं आनन्दप्रद बन गया था।

प्रार्थना के पश्चात् वहाँ के पादरी ने समस्त उपस्थित व्यक्तियों को उपदेश दिया। अपने उपदेश में उन्होंने कहा—“प्रभु ईसा ईश्वर के दूत हैं। उनके बताये हुए मार्ग पर चलने से ही जीव नरक के भीषण दुःखों से बच सकता है तथा स्वर्ग की प्राप्ति कर सकता है। संसार के समस्त कष्ट ईसामसीह की कृपा से टल जाते हैं।

इस प्रकार पादरी ने उपदेश दिया और सभी को ईसा की शरण में आने का आग्रह किया। उस समय गिरजाघर में उपस्थित व्यक्तियों के बीच में एक स्त्री बैठी थी। वह ईसाई नहीं थी किन्तु बड़े सरल हृदय की थी। अतः पादरी का उपदेश सुनकर गद्गद् हो गई। जब और लोग वहाँ से चले गये तो वह स्त्री संकुचित होती हुई कुछ आगे बढ़ी और बड़ी नम्रता से पादरी से बोली—

“मैं ईसाई नहीं हूँ पर क्या नरक की यातना से परित्राण नहीं पा सकती ?”

पादरी उस निश्छलहृदया स्त्री की बात सुनकर चिढ़ गया और अभिमान सहित बोला—“नहीं ! जो ईसाई धर्म को विधिवत नहीं अपनाते, उन पर प्रभु ईसु कभी कृपा नहीं करते।”

पादरी ने अपनी बात की ही थी कि अचानक आकाश में भयंकर गर्जना हुई और बिजली के द्वारा गिरजाघर में आग ही आग हो गई। गिरजाघर का भीतरी हिस्सा भी आग की लपेट में आ गया।

आकाश में हुआ भीषण गर्जन और गिरजाघर से उठती आग को देखकर अनेक व्यक्ति दौड़कर वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने अन्दर रहे हुए प्राणियों को बचाने का प्रयत्न किया। उस प्रयत्न के परिणामस्वरूप उस स्त्री को तो बचा लिया गया किन्तु पादरी को नहीं बचाया जा सका। वह प्रज्वलित अग्नि की गोद में समा चुका था।

इस घटना को देखकर जो लोग अभी-अभी पादरी का यह उपदेश सुनकर गये थे कि प्रभु ईसु, ईसाई धर्म को न मानने वालों पर कभी कृपा नहीं करते, वे बड़े चकित हुए और विचार करने लगे कि गिरजाघर के पादरी तथा ईसाइयों के गौरव-रूप व्यक्ति पर गिरजाघर के अन्दर भी प्रभु ईसा ने कृपा नहीं की और जो ईसाई नहीं थी, वह सरल स्त्री कैसे बच गई ? किन्तु धीरे-धीरे उनकी समझ में आ गया कि पादरी अहंकारी था। अपने अहंकार के कारण उसने प्रभु ईसामसीह की महत्ता को भी धब्बा लगाया था। इसी कारण उसे अबिलम्ब फल मिला है। दूसरे शब्दों में, उसका मिथ्याभिमान उसे ले डूबा है।

बन्धुओ, ऐसे उदाहरण पढ़कर और सुनकर हमें जात होता है कि अभिमान का फल कभी अच्छा नहीं निकलता। व्यक्ति को कभी भी अपने कुल, ऐश्वर्य, रूप,

ज्ञान और साधना आदि किसी का मान नहीं करना चाहिए। मान कभी भी आत्मा को शुद्ध नहीं रहने देता तथा विनय के नाश का कारण बनकर आत्म-गुणों को विकृत कर देता है।

आगे कहा है—दुनिया में प्राणी का हित करने वाला अप्रमाद है। प्रमादी व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता। कल मैंने आपको खरगोश और कछुए की दौड़ के विषय में बताया था कि कछुआ यद्यपि खरगोश का स्वप्न में भी मुकाबला नहीं कर सकता था। किन्तु वह अप्रमादी था, अतः लगन-पूर्वक धीरे-धीरे चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। किन्तु खरगोश प्रमादी था अतः तेज दौड़ने की क्षमता रखने पर भी प्रमाद के कारण सो गया और कछुए से पीछे रह गया।

साधक के लिए भी साधना मुक्ति को प्राप्त कराने वाला मार्ग है। किन्तु अगर साधक प्रमाद में पड़ गया तो मार्ग कटना कठिन हो जाएगा, पर अगर वह अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे भी बढ़ता रहे तो निश्चय ही अपनी मन्जिल को प्राप्त कर सकता है। अतः आवश्यक है कि वह ज्ञान-प्राप्ति में, चिन्तन-मनन में, तप-त्याग में और ध्यान-साधना में प्रमाद न रखे, तभी लक्ष्य को पा सकता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,  
भारंडपक्षी व चरेऽप्यमत्तं ।

कहते हैं—समय बढ़ा भयंकर है और शरीर प्रतिपल जीर्ण-शीर्ण होता जा रहा है। अतः साधक को अप्रमत्त भाव से भारंड पक्षी की तरह विचरण करना चाहिए।

भारंड पक्षी सदा सतर्क और सजग रहता है। अतः उसका उदाहरण साधक के लिए दिया गया है। वस्तुतः सतक जागरूक एवं सतर्क रहने वाला साधक ही अपने पथ पर अप्रसर हो सकता है तथा गतव्य को पा सकता है।

अब आता है—'माया भयम्'। यानी माया के जैसा कोई भय नहीं है। माया से आप दो अर्थ ले सकते हैं। पहला तो धन है। आप लोग कहा करते हैं—धन को डर है शरीर को नहीं। तो जहाँ धन होता है वहाँ उसकी सुरक्षा की चिन्ता हो जाती है। धनवान को दिन-रात चैन नहीं पड़ती। चोर-डाकुओं का नाम सुनते ही वह काँप जाता है। किन्तु ऐसा भय दीन-दरिद्र को अथवा हम जैसे साधुओं को कभी नहीं सताता। हमारे पास वैसा धन ही नहीं है, जिसे चोर चुरा सकें।

माया का दूसरा अर्थ कपट से लिया जाता है। कपटी व्यक्ति भी सदा भयभीत रहता है कि कहीं उसकी पोल खुल न जाय। मायावी व्यक्ति इस संसार में

किसी का सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। लोग उसके पास बैठने-उठने से भी डरने लगते हैं। दूसरे पारमार्थिक दृष्टि से भी मन में माया या कपट रखने वाला व्यक्ति आत्म-शुद्धि को प्राप्त नहीं होता तथा अपने संसार को बढ़ाता जाता है। कहा भी है—

जइ वि य णिगणे किसे घरे,  
जइ वि य भुंजेमासमंतसो ।  
जे इह मायाइ मिज्जइ,  
आगंता गइभाऽणंतसो ॥

अर्थात्—व्यक्ति भले ही नग्न रहे, महिने-महिने का अनशन करे और शरीर को कृश एवं अत्यन्त क्षीण कर डाले, किन्तु अगर वह अपने अन्तर में माया और दम्भ रखता है तो जन्म-मरण के अनन्त चक्र में भटकता ही रहता है।

इसीलिये मुमुक्षु प्राणी को माया का सर्वथा त्याग करने का आदेश दिया गया है। माया कषाय के वश में पड़ा हुआ प्राणी आत्मा के हिताहित का भान भूल जाता है, वह तो प्रतिपल औरों के अहित का चिन्तन करता है और उस पर भी अपनी पोल खुल न जाये, इसके लिए भयभीत बना रहता है।

अब कहते हैं—‘शरणम् तु सत्यम् ।’ जीव के लिए इस संसार में सत्य के अलावा अन्य कुछ भी शरणदाता नहीं है। सत्य की महत्ता शब्दों से नहीं बताई जा सकती। ‘प्रश्नव्याकरण सूत्र’ में तो कहा है—‘तं सच्चं भगवं ।’ सत्य ही भगवान है।

भला इससे बढ़कर सत्य का महत्त्व और क्या बताया जा सकता है? भगवान से बढ़कर तो और कुछ है नहीं। अतः सत्य को उन्हीं के समान कहा गया है दूसरे सत्य के महत्त्व को और भी बढ़ाने के लिए सत्य को ही भगवान माना गया है। पर यह असत्य नहीं है और न ही इसमें अतिशयोक्ति है। जो सत्य को पहचान लेता है वह कभी भी और कहीं भी धोखा नहीं खाता। परिणाम यह होता है कि सत्यवादी अपनी आत्मा को निरन्तर क्लुष से बचाता चला जाता है और एक दिन अपनी आत्मा को परमात्मा या भगवान के रूप में परिणत करा लेता है।

सत्य के विषय में कहा गया है—

एकतः सकलं पाप-मसत्योत्थं ततोऽन्यतः ।  
साम्यमेव वदन्त्यार्या-स्तुलायां घृतयोस्तथोः ॥

—ज्ञानार्णव, पृष्ठ १२६

कहते हैं—एक ओर जगत के समस्त पाप एवं दूसरी ओर असत्य का पाप— इन दोनों को तराजू में तोला जाये तो बराबर होंगे, ऐसा आर्यपुरुष कहते हैं।



वस्तुतः जो प्राणी सत्य को अपना लेता है वह संसार के समस्त दुर्गुणों से बच जाता है। असत्य अनेक पापों पर कुछ समय के लिए तो पर्दा डालने में समर्थ हो ही जाता है पर उस काल में भी कर्मों का जितना बन्धन होता है वह जीव को संसार-भ्रमण कराने का हेतु बनता है। अतः व्यक्ति को सत्य का महत्त्व समझते हुए उसे अन्तरात्मा से अपनाना चाहिए। सत्य किस प्रकार व्यक्ति को अनेक पापों से बचाता है, इसे एक उदाहरण से आपको बताने का प्रयत्न करता हूँ।

### सत्य का प्रभाव

एक सेठ बड़ा सज्जन, ईमानदार एवं धर्म में विश्वास करने वाला था। किन्तु दुर्भाग्य से उसके पुत्र ने अपने पिता के समस्त गुणों से विरोधी गुण अपना लिये। इकलौता पुत्र था और सम्पत्ति बहुत थी, अतः दुर्व्यसनों का शिकार बनते उसे देर नहीं लगी।

पिता ने जब अपने पुत्र को कुमार्ग पर जाते देखा तो बहुत दुखी हुआ और सोचने लगा—किस प्रकार इसे मार्ग पर लाया जाय? संयोगवश एक संत उस नगर में आए। सेठ बड़े भक्ति-भाव से उनके दर्शन करने गया। संत कुछ दिन ठहरे और सेठ उनकी सेवा में प्रतिदिन पहुँचता रहा। किन्तु पुत्र की ओर से जो दुःख उसके मन में था, वह सदा उसके चेहरे पर झलका करता था।

एक दिन संत ने उससे पूछ लिया—“सेठ जी! मैंने सुना है कि आपके पास बहुत सम्पत्ति है, भरा-पूरा परिवार है और एक पुत्र भी है, फिर इन सभी सांसारिक सुखों के होते हुए भी आप सदा उदास एवं चिंतित क्यों दिखाई देते हैं?”

सेठ ने संत की सहानुभूति पाकर अपनी चिन्ता का कारण उनसे कहा। वे बोले—“भगवन्! सभी तरह का सुख मुझे हासिल है किन्तु मेरा पुत्र कुमार्गगामी बन गया है। कोई भी ऐसा कुव्यसन नहीं बचा जिसे उसने न अपनाया हो। यही चिन्ता मुझे सदा सताती रहती है कि मेरे मरने के बाद वह क्या करेगा और किस प्रकार वंश का नाम कलंकित करेगा?”

संत सेठ की बात सुनकर मुस्कराये और बोले—“एक बिन उसे मेरे पास ले आना।”

सेठ ने उदास होकर कहा—“महाराज! वह तो साधुओं की छाया से भी दूर भागता है, कहता है साधु अपने पास आने वाले व्यक्तियों को अनेक प्रकार के त्याग कराते रहते हैं।”

संत ने कहा—“तुम उससे कह देना कि मैं उसे किसी भी बात का त्याग नहीं कराऊँगा।”

सेठ घर गया और अगले दिन अपने पुत्र से बोला—

“बेटा ! यहाँ पर बड़े विद्वान एवं त्यागी संत आये हुए हैं । तुम मेरे साथ चलकर उनके दर्शन तो करो ।”

पुत्र यह सुनकर भड़क गया और बोला—“पिताजी ! मैं उनके पास नहीं जाऊँगा । साधु लोग यह छोड़ो, वह छोड़ो के सिवाय कोई बात ही नहीं करते ।”

सेठ ने उसे समझाया—“पुत्र ! मैंने महाराज से पहले ही कह दिया है कि आप मेरे लड़के को कुछ भी त्याग करने के लिए मत कहियेगा । उन्होंने यह बात स्वीकार भी कर ली है । अतः कम से कम एक बार ही मेरे आग्रह को मान कर उनके पास चलो ।”

पुत्र ने सोचा—पिताजी इतना आग्रह कर रहे हैं, और जब सन्त मुझे कोई त्याग करने के लिए नहीं कहेंगे तो एक बार चलने में आखिर मेरा क्या बिगड़ जायेगा ? यह विचार कर वह पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए सन्त के निवास स्थान पर आ गया ।

पिता-पुत्र ने सन्त के दर्शन किये और उन्होंने बैठने के लिए कहा । पर सेठ के लड़के ने कह दिया—“आप मुझे किसी बात का त्याग करने के लिए न कहें तो बैठ सकता हूँ, अन्यथा इसी क्षण चला जाऊँगा ।”

सन्त मधुरता पूर्वक हँसे और बोले—“वत्स ! मैं तुम्हें कुछ भी छोड़ने के लिए नहीं कहूँगा, पर अगर कुछ ग्रहण करने के लिए कहूँ तो स्वीकार करोगे ?”

“बिना आपकी बात सुने कि आप मुझे क्या ग्रहण करने के लिए कहते हैं, मैं कैसे ही कह सकता हूँ ?” पुत्र ने उत्तर दिया ।

“हाँ यह भी ठीक है । तो मैं केवल यह कहता हूँ कि तुम सत्य बोलना स्वीकार कर लो । इसके अलावा और जो कुछ भी करना चाहो, करते रहो ।”

पुत्र सन्त की बात पर कुछ देर तक विचार करता रहा । उसने सोचा—“महाराज की बात मानने से मेरे किसी काम में बाधा तो आयेगी नहीं । ये न तो मुझे जुआ खेलने से मना करते हैं, न शराब पीने से और न ही वेश्यागमन से रोकते हैं । फिर सच बोलने मात्र का नियम लेने से मेरा क्या बिगड़ता है ? यह सोचकर वह बोला—“ठीक है महाराज ! सत्य बोलने का एक नियम करवा दीजिए ।”

सन्त ने प्रसन्नतापूर्वक उसे सत्य बोलने का नियम दिला दिया । कुछ समय पश्चात् पुत्र उठकर चला गया । शाम को उसने खाना खाया और जब शराब की याद आई तो घर से बाहर जाने लगा । संयोगवश उसी समय उसकी दुकान के वृद्ध

मुनीम बाहर से आते हुए मिल गये । उन्होंने पूछ लिया—“बेटे ! अच्छी तरह से तो हो ? इस समय कहाँ जा रहे हो ?”

श्रेष्ठिपुत्र बड़े संकट में पड़ गया । हमेशा तो वह कोई भी बहाना बाहर जाने का बना देता था । पर आज तो वह सच बोलने का नियम लेकर आया था अतः सोचने लगा—“अब कोई बहाना बनाता हूँ तो असत्य का पाप लगता है और सत्य कहूँ कैसे ? मुनीम मेरे पिता के समान हैं, इनसे कैसे कह सकता हूँ कि शराब पीने जा रहा हूँ ।” ऐसा सोचते हुए वह कुछ न कहकर पुनः अन्दर चला आया ।

कुछ समय और व्यतीत हुआ तो उसे ख्याल आया कि मेरे दोस्त पत्ते लिये बैठे होंगे, मेरे बिना दाँव लगायेगा भी कौन ? चलूँ अब वहीं सही । यह विचारकर वह पुनः उठा और घर से बाहर निकला । पर बाहर निकलते-निकलते उसके पिताजी दुकान से आते हुए मिल गये । सहज भाव से उन्होंने पूछ लिया—

“पुत्र किधर जा रहे हो ?” लड़के की फिर मुश्किल हो गई । गलत कारण बताये तो झूठ और सच कहे तो पिता क्या सोचेंगे कि जुआ खेलने जा रहा है । वह फिर मन मारकर लौट आया । पर कुछ रात बीतने पर फिर उसे मन बहलाने के लिए वेश्या के यहाँ जाने का मन हुआ । वह भगवान का नाम लेकर फिर उठा और कमरे से बाहर जाने लगा ।

पर आश्चर्यजनक संयोग सब उसी दिन घटने थे । वह कमरे से बाहर निकल भी नहीं पाया था कि उसकी माँ गरम दूध का गिलास लेकर सामने आ गई और कह बैठी—“बेटा, दूध पीलो और सो जाओ ! अब इतनी रात गये कहाँ जा रहे हो ?”

बेचारा पुत्र भारी मुसीबत में पड़ गया । वह माँ से क्या कहता कि कहाँ जा रहा हूँ ? बहुत ही झुंझलाते हुए उसने दूध लिया और बोला—“कहीं नहीं जाता, दूध पीकर सोता हूँ ।”

इस प्रकार सत्य बोलने का नियम लेकर वह उस दिन कहीं नहीं जा पाया । और फिर तो रोज-रोज ही ऐसा होने लगा । परिवार काफी बड़ा था और ऊपर से मुनीम, गुमास्ते तथा नौकर-चाकर भी रहते थे । कोई भी उसे बाहर जाते देखकर पूछ ही लेता कि कहाँ जा रहे हो ? वह उत्तर दे नहीं सकता था, क्योंकि पूछने वाला उसके दुर्व्यसन के बारे में जानकर माता-पिता से शिकायत कर सकता था ।

पर धीरे-धीरे उसकी बुरी आदतें स्वयं ही छूटने लगीं । जब कुछ दिन तक वह जुआ, शराब या मुजरे में नहीं जा पाया तो फिर उसे स्वयं भी उन सबसे नफरत हो गई । यह सब सत्य बोलने का नियम लेने का ही परिणाम था । स्पष्ट है कि एक सत्य ही जीवन के अनेक दुर्गुणों को नष्ट कर देता है । इसीलिए श्लोक में कहा गया

है—सत्य ही मानव के लिए शरण लेने का स्थान है और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शरण लेनी चाहिए ।

आगे कहते हैं—'लोहो दुहम् ।' लोभ जैसा कोई दुःख नहीं है । इस संसार में मनुष्य लोभ के कारण नाना पाप करता है । इस महा-कषाय का वर्णन करते हुए हमारे शास्त्र कहते हैं कि संसारी प्राणी जब लोभ के वश में हो जाते हैं तो दिन-रात उन्हें तृष्णा सताती रहती है । उनकी इच्छायें और कामनायें कभी पूरी नहीं होतीं और जब इच्छाओं का अन्त नहीं आता तो तृप्ति की सम्भावना भी नहीं होती ।

वास्तव में लोभ अग्नि के समान है, जिसमें ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाय वह भड़कती चली जाती है । लोभ को शान्त करने के लिए मनुष्य हीरे, मोती, माणिक, सोना, चांदी, धन-धान्य, मकान एवं जमीन आदि जुटाता जाता है किन्तु लोभ की ज्वालाएँ उन्हें पाकर और-और बढ़ती हैं । परिणाम यह होता है कि प्राणी को इस जीवन में तृष्णा की आग में जलना पड़ता है और भारी परिग्रह को जुटाने में जो पाप करने पड़ते हैं, उनके कारण जन्म-जन्मान्तर तक संसार-भ्रमण करना होता है ।

भगवद्गीता में कहा है—

त्रिविधं नरकस्थेदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतन्त्रयंपत्यजेत् ॥

अर्थात्—नरक के तीन द्वार हैं जो आत्मा का विनाश करते हैं । वे हैं—काम, क्रोध और लोभ । अतएव इन तीनों का त्याग करना चाहिए ।

वस्तुतः लोभ महा दुःखदायी है और इसे त्यागे बिना मानव कभी सुख या शान्ति महसूस नहीं कर सकता ।

लोभ को दुःख बताने के बाद आगे यह भी बताया है कि फिर सुख क्या है ? इस विषय में कहा है—'सुहमाह तृष्टी ।' सन्तोष के समान सुख नहीं है ।

वास्तव में ही मनुष्य की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती और वह कितना भी संग्रह क्यों न करता जाय, सदा अतृप्त और दुखी रहता है । आज मनुष्य की हवस इतनी बढ़ गयी है कि उसका कहीं किनारा ही दृष्टिगोचर नहीं होता । एक आवश्यकता वह पूरी करता है कि उसकी जगह पाँच आवश्यकतायें नई उत्पन्न हो जाती हैं । इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह अपनी स्थिति में सदा सन्तुष्ट रहे । ऐसा करने पर आध्यात्मिक लाभ तो होगा ही, साथ ही सांसारिक दृष्टि से भी वह लाभ में रहेगा ।

सन्तोषी व्यक्ति धन कमाने की अनेक झंझटों से तथा पापों से बच जाता है और जब अधिक धन इकट्ठा नहीं करता तो व्यर्थ के व्यय से भी बचता है। दूसरे उसके जीवन में सादगी और संयम आ जाता है अतः वह परम शान्ति का अनुभव करता है।

एक श्लोक में कहा भी है—

सन्तोषामृततृप्तानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।

कुतस्तद्धनलुब्धाना-मितश्चेतश्च धावताम् ॥

अर्थात्—सन्तोषरूपी अमृत को पाकर जो तृप्त हो गये हैं और इस कारण जिनका चित्त शान्त हो गया है, उन्हें जिस सुख का अनुभव होता है, वह सुख धन के लोभ में पड़कर इधर-उधर दौड़-धूप मचाने वालों के भाग्य में कहीं ?

कहने का अभिप्राय यही है कि सुख संतोष रखने में है। 'अलाभ परिषह' भी साधक को संतोष धारण करने की प्रेरणा देता है। भिक्षाचरी के लिए जाने पर साधु को अगर संयोग न मिले तो भी वह संतोष रखे तथा अगले दिन मिल जाएगा, ऐसा विचार करे। जो साधक ऐसा सोच लेता है उसे 'अलाभ परिषह' तकलीफ नहीं देता। संतोष धारण करने से ही आत्मा का कल्याण होता है।

इस संसार में मनुष्य को अनेक प्रकार के कष्टों और परिषहों का सामना करना पड़ता है। किन्तु जो व्यक्ति साधारण होते हैं वे रो-रोकर उन्हें भोगते हैं और जो असाधारण अर्थात् महान् होते हैं वे हँसते हुए उन पर विजय प्राप्त करते हैं।

किसी हिन्दी भाषा के कवि ने कहा है—

ये दुनिया एक उलझन है, कहीं धोखा कहीं ठोकर ।

कोई हँस-हँस के जीता है, कोई जीता है रो-रोकर ।

जो गिरकर भी सभल जाये, उसे इन्सान कहते हैं ।

किसी के काम जो आये, उसे इन्सान कहते हैं ।

पराया दर्द अपनाये उसे इन्सान कहते हैं ।

कवि ने कहा है—यह संसार एक उलझन है। और इसमें व्यक्ति कहीं धोखा खाता है तथा कहीं पर ठोकर खाकर गिर पड़ता है। अर्थात् नाना प्रकार के कष्ट उसके सामने आते हैं। कभी वह धनाभाव के कारण रोता है तो कभी उसका धन कोई चुरा ले जाता है। कभी बालक के जन्म पर हँसता है, किन्तु उसी की मृत्यु हो जाने पर रोता है। कभी मार्या, कुभार्या साबित होती है और कभी पुत्र अपमानित करता है। इसके अलावा कभी-कभी मनुष्य स्वयं भी पतन के मार्ग पर अग्रसर होकर अपनी आत्मा को गिरा लेता है।

पर आगे कहा है कि इन्सान वही है जो गिरकर भी सम्हल जाता है। गलतियाँ और भूलें होना कोई बड़ी बात नहीं है, वे मनुष्य से ही होती हैं किन्तु अपनी भूलों का सुधार कर लेने वाला सच्चा इन्सान कहलाता है। दूसरे शब्दों में, मार्ग से च्युत होना असम्भव नहीं है, मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है, किन्तु सच्चा इन्सान वह है जो पुनः सही मार्ग ढूँढ़कर उस पर चल पड़ता है। सुमार्ग पर चलने वाला पराये दुख-दर्द से दुखी होता है तथा उन्हें मिटाने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति कभी स्वार्थी नहीं बनता तथा प्रत्येक जरूरतमन्द के काम आता है। यही सच्चे मानव या इन्सान के लक्षण होते हैं।

कविता में आगे कहा गया है—

अगर गलती रुलाती है तो रस्ता भी बताती है।

मनुज गलती का पुतला है ये अकसर हो ही जाती है।

जो गलती करके पछताये, उसे इन्सान कहते हैं।

कवि का कथन है कि गलती या भूल इन्सान से ही होती है। किन्तु गलती अगर पहले रुलाती है तो बाद में सही मार्ग भी दिखा देती है। आप सोचेंगे कि यह कैसी बात है? गलती किस प्रकार मार्ग बताती है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति ठोकर खाता है वही बाद में संभल कर चलने का प्रयत्न करता है।

इसी विषय की अगर अधिक विवेचना की जाय तो स्पष्ट समझा जा सकता है कि मुमुक्षु व्यक्ति यद्यपि बहुत सावधानी रखता है कि उसके द्वारा कोई दुष्कृत्य न हो पाये। किन्तु मन की अस्थिरता एवं चपलता के कारण वह मन से, वचन से और कभी-कभी तन से भी गिर जाता है।

किन्तु गिरने के पश्चात् वह गिरा ही रहे, यह आवश्यक नहीं है। अपने पतन पर वह पश्चात्ताप करता है, पूर्ण निष्कपट एवं सरल भाव से अपने दोषों के लिए गुरु के समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित्त करता हुआ पुनः अपनी गलतियों को न दुहराने की प्रतिज्ञा करता है। इस प्रकार जो गलतियाँ उसे दुखी करती हैं, रुलाती हैं, वे ही कुछ समय पश्चात् सही मार्ग भी बताती हैं।

एक उर्दू भाषा के कवि ने भी अपने शेर में कहा है कि गलतियाँ हो जाने पर इन्सान को सीखना चाहिए कि—

तुहमसे चन्द अपने जिम्मे धर चले।

किसलिए आए थे हम क्या कर चले।

अर्थात्—व्यक्ति को विचार करना चाहिए कि इस संसार में आकर हम केवल कलंक ही अपने माथे पर लेकर जा रहे हैं। खेद है कि जो मनुष्य-जीवन हमें आत्मा को उन्नत बनाने के लिए मिला था, उसके द्वारा हमने आत्मा का और पतन कर लिया है। इस प्रकार क्या करने आये थे और क्या करके जा रहे हैं ?

जो भव्य प्राणी ऐसा सोचते हैं वे गिरकर भी उठ जाते हैं, ठोकर खाकर संभल जाते हैं और वे ही सच्चे इन्सान कहला सकते हैं।

तो बन्धुओ, प्रत्येक साधक को और प्रत्येक व्यक्ति को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि यह संसार एक जाल है जो सुख एवं दुःख, लाभ एवं अलाभ के तानों-बानों से बुना हुआ है। यहाँ कभी सुख प्राप्त होता है और कभी दुःख, कभी लाभ होता है और कभी अलाभ-परिषह सामने आता है। पर जो इन सभी स्थितियों में समभाव रखता है वही सिद्धि के सोपान पर चढ़ता है। ❁

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्व के सत्तावन भेदों में से तेईस भेदों का वर्णन किया जा चुका है। अब चौबीसवें भेद का जो कि सोलहवाँ परिषह है, वर्णन किया जा रहा है। इस परिषह का नाम है—‘रोग परिषह’।

आप और हम सभी जानते हैं कि जहाँ शरीर है, वहाँ रोगों के आक्रमण का भी सदा भय है। साधु, श्रावक या अन्य कोई भी व्यक्ति कर्मों न हो, वह कभी भी और किसी समय भी रोग से आक्रांत हो सकता है। रोगों से बचना किसी भी शरीर-धारी के लिए संभव नहीं है। भले ही व्यक्ति एकदेशीय व्रतधारी श्रावक हो या संवदेशीय महाव्रत धारी मुनि, पूर्वकृत कर्मों का परिणाम तो उसे भोगना ही पड़ता है और वे अनेक रूपों में उसके समक्ष आते हैं। कभी व्यक्ति को धन की हानि होती है, कभी स्वजनों का वियोग होता है, कभी किसी शत्रु का सामना करना पड़ता है और कभी रोगों का।

साधारणतया यही देखा जाता है कि व्यक्ति रोगाक्रांत होने पर चीखता है, चिल्लाता है, रोता है और इसके साथ-साथ भगवान को कोसता जाता है। सारांश यही है कि वह बीमारी के समय निरन्तर आर्तध्यान करता रहता है। परिणाम यह होता है कि पूर्व कर्मों से तो उसे छुटकारा मिल नहीं पाता, उलटे अनेक नवीन कर्म बंध जाते हैं।

किन्तु मुनि तो अपने पूर्व कर्मों की निर्जरा करने के लिए और नवीन कर्मों का आगमन रोकने के लिए संयम ग्रहण करता है अतः उसे रोगादि परिषहों के उपस्थित होने पर विचलित नहीं होना चाहिए अपितु समभाव एवं शांति से उन्हें सहन करना चाहिए।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन की बत्तीसवीं गाथा में कहा गया है—

नच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्टिए।

अदीणो थासए पन्नं, पुट्ठो तत्थअहियासए ॥



भगवान् महावीर का आदेश है कि साधु अपने शरीर में उत्पन्न हुए दुःख को जानकर वेदना से दुखी न होता हुआ दीनता रहित बुद्धि को स्थापन करे तथा महसूस होने वाले दुःख को समतापूर्वक सहन करे ।

अभिप्राय यही है कि साधु को मले ही भयंकर ज्वर हो, कोई भी तीव्र वेदना पहुँचाने वाला घाव, व्रण या सूजन आदि शरीर में हो, वह किसी भी प्रकार का दुःख या विह्वलता का अनुभव न करे और न ही आर्त-ध्यान मन में लाये ।

संयमशील साधु को चाहिए कि वह रोगजनित वेदना में अपनी बुद्धि को स्थिर और मन को शान्त रखे । वह इस प्रकार का चिन्तन करे कि—इस आत्मा ने कृतकर्मों के कारण अनेक बार शारीरिक एवं मानसिक कष्टों का अनुभव किया है । इस समय भी मुझे जो कष्ट उत्पन्न हो रहा है वह असाता वेदनीय कर्मों के कारण है । कर्मों का भुगतान तो जीव को करना ही पड़ता है । किसी भी उपाय से उससे बचा नहीं जा सकता । इसीलिए अनिवार्य समझकर उनके कारण उत्पन्न रोगादि को समतापूर्वक सहन करना चाहिए । हाय-हाय करने से या रोने-चीखने से बीमारी तो कभी हट नहीं सकती, फिर चिन्ता करने से या आर्तध्यान करने से क्या लाभ है ?

संस्कृत साहित्य में शरीर के विषय में कहा जाता है—“शरीरं व्याधि-मन्दिरम् ।” यह शरीर अनेक व्याधियों का घर है ।

हम ग्रन्थों में पढ़ते हैं कि मनुष्य के शरीर पर साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं और प्रत्येक रोम के मूल में पीने दो रोग छिपे रहते हैं । इस प्रकार साढ़े पाँच करोड़ से भी अधिक रोग शरीर में रहते हैं । सौ-दोसो या लाख-दो लाख नहीं, करोड़ों रोगों का घर यह शरीर होता है । आप सोचेंगे कि जब इतने रोग इस शरीर में विद्यमान रहते हैं तो फिर ये सदा ही हमें क्यों नहीं सताते ? इसका कारण यह है कि जब तक मानव के पल्ले में पुण्य होता है, रोग भी अपना सिर ऊँचा नहीं करते । किन्तु जब पुण्यवानी में कमी आ जाती है और पापों का उदय होता है तो इनकी बन आती है और तनिक से कारण को निमित्त बनाकर ये दुःख देने लगते हैं । यथा—ग्रीष्म की धूप चलकर आए, पानी पी लिया तो बीमार पड़ गए । छत पर सोये, सर्दी लगी कि निमोनिया हो गया । गिरी खाकर पानी पी लिया, खाँसी हो गई । इसी प्रकार छोटे-छोटे निमित्तों को लेकर ही रोग शरीर में घर कर जाते हैं ।

ऐसी स्थितियों में मुनि को यही सोचना चाहिए कि मेरे पाप कर्म अपना कर्ज वसूल करने आए हैं और मुझे सहर्ष चुकाना चाहिये । यह जीवन तो क्षणमंगुर है ही, किसी भी बहाने से कष्ट होगा, फिर रोगों से घबरा कर अपनी साधना में बाधा डालने से क्या लाभ है ? अगर मैं आर्तध्यान करूँगा तो अधिक कर्म मेरी आत्मा को घेरते जाएँगे और संसार बड़ेगा ।

मर्तृ हरि ने अपने एक श्लोक में बड़ा आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा है—

व्याघ्रोव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ति ।

रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति वेहम् ॥

आयुः परिस्रवति छिन्न घटाविबाम्भो ।

लोकस्तथाऽप्यहितमाचरतीति क्षिन्नम् ॥

वृद्धावस्था भयंकर बाधिन की तरह सामने खड़ी है। रोग शत्रुओं की तरह आक्रमण कर रहे हैं। आयु फूटे हुए घड़े के पानी की तरह निकली चली जा रही है। पर आश्चर्य की बात है कि लोग फिर भी वही काम करते हैं, जिनसे उनका अनिष्ट हो।

वस्तुतः जरारूपी सिंहनी इस शरीर की ओर सदा ताक लगाए रहती है जो कि दाव पाते ही खून चूस लेती है। युवावस्था में रहने वाली शक्ति वृद्धावस्था में नहीं टिकती। जिस प्रकार खेल-तमाशे वाले पहले ही सूचना देते हैं—‘येणार-येणार !’ वैसे ही यह वृद्धावस्था कहती है—‘मैं आने वाली हूँ, आने वाली हूँ ! अतः अगर चाहो तो अभी धर्मध्यान कर लो।

रोग भी वृद्धावस्था से कम नहीं है। वृद्धावस्था तो युवावस्था के बाद ही आती है किन्तु रोग तो न शैशवावस्था देखते हैं, न युवावस्था और न ही वृद्धावस्था का ध्यान रखते हैं। किसी भी आयु में और किसी भी समय वे अचानक ही आक्रमण कर बैठते हैं। वे यह नहीं देखते कि बच्चे को बहुत तकलीफ होगी और वृद्ध अशक्ति के कारण हमारा सामना नहीं कर पाएगा। तो पूर्व कर्म रोगों के रूप में प्रत्येक जीव से अपनी वसूली कर ही लेते हैं, किसी को भी नहीं छोड़ते।

श्लोक के तीसरे चरण में कहा है—जिस प्रकार फूटे हुए घड़े में से एक-एक बूँद पानी टपकता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी क्षण-क्षण में समाप्त होता चला जाता है। किन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि व्यक्ति ऐसी स्थिति में भी चेतता नहीं है और संकटों से घबराता हुआ नवीन कर्मों का बन्धन करता चला जाता है जो आत्मा के लिये महा अनिष्ट का कारण बनता है। जिन्दगी के इस छोटे से काल भी मानव इसी प्रकार आत्मा का हित न सोचता हुआ अनेकानेक अगले जन्मों के लिये दुःख एवं कष्ट का सामान तैयार कर लेता है।

एक कवि ने जीवन की अल्पता और उस अल्पकाल में भी मनुष्य की बेपरवाही के विषय में बताते हुए कहा है—

शतहि वर्ष की आयु, रात में बीतते आधे ।

ताके आधे-आध वृद्ध बालकपन साथे ॥

रहे यहै दिन, आधि-व्याधि गृहकाज समोये ।  
 नानाविधि बकवाद करत, सबदिन को खोये ॥  
 जल की तरंग सदृश, वेह खेह ह्वै जात है ।  
 सुख कहो कहाँ इन नरन को, जासों फूलत गात है ।

आज व्यक्तियों को धर्म-ध्यान करने के लिये अथवा तप-त्याग अपनाने के लिये कहा जाता है तो वे कह देते हैं अभी तो बहुत उम्र बाकी है, फिर कर लेंगे । किन्तु कवि कहता है कि मनुष्य को जीवन में आखिर समय मिलता ही कितना है ?

यद्यपि आज मुश्किल से ही कोई सौ वर्ष की उमर तक जीता है, अगर हम उम्र को सौ वर्ष की मान लें तो उस हिसाब से सौ के आधे अर्थात् पचास वर्ष तो रात्रि को सोने में व्यतीत हो जाते हैं । बचे पचास, उनमें से साढ़े बारह वर्ष बचपन के और साढ़े बारह वर्ष वृद्धावस्था के व्यर्थ जाते हैं । क्योंकि बाल्यकाल में बालक आत्मा के महत्व को नहीं समझता तथा लोक-परलोक, पाप-पुण्य एवं स्वर्ग-नरक आदि के विषय में गम्भीरता से नहीं सोच सकता और वृद्धावस्था में इन सबके विषय में ज्ञान होने पर भी अशक्ति के कारण आत्मकल्याण के लिये साधना नहीं कर सकता ।

तो पचास वर्ष रात्रि के साढ़े बारह वर्ष बचपन के और साढ़े बारह वर्ष वृद्धावस्था के निकाल देने के पश्चात् अगर आयु को सौ बरस मानते हैं तो केवल पच्चीस वर्ष बाकी रह जाते हैं । इन पच्चीस वर्षों में भी क्या व्यक्ति आत्म-कल्याण के लिये कुछ करता है ? नहीं । वह अपनी युवावस्था में धमण्ड के मारे जमीन पर पाँव नहीं रखता । अपने परिवार का, धन का, रूप का और शक्ति का गर्व हृदय में भरे हुए, बात-बात में लोगों से उलझता है, नाना प्रकार के बहानों को लेकर औरों से झगड़ता है और इनसे समय बचा तो आधि-व्याधि या उपाधियों से जूझता रहता है । परिणाम यह होता है कि यह मानव-जीवन जिसप्रकार जल की तरंग आती है और चली जाती है, उसी प्रकार क्षण-क्षण करके समाप्त हो जाता है । फिर बताइये कि मानव अपने जीवन से क्या लाभ उठाता है और किस बात का गर्व करता है ? कुछ भी तो उसके पास गर्व करने लायक नहीं है । समस्त सांसारिक वैभव तो अस्थिर है ही, शरीर भी क्षणभंगुर है जो कि देखते-देखते ही नष्ट होकर खाक में मिल जाता है ।

इसीलिये कवि सुन्दरदास जी कहते हैं—

संत सवा उपदेश बतावत,  
 केश सबं सिर श्वेत भये हैं ।  
 तू ममता अजहूँ नहिँ छाड़त,  
 मौतहु आइ संवेश घये हैं ॥

आजु कि काल चले उठि मूरख,  
तेरे ही देखत केते गये हैं ।  
सुन्दर क्यों नाहि राम संभारत,  
या जग में कहू कौन रहे हैं ।

संत-महापुरुष जगत के प्रत्येक व्यक्ति को चेतावनी देते हुए कहते हैं—“भोले प्राणी ! तू जीवन भर सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहा, नाना प्रकार के भौतिक पदार्थों को जुटाने में लगा रहा तथा अपने परिवार के व्यक्तियों और स्वजनों के मोह में पड़ा हुआ अनेकानेक कुकर्म कर चुका । यहाँ तक कि अब तो तेरे सिर के सम्पूर्ण केश भी ध्वेत हो चुके हैं, किन्तु अब तक भी तू इन सबके प्रति रही हुई आसक्ति एवं ममता का त्याग नहीं करता ।”

“ओ मूर्ख! यह तो ध्यान में रख कि मौत ने तुझे अनेकों संदेश भेज दिये हैं । यानी वृद्धावस्था के कारण तेरा शरीर शिथिल हो गया है, गात्र संकुचित हो गया है, कान बहरे हो चुके हैं और दाँत टूट गए हैं । बाल भी सफेद हो चुके हैं तथा नेत्रों से बराबर दिखाई नहीं देता । फिर भी तू सावधान नहीं होता, जबकि तेरे समक्ष ही असंख्य व्यक्ति इस पृथ्वी पर से उठ चुके हैं । निश्चय ही तू भी यहाँ नहीं रहेगा, क्योंकि इस जगत में कोई भी स्थायी नहीं रहता । फिर भाई कम से कम अब तो तू ईश-चिन्तन कर और धर्मध्यान में मन लगा ।”

वस्तुतः जिन भोगभोगों के साधनों को जुटाने के लिये मनुष्य दिन-रात दौड़-धूप करता है और जिनकी प्राप्ति के लिये अधिक श्रम करता रहता है, वे क्या स्थायी रहने वाले हैं ? नहीं । भले ही मानव अपने अमूल्य जन्म को इस प्रकार वृथा गँवाकर भी उसे सफल समझता है पर देखा जाय तो वह क्षण-क्षण करके निरर्थक ही जाता है ।

एक मराठी कवि ने भी जीवन के सम्बन्ध में कहा है—

घटका गेली, पलें गेली, तास बाजे झणाणा,  
आयुष्याचा नाश होतो, राम कां हो म्हणाणा ?  
एक प्रहर, दोन प्रहर, तीन प्रहर गेले,  
प्रयंत्राच्या व्यापाने चार ही प्रहर गेले ॥

हिन्दी के कवि ने जो बात कही है, वही बात मराठी कवि भी कह रहा है कि पल जाता है, घड़ी जाती है और घड़ी में टिकोरे लगते हुए दिन-रात व्यतीत होते जाते हैं । इस प्रकार एक-एक पल, घटिका और प्रहर, दो प्रहर तथा तीन प्रहर व्यतीत होते हुए आयुष्य बीतता चल जाता है ।

यह बताते हुए कवि कहता है—“अरे प्राणी ! तू सांसारिक प्रपंचों में दिन के और रात्रि के चारों प्रहर व्यतीत कर देता है, फिर राम का यानी भगवान का भजन कब करेगा ?”

वस्तुतः यह शरीर तो प्रतिपल जीर्ण होता चला जाता है, पर मनुष्य इस बात की परवाह नहीं करता और इसके द्वारा कोई लाम नहीं उठाता । जब तक वह स्वस्थ रहता है, तब तक तो अपने रूप के, धन के या परिवार के घमण्ड में भूला रहता है तथा भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति के लिये भाग-दौड़ करता है और जब उसी शरीर को रोग घेर लेते हैं तो हाय-हाय करता हुआ अपने कर्मों को और भगवान को कोसता रहता है ।

किन्तु जो भव्य प्राणी अपने जीवन का महत्त्व समझ लेते हैं वे जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाते और निरंतर आत्मोन्नति में लगे रहते हैं । वे स्वस्थ रहते हैं तब भी अपनी आत्मा के लाम का प्रयत्न करते हैं और रोगों का आक्रमण हो जाने पर भी ‘रोग परिषह’ पर विजय प्राप्त करते हुए अपना सम्पूर्ण ध्यान आत्मा का कष्ट मिटाने की ओर लगाये रहते हैं ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार के विषय में आपने पढ़ा और सुना होगा कि वे अद्वितीय सौन्दर्य के धनी थे । स्वर्ग के देवता भी उनके सौन्दर्य का अवलोकन करने की आकांक्षा रखते थे ।

एक बार एक देव दीन-दरिद्र ब्राह्मण का रूप धारण करके सनत्कुमार महाराज के सौन्दर्य-दर्शन की लालसा से आया । वह प्रातःकाल महल के द्वार पर पहुँचा और प्रहरियों से महाराज के दर्शन की इच्छा प्रकट की । द्वारपालों ने उसे रोका और कुछ समय पश्चात् राज्य-दरबार के समय उपस्थित होकर महाराज से मिलने की सलाह दी । ब्राह्मण माना नहीं और उसने कहा—“मैं बड़ी दूर से आया हूँ, यहाँ तक कि पैरों की जूतियाँ भी मेरी फट गई हैं । कृपया तुम महाराज से यही बात जाकर कहो ताकि वे मुझे अविलम्ब दर्शन दें । मुझे विश्वास है कि वे मेरी प्रार्थना टुकराएँगे नहीं ।”

द्वारपाल ब्राह्मण की उत्कट इच्छा जानकर महाराज के पास गया और उन्हें ब्राह्मण की सारी बात कह सुनाई । चक्रवर्ती सनत्कुमार बड़े दयालु थे । उन्होंने दया करके ब्राह्मण को अपने पास आने की इजाजत दे दी ।

द्वारपालों के कथनानुसार ब्राह्मण हर्षित होता हुआ राजमहल में पहुँचा । ज्योंही वह महाराज के समक्ष पहुँचा, उसकी आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो गईं । अत्यन्त चकित और गद्गद् होकर वह बोल उठा—

“अहो ! कैसा अद्वितीय रूप है ! मैंने जैसा सुना था उससे भी अधिक सौन्दर्य है आपका । मैं धन्य हो गया आपकी शरीर सम्पदा देखकर ।”

अपने सौन्दर्य की ऐसी प्रशंसा सुनकर महाराज सनत्कुमार तनिक गर्व से भर गये और बोले—“द्विज, श्रेष्ठ ! अभी तुमने मेरा सौन्दर्य अच्छी तरह और पूर्ण रूप से कहाँ देखा है ? इस समय तो मैं स्नान आदि नित्य कार्यों के लिए जा रहा हूँ अतः वस्त्राभरण से रहित हूँ । अगर तुम्हें मेरा रूप देखना है तो जब मैं वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर दरबार में आऊँ तब देखना ।”

“जो आज्ञा !” कहकर ब्राह्मण पुनः राज्य दरबार में पहुँचने का निश्चय करके राजमहल से बाहर आ गया ।

अपने निश्चय के अनुसार वह नियत समय पर दरबार में पहुँचा और एक स्थान पर बैठकर सनत्कुमार का सौन्दर्य-पान करता रहा ।

कुछ समय पश्चात् जब राजा की निगाह उस पर पड़ी तो उन्होंने ब्राह्मण को अपने पास बुलाया और पूछा—“ब्राह्मण देवता ! अब बताओ कि मेरा सौन्दर्य तुम्हें कैसा लगा ?”

“महाराज ! अब तो वह बात नहीं रही ।” ब्राह्मण के यह वचन सुनकर चक्रवर्ती सनत्कुमार मानों आकाश से गिर पड़े । महा विस्मय से उन्होंने पूछा—“यह क्या कह रहे हो ? अब तो मेरे रूप में चार चाँद लग गये हैं और तुम कह रहे हो, वह बात नहीं रही ? इसका क्या प्रमाण है ?”

ब्राह्मण बोला—“महाराज आप तनिक समीप रखी हुई इस पीकदानी में धूकिये ।”

सनत्कुमार जी ने वैसा ही किया । पर धूकने के पश्चात् देखते क्या है कि उनके धूक में सँकड़ों कीड़े बिलबिला रहे हैं । वह इस कारण कि उनके शरीर में सोलहों रोग हो गये थे । शरीर की ऐसी स्थिति देखकर महाराज को विरक्ति हो गई और उन्होंने संयम ग्रहण कर लिया । किन्तु रोगों ने उसके पश्चात् भी उनका पिंड नहीं छोड़ा । पर वे सच्चे मुनि थे अतः बिना उनकी परवाह किये निरन्तर साधना मार्ग पर अग्रसर होते रहे । ‘रोग परिषह’ पर उन्होंने पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली थी ।

यहाँ तक कि उनकी दृढ़ता की परीक्षा स्वयं देवता ने आकर कई बार ली । एक बार देव वैद्य का रूप बनाकर उनके पास आया और बोला—“महाराज ! अगर आप मेरी दवा लें तो मैं आपकी बीमारियाँ ठीक कर दूँगा ।”

पर धन्य थे सनत्कुमार मुनि, जिन्होंने उत्तर दिया—“वैद्यजी ! आप शरीर का रोग ठीक कर देंगे, किन्तु कर्म रूपी रोगों को भी नष्ट कर सकेंगे क्या ? शरीर तो

वैसे भी नष्ट होने वाला है अतः उसकी चिन्ता करने से क्या लाभ है ? मैं तो कर्म-रूपी रोगों का सम्पूर्ण रूप से नाश करना चाहता हूँ और उसी में जुटा हुआ हूँ । इसलिए शरीर के इन रोगों के उपचार में अपने जीवन के अमूल्य क्षण व्यर्थ जाने देना नहीं चाहता ।”

इस प्रकार ‘रोग-परिषह’ को जीतते हुए मुनि सनत्कुमार अपनी साधना को उत्कर्ष की ओर बढ़ाते रहे । यद्यपि उनकी शारीरिक स्थिति अत्यन्त खराब थी । विचरण करना कठिन होता था, क्योंकि पैरों में घाव ही घाव हो गये थे । किन्तु उनकी ओर से वे पूर्णतया लापरवाह थे । देव ने उस समय भी भोची का रूप बनाकर उन्हें कसौटी पर कसने की इच्छा से आकर कहा—“महाराज ! आपके पैरों में बहुत घाव हो चुके हैं अतः आप कहें तो मैं पदत्राण आपके लिए तैयार कर दूँ ।”

पर मुनिश्रेष्ठ कब इसके लिए तैयार होने वाले थे ? उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया । कहने का अभिप्राय यही है कि मुनिधर्म का सच्चे मायनों में पालन करने वाले महामुनि सनत्कुमार जी अनेक रोगों के शरीर में विद्यमान रहते हुए भी बिना उनसे रंचमात्र भी विचलित हुए अपनी आत्म-साधना में लगे रहे और अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हुए । इसे ही ‘रोग-परिषह’ विजय कहते हैं ।

भगवान का आदेश भी यही है—

तेगिन्छं नाभिनंदेज्जा, संचिकखऽत्तगवेसए ।

एवं खु तस्स सामणं, जं न कुज्जा न कारवे ॥

उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २, गा० ३३

अर्थात् आत्मा की गवेषणा करने वाला साधु रोगादि की चिकित्सा का कभी अनुमोदन न करे अपितु समाधि में रहता हुआ किसी औषधि के द्वारा न तो स्वयं उसके प्रतिकार करने का प्रयत्न करे और न दूसरों से करावे । इसी में उसकी साधुता की महत्ता है ।

आशय यही है कि रोगों को पूर्वकृत कर्मों का फल समझकर साधु पूर्ण समभाव पूर्वक उनके द्वारा पैदा हुई वेदना को सहन करे तथा उन्हें भोग लेने में आत्मा का कल्याण यानी कर्मों की निर्जरा समझे । अत्यन्त धैर्य एवं दृढ़ता पूर्वक रोग-जनित वेदना को सहन करने पर ही साधु सच्चा श्रमण कहला सकता है ।

एक बात और ध्यान में रखने की है कि भले ही साधु स्वयं चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञाता हो तथा रोग-निवारण की क्षमता रखता हो, किन्तु उस स्थिति में भी वह अपनी चिकित्सा स्वयं न करे और न ही औरों से कराने का प्रयत्न करे यानी अपनी अनुमति ही न दे ।

बन्धुओ ! यहाँ आपको शंका होगी और आपके हृदय में यह विचार उठेगा कि आखिर संत-साध्वी अपना इलाज तो कराते ही हैं । वे शास्त्रोक्त निषेध का पालन कहीं करते हैं ?

इस विषय में आप गम्भीरता पूर्वक समझें कि भगवान महावीर की आज्ञा-नुसार शास्त्रकारों ने रोगादि की भयानक स्थिति में साधु के लिए जो उपचार का निषेध किया है, वह उत्सर्ग मार्ग है और सिर्फ जिनकल्पी श्रमण की अपेक्षा से प्रतिपादित किया गया है ।

अपवाद मार्ग में तो स्थविरकल्पी साधु के लिए उपचार एवं औषधि का निषेध नहीं है । उसकी चिकित्सा के लिए निरवद्य औषधि का प्रयोग किया जा सकता है । लोक व्यवहार की दृष्टि से भी यह अनुचित नहीं है । क्योंकि अगर एक संत किसी विशेष प्रकार की व्याधि से पीड़ित है और उससे उसकी साधना में बाधा पड़ती है तो उपचार करना चाहिए । न करने पर लोग कहते हैं कि जैन अहिंसक होते हैं, किन्तु साधु को व्याधि से पीड़ित देखकर भी उसका उपचार न करके कितनी निर्दयता, क्रूरता या हिंसा का प्रमाण दे रहे हैं ? इस प्रकार रोग-पीड़ित साधु की निरवद्य औषधि द्वारा भी चिकित्सा न करने पर निन्दा होती है तथा जैन समाज आलोचना का पात्र बनता है ।

फिर भी साधु को चाहिए कि वह अपने शरीर में पैदा हुए रोगों के लिए किंचित् मात्र भी चिन्ता न करे, उनके तुरन्त निवारण की अपेक्षा न करे, शांति एवं समता पूर्वक उन्हें सहन तथा परिणामों में तनिक भी विषमता या आर्त-ध्यान न आने दे । साथ ही वह रोग-निवारण के लिये औषधि की अपेक्षा आत्म-बल पर अधिक विश्वास रखे तथा उसके द्वारा ही स्वस्थता का इच्छुक बना रहे । पर औषधि अगर लेनी पड़े तो अपने नियमों का कड़ाई से पालन करते हुए लेवे । यह नहीं कि डॉक्टर या वैद्य ने कहा कि रात्रि के समय दवा लेनी पड़ेगी तो साधु तैयार हो जाय । साधु के लिये जीवन पर्यन्त का रात्रि को आहार-पानी आदि का त्याग होता है अतः आत्मार्थी मुनि इसके लिये स्पष्ट इन्कार करे ।

एक बार घाटकोपर बम्बई में मुनि मोतीश्रद्धि जी की तबियत रात्रि में बहुत खराब हो गई । संघ के अध्यक्ष हरिमाई रात में डॉक्टर को लाये और बोले—“महाराज को इन्जेक्शन लगा दीजिये ।”

हमने इसके लिये स्पष्ट इन्कार कर दिया कि—“हमारे यहाँ रात्रि को यह सब नहीं हो सकता ।”

डॉक्टर ने भी बहुत जोर देकर कहा—“अगर इन्हें इन्जेक्शन अभी नहीं दिया जाएगा तो संभव है लकवा हो जाय और ये समाप्त हो जायँ ।”



पर बंधुओ, हम किस प्रकार यह स्वीकार कर सकते थे । इन्जेक्शन नहीं दिया गया और फिर भी वे धीरे-धीरे स्वस्थ हो गये । हमने अजमेर की ओर विहार कर दिया तो वे मार्ग में आकर मिल गये ।

इसी प्रकार जैसे रात्रि में औषधि, जल या अन्य कोई भी वस्तु नहीं ली जाती है, उसी प्रकार संचित वस्तु का उपयोग साधु के लिये नहीं हो सकता । यथा—किसी वैद्य ने कह दिया—“अमुक झाड़ की ताजी पत्तियों का रस ले लो ।” तो क्या बह लिया जाएगा ? नहीं, साधु संचित वस्तुओं का प्रयोग कभी नहीं करने देगा ।

अभिप्राय यही है कि जो साधु इन सब बातों का ध्यान रखते हुए औषधि का अत्यल्प प्रयोग करते हैं तथा पूर्ण समतापूर्वक रोग-जन्य वेदना को सहन करते हैं वे ही 'रोग परिषह' पर विजय प्राप्त करते हुए आत्म-कल्याण कर सकते हैं ।

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों में चौबीसवां भेद 'रोग परिषह' आया है। इसके विषय में श्री उत्तराध्यायन सूत्र के दूसरे अध्याय में बत्तीस एवं तेतीसवीं गाथा के द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है।

भगवान महावीर की चेतावनी है—“हे मुने ! शरीर में रोग की उत्पत्ति होने के बाद उसकी वेदना से होने वाले दुःख से पीड़ित होकर भी तुम अपनी बुद्धि को स्थिर रखो, तनिक भी हृदय में दीनता मत आने दो अन्यथा मन विचलित हो जाएगा और संवर मार्ग से हटकर आश्रव की ओर बढ़ेगा। संयम-पथ में नियमों का पालन करते हुए अगर रोगों का आक्रमण हुआ तो उन्हें समतापूर्वक सहन करो तथा साधु-मर्यादा में रहकर चिकित्सा कराओ। अगर तुमने चिकित्सा के लिए निर्वेद्य औषधि का त्याग करके सच्चित्त का उपयोग किया तथा किसी प्रकार का दोष साधु-आचरण में आने दिया तो साधत्व कलंकित हो जायेगा।”

सारंश यही है कि बीमारी का इलाज भी किया जाय तो साधु-मर्यादा के अनुकूल होना चाहिए। अगर ऐसा न हो सके तो पूर्ण समभाव से सहन करना चाहिए। शरीर जहाँ है वहाँ रोगों का उत्पन्न होना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात उन्हें समतापूर्वक सहन करने की है और अपनी मर्यादा में रहकर ही उसका उपचार करवाने की है।

भाइयो ! यह विषय हमने कल लिया था और 'रोग परिषह' के विषय में विचार-विमर्श भी किया था।

आज तो मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि मनुष्य-शरीर के समान ही समाज रूपी शरीर भी होता है। तथा जिस प्रकार यह शरीर रोगों से पीड़ित होता है, इसी प्रकार समाज-रूपी शरीर भी अनेक रोगों से पीड़ित होता है।

**समाज के रोग**

आप विचार करेंगे कि समाज को कौन से रोग होते हैं ? उसे न बुखार

आता है, न पेट-दर्द होता है और न ही निमोनिया या हृदय रोग ही कष्ट पहुँचता है। आपका विचार सही है, पर समाज भी रोगों से पीड़ित अवश्य होता है। हमारे शरीर के जैसे रोग उसे भले ही नहीं होते किन्तु उसको अन्य विभिन्न प्रकार के रोग पीड़ित करते हैं। जैसे—दहेज प्रथा, फिजूलखर्चों, रिश्वतखोरी, मानव की मानव से ईर्ष्या, जलन और शत्रुता तथा असंगठितता।

समाज का सबसे बड़ा रोग असंगठन है। इस रोग से पीड़ित होने के कारण व्यक्ति, व्यक्ति से ईर्ष्या करता है, घृणा करता है, तथा एक-दूसरे की बढ़ती की स्वीकार नहीं कर सकता। असंगठन के कारण ही समाज की तरक्की नहीं होती, उसमें अच्छाईयाँ नहीं ठहरने पाती और वह सुख शान्ति से पूर्ण समृद्धता को प्राप्त नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में समाज रूपी शरीर स्वस्थ नहीं रह पाता। हम अपने इस नश्वर शरीर को स्वस्थ रखने के लिए तो नाना प्रकार की औषधियाँ लेते हैं, किन्तु समाज रूपी शरीर को नीरोग बनाने के लिए इसमें रही हुई बुराईयाँ रूपी बीमारियाँ ठीक करने का प्रयत्न नहीं करते। इस प्रकार कैसे काम चल सकता है ?

जिस प्रकार मनुष्य का शरीर स्वस्थ रहे तो वह आत्म-कल्याण का प्रयत्न करता है और धर्मादायक कर सकता है, इसी प्रकार समाज रूपी शरीर स्वस्थ रहे तो उसमें धर्म टिकता है अन्यथा व्यक्ति धन को लेकर आपस में ईर्ष्या-द्वेष करते हैं, मकान और जमीन के लिए झगड़ते हैं, दहेज की कुप्रथा के-कारण एक-दूसरे को कोसते हैं तथा और तो और अपने धर्म एवं सम्प्रदाय को लेकर भी खून-खच्चर करने से बाज नहीं आते। समाज रूपी शरीर की अस्वस्थता के कारण ही हमारी नई पीढ़ी के बालक-बालिकाएँ अनुशासनहीन, उच्छ्रंखल एवं उदंड हो रहे हैं। इसी का प्रमाण स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षाधियों की हड़तालें, माँगें एवं अतीव अव्यवस्था है। आज छात्रों में विनय का तो नामोनिशान ही नहीं रह गया है, वे अपने शिक्षकों को और आचार्यों को गाली-गलौज देकर ही सन्तुष्ट नहीं होते, उन्हें मारते हैं और कई बार तो सुनने में आता है कि अध्यापकों या प्रोफेसरों की छाती में छुरे भी घोंप देते हैं।

इन सबका क्या कारण है ? केवल सभ्यता और हमारी धर्ममय पुनीत संस्कृति की कमी। इसी वजह से आज उन गुरुओं को शिष्य प्रताड़ित करते हैं जिन्हें हमारी संस्कृति और धर्म भगवान में भी बढ़कर मानते हैं। यह इसलिए कि मुमुक्षु गुरु के बिना धर्म-मार्ग को नहीं समझ सकता तथा उनकी सहायता के बिना भगवान को भी नहीं पा सकता।

पुराणों में गुरु की महिमा बताते हुए कहा गया है—

न बिना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः ।

नर्ते गुरुपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥

—आदिपुराण ६।१७५

अर्थात्—जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार गुरु के मार्ग-दर्शन के बिना संसार-सागर से पार पाना बहुत कठिन है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि समाज में आज जो अव्यवस्था बनी हुई है और अशांति एवं अनुशासनहीनता का साम्राज्य फैला हुआ है, उसका कारण समाज का रोग-पीड़ित होना ही है । अतः आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि समाज को रोग-मुक्त करने के लिए संगठन रूपी औषधि लेनी चाहिए । इस औषधि को लेने पर ही समाज टिक सकेगा और उसका शरीर निरोग बनेगा ।

आज समाज के नेता और विचारक सम्मेलन करते हैं, प्रस्ताव पारित किये जाते हैं तथा वाद-विवाद और बहसें होती हैं, किन्तु केवल इतना करने से क्या हो सकता है ?

मान लीजिए एक रोगी डॉक्टर के पास जाता है और उन्हें अपने पेट-दर्द के विषय में, बुखार के बारे में या अन्य सभी रोगों के विषय में विस्तारपूर्वक बता देता है । डॉक्टर भी मरीज के समस्त रोगों पर पूर्ण विचार करके अत्युत्तम औषधियाँ लिखकर नुसखा उसे दे देता है । किन्तु मरीज उसे अपने घर ले जाता है और दिन में अनेक बार उस नुसखे को पढ़ता है तथा औषधियों की उत्तमता की सराहना करता है किन्तु क्या ऐसा करने से उसकी बीमारियाँ ठीक हो सकती हैं ? नहीं । रोटी-रोटी के नारे लगाने से पेट नहीं भरता जब तक पेट में अन्न नहीं डाला जाता ।

इसी प्रकार विचारकों के विचार करने और वाद-विवाद करने से समाज की समस्याएँ सुलझ नहीं सकतीं, न ही उसमें व्यवस्था या अनुशासन स्थापित हो सकता है । इसके लिए तो क्रियात्मक कार्य करना पड़ेगा । रोटी-रोटी करने से पेट नहीं भरता और पानी-पानी कहने से प्यास नहीं मिटती, इसी तरह संगठन-संगठन के नारे लगाने से संगठन भी नहीं हो सकता । इसके लिए क्रियात्मक कार्य करना पड़ेगा और तभी समाजरूपी शरीर के सम्पूर्ण अवयव स्वस्थ हो सकेंगे । किन्तु क्या किया जाय ?

**“माली बिना बाग भा बगड़ी जाय ।”**

गुजराती भाषा के एक भजन में कहा गया है—माली के न होने से बगीचा बिगड़ जाता है । बात सही है । हम जानते हैं और देखते हैं कि अच्छे बगीचों में उनके माली दिन-रात परिश्रम करते हैं । वे नए-नए पौधे लगाते हैं, पुरानों को हटाते हैं, घास-फूस को साफ करते रहते हैं तथा आवश्यकतानुसार पौधों की काट-छांट भी कैंची के द्वारा करते हैं । इतना श्रम करने पर बगीचा फलता-फूलता है तथा लोगों के आकर्षण एवं मनोरंजन का केन्द्र बनता है ।

समाज भी एक विशाल बगीचा है और इसके सभी सदस्य एक-एक पेड़ के रूप में हैं; किन्तु समाज रूपी इस बगीचे का एक भी पेड़ या पौधा क्या निर्दोष और सुन्दर

है ? नहीं, सभी में कुछ न कुछ नुस्स पाया जाता है। कोई अज्ञान से व्याप्त है, कोई प्रमाद से पीड़ित है, कोई धनाभाव को रोता है, कोई ईर्ष्या-द्वेष का शिकार है और कोई धर्मान्धता के विष से मतवाला है। कहीं तक गिनाया जाय, आज के युग में हमारा समाज अनेकानेक बुराइयों का और कमियों का घर बनकर रह गया है। न कोई किसी की सुनता है और न ही दूसरे की सहायता करता है। बस—'अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग।' यही कहावत चरितार्थ हो रही है।

पर ऐसा होना नहीं चाहिए। व्यक्ति अगर अपने सुख और दुःख के विषय में विचार करता है तो उसे दूसरे के सुख और दुःख का भी ध्यान रखना चाहिए। आज समाज की स्थिति देखकर मेरा अन्तःकरण बहुत ही क्षुब्ध होता है, लगता है किस प्रकार इसका कल्याण होगा, किस प्रकार यह अपने सुन्दर संस्कारों को पुनर्जीवित करेगा और किस प्रकार इसमें नीति और धर्म का ठहराव होगा ?

सबसे बड़ी बात यह है कि आज के समाज में जिसके पास बुद्धि है, बल है तथा कुछ करने की क्षमता है वे इसके सुधार का प्रयत्न करते नहीं हैं और जो करना चाहते हैं उनके पास ताकत नहीं है। सन्त केवल मार्ग-दर्शन कर सकते हैं, किसी को जबर्दस्ती उस पर चला नहीं सकते। किन्तु आपके पास सामाजिक शक्ति है, आप सही मार्ग पर न चलने वालों को सामाजिक तौर पर किसी न किसी प्रकार से दंडित भी कर सकते हैं पर यह प्रयत्न करने पर ही तो किया जा सकता है। हम देखते हैं कि जिनके पास आज धन है वे ब्याह-जादी में लाखों रुपया लगाते हैं और पैसे का बड़ा भारी हिस्सा केवल अपने बड़प्पन का प्रदर्शन करने के लिए भी व्यर्थ खर्च कर देते हैं। और इसका परिणाम यह होता है कि साधारण स्थिति वाले व्यक्तियों को घर-द्वार बेचकर भी बच्चे-बच्चियों का ब्याह करना पड़ता है, और उस पर भी कृपणता का कलंक मस्तक पर लगाना पड़ जाता है।

इसका कारण क्या है ? यही कि समाज के व्यक्तियों में सुधार की भावना नहीं है, कोई बन्धन नहीं है और कोई विधान भी नहीं है। इसलिए बन्धुओ, आप लोगों का कर्तव्य है कि आप एकत्रित होकर ऐसी व्यवस्था करें, ऐसे नियम बनायें कि जिनके द्वारा सभी का हित हो और सभी निश्चितता की सांस ले सकें। यही नीति का मार्ग है और धर्म का भी। धर्म और नीति पर चलने वाले व्यक्ति इस जीवन में भी शान्ति प्राप्त करते हैं और मृत्यु के पश्चात् भी अमर होकर लोगों के दिलों पर राज्य करते हैं। एक उदाहरण से मैं इस बात को आपके सामने रखता हूँ।

### बादशाह और बुढ़िया

ईरान में नौशेरवाँ नामक एक बादशाह हुआ था। वह बड़ा न्यायी और नीतिवान था। अपनी प्रजा को वह संतानवत् चाहता था तथा उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता था।

एक बार उसने अपने लिये एक विशाल महल बनवाने का विचार किया। इस विचार को क्रियान्वित करने पर भालूम हुआ कि जिस विशाल भूमि पर महल बनने जा रहा है, उसमें अनेकों व्यक्तियों के मकान हैं। यह जानकर बादशाह ने हुकम दिया कि महल जहाँ बनने जा रहा है, वहाँ जिन-जिन व्यक्तियों के मकान हैं, उन सभी प्रजाजनों को मुंहमांगे दाम दो, जिन्हें दूसरे मकान चाहिये, मकान दो, जो जमीन लेना चाहें दुगुनी-चौगुनी जमीन देकर संतुष्ट करो। आशय यह कि किसी को भी दुखी या असंतुष्ट मत होने दो तथा उनके मकानों के बदले में इतना कुछ दो कि वे परम प्रसन्नता पूर्वक अपने मकान, महल बनाने के लिये दे सकें।

बादशाह के हुकम का यथाविधि पालन हुआ और लोगों ने मुंहमांगा धन, जमीन या अन्य मकान लेकर सहर्ष अपने मकान छोड़ दिये। किन्तु एक बुद्धिया अपनी झोंपड़ी छोड़ने के लिये तैयार नहीं हुई।

जब बादशाह को इस बात का पता लगा तो वे स्वयं उस वृद्धा के पास आए और बड़ी नम्रता तथा प्रेमपूर्वक बोले—“माँजी! महल बनाने में तुम्हारी झोंपड़ी से बाधा पड़ती है अतः तुम भी और लोगों के समान जितना भी चाहो धन ले लो या अन्य स्थान पर जमीन या मकान, जो भी इच्छा हो माँग लो। मैं तुम्हें तनिक भी अप्रसन्न नहीं करना चाहता, तुम्हारी प्रसन्नता से तुम्हारे पसंद की वस्तु देकर ही यह झोंपड़ी लेना चाहता हूँ।”

पर बुद्धिया बड़े अजीब और कर्कश स्वभाव की थी। उसने बादशाह का लिहाज नहीं किया और मंहतोड़ उत्तर दे दिया—“मैं किसी भी कीमत पर अपनी झोंपड़ी तुम्हारा राजमहल बनवाने के लिए नहीं दूँगी। यह मेरी जमीन है अतः तुम्हें नहीं मिलेगी। तुम राजमहल बनवाओ, चाहे मत बनवाओ।”

बादशाह यह सुनकर बोले—“वृद्धा माँ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो करो। तुम नहीं देना चाहती हो तो मैं जबर्दस्ती तुम्हारी झोंपड़ी अपना महल बनवाने के लिये नहीं लूँगा।” यह कहकर वे चले गये और अपने कर्मचारियों से बोले—“बुद्धिया की झोंपड़ी को यथास्थान खड़ी रहने दो, भले ही महल कुछ टेढ़ा बने कोई बात नहीं।” यही हुआ भी। नौशेरवाँ का महल बुद्धिया की झोंपड़ी के कारण उस स्थान पर टेढ़ा ही बना।

बन्धुओ! अगर अंज का युग होता तो कोई बादशाह, राजा या सरकार ही सही, किसी बुद्धिया की ऐसी गुस्ताखी बर्दाश्त करता? नहीं, कुछ मिनटों में ही बूढ़ी को झोंपड़ी से निकाल कर बाहर कर दिया जाता। किन्तु नौशेरवाँ सच्चा मानव था, न्यायी था, नीतिवान था और सफल शासक था। अतः उसने बुद्धिया को भी एक

इन्सान के नाते कष्ट नहीं दिया । अपना राजमहल भले ही टेढ़ा-मेढ़ा बनवा लिया । इस पर फारसी भाषा में एक कवि कहता है—

बरनामवर बजेरे जमीं दफन करदां अन्त,  
कदहस्तिये जमीं पर न शान मार ।  
आखिर नाशाला कि सुपर जेरे दंद खाक,  
खाकश च्चनावो खुर्द करो-खुश्नानावोखा ॥

बादशाह नौशेरवान कीर्तिवान, यशस्वी तथा नेकी के रास्ते-पर चलने वाला था । पर मरने के बाद उसे भी जमीन में गढ़ना पड़ा, कोई नामो-निशान उसका बाकी नहीं रहा । इसी प्रकार वह बुढ़िया जिसने राजमहल के लिये जमीन नहीं दी और इतिहास में अपना नाम काले अक्षरों में लिखवाया, क्या वह इस संसार में जिन्दा रह गई ? नहीं । उसे भी मरना पड़ा । यानी बादशाह और वह वृद्धा, दोनों ही जमीन में दफन हुए । फिर जीवित कौन है ? जिसने अच्छा काम किया और लोग श्रद्धा या प्रशंसापूर्वक जिसका नाम लेते हों ।

दर्शो बीत गये किन्तु नौशेरवाँ बादशाह आज भी जीवित है, क्योंकि लोग उसे सम्मानपूर्वक एक नीतिवान तथा न्यायी के रूप में स्मरण करते हैं । वस्तुतः उसी मनुष्य का जीवन सार्थक है जो अपने जीवन काल में उत्तम कार्य करते हैं तथा उत्तम गुणों को अपनाकर अपना मानव-जन्म सार्थक कर लेते हैं ।

बन्धुओं, हम सबने भी इस पृथ्वी पर जन्म लिया है, और जन्म लिया है तो एक दिन मरना भी अवश्य पड़ेगा । तो क्या हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जिससे हमें मरने के बाद भी लोग याद करें । प्रश्न होता है कि वे कार्य क्या हो सकते हैं जिनके करने से लोग मरने के बाद भी याद करते हैं ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अगर व्यक्ति समाज के प्रत्येक सदस्य के प्रति समवेदना और सहानुभूति रखते हुए एक-दूसरे को सहयोग दे, प्रत्येक अभावग्रस्त व्यक्ति के अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करे, पीड़ित व्यक्ति की सेवा करने में कभी पीछे न रहे तथा सामाजिक कुरीतियों को, कुप्रथाओं को और साम्प्रदायिक विष को निर्मूल करने का प्रयत्न करे । ऐसा करने पर ही समाज में सहृदयता का फैलाव होगा तथा धर्म टिक सकेगा ।

ध्यान में रखने की बात है कि व्यक्ति व्यवहार जगत में इन सब कार्यों को करते हुए अपनी आत्मा के कल्याण को भी न भूले । समाज और देश का भला करने के साथ-साथ वह अपनी आत्मा के भले को भी न भूले । हमारी आत्मा भी तो अनन्त काल के कर्मों के चक्कर में पड़ी हुई नाना धीनियों में भ्रमण कर रही है और असीम दुःख का अनुभव करती रही है । अतः इसे कर्म-मुक्त करना ही हमारा सर्वोपरि

कर्तव्य है। संक्षेप में, आशय यही है कि स्व और पर का कल्याण करना ही हमारा कर्तव्य और उद्देश्य है। जिसे करने पर हम इस लोक में तो शांति प्राप्त कर ही सकते हैं, परलोक में भी शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकते हैं। जिन महामानवों ने ऐसा किया है वे ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके हैं और संसार में मरकर भी अमर हो गये हैं।

मराठी भाषा में कहा गया है—

“असूनहि जिवंत मेला कोण ? असे जो सदा निरुद्योगी ।  
उत्साह रहित ज्यांचे मन, किंवा जो सदा असे रोगी ॥”

कहते हैं कि जो व्यक्ति सदा निरुद्योगी बना रहता है तथा जिसका मन सदा उत्साहविहीन होता है वह जीवित रहता हुआ भी मृतक के समान है। ऐसा पुरुषार्थ-हीन व्यक्ति न तो स्वयं ही अपनी सहायता कर सकता है और न कोई अन्य व्यक्ति ही उसे सहायता देकर ऊँचा उठा सकता है। पुरुषार्थहीनता का एक उदाहरण आपके समक्ष रखता हूँ।

### पुरुषार्थहीन व्यक्ति

कहते हैं कि एक चोर ने एक बार नगर में किसी के घर चोरी की। किन्तु दुर्भाग्य से लोगों ने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौड़ पड़े।

लोगों को अपने पीछे भागते देखकर चोर घबरा गया और दौड़ते-दौड़ते ज्यों ही एक मन्दिर दिखाई दिया, उसमें घुस गया। मन्दिर एक देवी का था। चोर विह्वल होकर देवी के चरणों में गिर पड़ा और उससे प्रार्थना करने लगा—“मैं अब तुम्हारी शरण में हूँ मुझे बचाओ।”

देवी ने चोर को ऐसी स्थिति में देखा तो बोली—“भाई घबरा मत ! मैं तुझे बचाने की कोशिश करूँगी पर तू इतना कर कि उठकर मन्दिर के किवाड़ अन्दर से बन्द कर ले।”

“देवी ! तुमने कहा सो ठीक है पर मेरे तो मानों घुटने ही टूट गये हैं। मैं कैसे उठकर किवाड़ बन्द करूँ ?”

देवी ने भक्त की यह बात सुनी तो बोली—“अच्छा तुझसे उठा नहीं जाता तो तू इतना करना कि लोग अगर मन्दिर के अन्दर आ जाएँ तो मेरे पीछे रहकर जोर से आवाज ही कर देना।”

चोर बोला—“मुझसे तो यह भी नहीं हो सकता देवी, भय के मारे गला जो बैठ गया है।”



देवी को चोर की बात सुनकर कुछ झुंझलाहट हुई पर अपने आप पर जब्त करती हुई फिर बोली—

“निकम्मे व्यक्ति ! तुझसे तो कुछ भी नहीं होता पर खैर यहीं बैठे-बैठे वे लोग जो तेरे पीछे आ रहे हैं, उनके आने पर अपनी आँखें निकालकर ही उन्हें डराना । बाकी मैं सम्हाल लूँगी ।”

पर चोर फिर घबराकर बोल पड़ा—“देवी माता ! मैं तो यह भी नहीं कर सकूँगा । मेरी आँखें तो पथरा ही गई हैं ।”

अब देवी अपने क्रोध को नहीं रोक सकी और कह, बैठी—“तू मेरे मन्दिर से निकल जा । तेरे जैसे पुरुषार्थहीन की मैं भी कोई सहायता नहीं करूँगी ।”

वस्तुतः जो व्यक्ति पुरुषार्थ से रहित होता है, वह न तो स्वयं ही अपना भला कर पाता है और न ही कोई दूसरा उसकी सहायता करता है । किसी ने सत्य ही कहा है—

“मन के लंगड़े को असंख्य देवता मिलकर भी नहीं उठा सकते ।”

किन्तु इसके विपरीत जो अपने मन को उत्साह, साहस और पुरुषार्थ से पूरित रखता है, वह अपने चरणों में देवताओं को भी झुका लेता है । पुरुषार्थी व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य कठिन नहीं है ।

आचार्य चाणक्य का कथन है—

कोऽतिभारः समर्थानां, किं दूरं व्यवसायिनाम् ।

को विदेशः सुविधानां, कोऽप्रियः प्रियवादिनाम् ॥

समर्थ एवं पुरुषार्थी व्यक्तियों के लिये कुछ भी अति भार नहीं है, व्यापारियों के लिये कोई भी स्थान दूर नहीं है, विद्वानों के लिये विदेश में कोई कठिनाई नहीं है और मधुर बोलने वालों के लिये कोई भी अप्रिय नहीं है ।

तो मराठी कवि ने अपने पद्य में यही बताया है कि वे व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृतक के समान हैं जो पुरुषार्थ अथवा उद्यम नहीं करते, जिनका मन उत्साह से रहित होता है और जो सदा रोगी रहते हैं ।

ऐसे व्यक्ति जब अपना ही भला नहीं कर सकते हैं तो परिवार का, समाज का और देश का भला करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं । आज अधिकांश व्यक्ति यह कहते हैं—“महाराज ! समाज की व संघ की स्थिति देखकर बड़ा दुःख होता है पर क्या करें हमारी कुछ चलती नहीं ।” अरे भाई ! चल क्यों नहीं सकती ? पर इसके लिए प्रयत्न तो करो, केवल विचार करने या ‘माइक’ के सामने खड़े होकर भाषण देने से क्या हो सकता है ? आप अपने जैसे विचार रखने वाले व्यक्तियों

को साथ लेकर क्रियात्मक रूप से कुछ करो। तभी हो सकेगा। ऐसा होना चाहिए, कहने मात्र से कुछ नहीं हाता। स्वयं करने से होता है। हमारा चातुर्मास कराने के लिए अगर आप दिल ही में विचार करते रहते तो चातुर्मास कैसे होता? इसके लिए आपने मिल-जुलकर दौड़-भाग की तो चातुर्मास के लिए हमें यहाँ ले आएं या नहीं? बस ऐसा ही प्रयत्न प्रत्येक कार्य के लिए होना चाहिए। जो कार्य आप करना चाहते हैं, उसके लिये अन्य व्यक्तियों को सहयोगी बनाकर आपको जी-जान से जुट जाना चाहिए।

अन्य व्यक्तियों को सहयोगी बनाने का प्रयत्न करना ही संगठन है और संगठन होने पर हर कार्य संभव हो जाता है। 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता'— यह कहावत आप अनेक बार सुनते हैं। इसका भावार्थ यही है कि एक व्यक्ति महान् कार्य को नहीं कर सकता, किन्तु बहुत से व्यक्ति मिलकर उसे सहज ही सम्पन्न कर लेते हैं।

समाज-संगठन, समाज-सेवा एवं धर्म-प्रचार में जो व्यक्ति रुचि लेते हैं तथा आन्तरिक उत्साहपूर्वक इन कार्यों को करते हैं वे मरकर भी अमर हो जाते हैं। अहमदनगर में श्री किशनदास जी मूथा और सतारा में श्री बालमुकुन्द जी मूथा सच्चे श्रावक एवं धर्मानुरागी व्यक्ति थे। इन्होंने अपने जीवन में बहुत समाज सेवा की तथा स्वयं भी धर्मारोधन किया। मैंने स्वयं किशनदास जी से शास्त्रों का पठन किया था। उनके उपकार का मुझे सदा स्मरण रहता है। उपकार का बड़ा भारी महत्व है। कहा भी है—

**सहयोगदानमुपकारः, लौकिको लोकोत्तरश्च ।**

—जैन सिद्धान्तदीपिका

इस गाथा में बताया गया है कि किसी व्यक्ति को सहयोग देने को उपकार कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है। एक लौकिक एवं दूसरा लोकोत्तर। किसी अभावग्रस्त व्यक्ति को अन्न, वस्त्र, धन एवं इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं से सहायता करना लौकिक उपकार कहलाता है तथा धर्मोपदेश देकर व्यक्ति की आत्मा को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना तथा निर्वद्य दान आदि देना लोकोत्तर उपकार कहा जाता है।

तो मानव को जहाँ, जिस प्रकार की सहायता आवश्यक हो, वैसी ही प्रदान करते रहना चाहिए। कोई भी प्राणी किये हुए उपकार को कभी भूलता नहीं है तथा जीवन भर बड़ी श्रद्धा से स्मरण करता है।

उर्दू भाषा के शायर 'चकवस्त' ने तो यहाँ तक कहा है—

**जिसने कुछ अहसां किया, एक बोझ हम पर रख दिया ।**

**सिर से तिनका क्या उतारा, सर पे छप्पर रख दिया ॥**

शायर ने उपकार का कितना बड़ा महत्व बताया है ? कहा है—जिस व्यक्ति ने हम पर थोड़ा-सा भी एहसान किया है, मानो हमारे मस्तक पर बड़ा भारी बोझ रख दिया है। ऐसा लगता है कि सिर पर से हटाया तो उपकार के रूप में एक तिनका है किन्तु उसके बदले एहसान का बड़ा भारी वजनी छप्पर लाद दिया है।

कहने का आशय यही है कि जो व्यक्ति अन्य व्यक्ति की सहायता करता है, समाज की सेवा करता है और धर्म का प्रचार करता है, वह इस लोक में तो यश का भागी बनता ही है परलोक में जाकर भी अपने जीवन का लाभ उठा लेता है। इसलिये मानव को अपने जीवन का महत्व समझते हुए सदा अपनी आत्मा के कल्याण के लिए तथा औरों की आत्मा को भी सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

ऐसा करने पर ही मानव-जन्म सार्थक हो सकेगा तथा इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकेगा। कोई भी व्यक्ति चाहे वह श्रावक हो या साधु हो, उसे अपने जीवन के लक्ष्य को नहीं भूलना चाहिए। और वह लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है जब कि आत्मा को आश्रव की ओर से हटाकर संवर में लाया जाय। संवर वह मार्ग है, जिस पर चलकर आत्मा कर्मों के नवीन बन्धन से बचती है तथा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करती हुई उत्तरोत्तर सिद्धि की ओर बढ़ती है। अतएव संवर के भेदों को भली प्रकार समझते हुए प्रत्येक मुमुक्षु को उसका आराधन करना चाहिए। तभी आत्म-कल्याण हो सकेगा। ❀

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो ।

कल मैंने आपको बताया था कि समाज भी हमारे शरीर के समान ही शरीर है । हमारे शरीर में अनेक अंग और उपांग हैं । तथा समाज-रूपी शरीर में उसके सदस्य अंग एवं उपांगों के स्थान पर हैं । आप जानते हैं कि हमारा शरीर तभी स्वस्थ रहता है जबकि उसके किसी भी अंग में पीड़ा न हो, कोई भी अंग विकृत न हो तथा कोई असुन्दर भी न हो ।

इसी प्रकार समाज-रूपी शरीर का भी हाल है । यह तभी स्वस्थ रह सकता है जबकि इसके अंग रूपी सभी सदस्य खुशहाल हों, किसी को भी कोई कष्ट, चिन्ता अथवा अशान्ति न हो तथा सभी में सद्गुणों का सौन्दर्य हो । किन्तु यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? तभी जबकि सब इसके लिए संगठित होकर प्रयत्नशील बनें । पर ऐसा होता कहाँ है ? आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी इस नश्वर देह को स्वस्थ रखने के लिए तो नाना प्रयत्न करता है । तनिक पेट में दर्द हो जाय या शरीर गरम हो जाय तो तुरन्त डा० को बुलाकर दिखाता है और अनेक औषधियों का सेवन प्रारम्भ कर देता है । इसी प्रकार शरीर की सुन्दरता बनाए रखने के लिए भी विविध प्रकार के वस्त्रामूषण पहनता है तथा इत्र व सुगन्धित तेल लगाकर बालों की और चेहरे की शोभा बढ़ाने का प्रयत्न करता है, किन्तु सब कुछ करने पर भी इसका अन्त कैसा होता है, और यह किसके काम आता है ? किसी के भी नहीं । गाय, भैंस और अन्य जानवरों का चमड़ा तो फिर भी अनेक कामों में लिया जाता है पर मनुष्य की चमड़ी किसी के काम नहीं आती ।

सन्त तुलसीदास जी ने इसीलिये कहा है—

तेल फुलेल अनेक लगावत,  
 खींच के बन्द संवारत बाहि ।  
 भोगन भोग अनेक करे,  
 तरुणी वर देख अति हरधाहि ॥

ले दर्पण मुख देखत है ओ—

अति आनन्द से निरखत छाहि ।

तुलसीदास भजो हरि नामा,

यह चाम चमार के काम को नाहिं ॥

सन्त ने इस शरीर का तिरस्कार करते हुए मनुष्य को चेतावनी दी है—  
 “भोले प्राणियो ! अपने शरीर का सौन्दर्य निखारने के लिये तुम तेल-फुलेल अर्थात् सुगन्धित इत्र आदि लगाते हो तथा कीमती और सुन्दर वस्त्र पहनकर अपनी बांहों को गर्व से चढ़ाते हो । हाथ में दर्पण लेकर घण्टों बड़े हर्ष से अपने सुन्दर चेहरे की छवि निरखते हो तथा अपने चारों ओर बिखरी हुई भोग-सामग्री तथा सुन्दर पत्नी को देखकर फूले नहीं समाते हो । किन्तु यही शरीर प्राणों के निकल जाने के पश्चात् चमार के उपयोग में भी नहीं आता यानी मनुष्य के शरीर की चमड़ी से तो वह भी कोई वस्तु नहीं बनाता । इसलिए इस निरर्थक देह की ममता छोड़कर इसके द्वारा भगवान का मजन क्यों नहीं करते हो ? ईश—नाम लेने पर कम से कम आत्मा का तो आगे चलकर कुछ भला हो सकेगा । नहीं तो कितना भी इस देह को बना-संवारकर रखो, अन्त में यह आग में ही फूंकने के काम आयेगा और कोई भी लाभ इससे नहीं है ।”

बन्धुओ ! कहने का आशय यही है कि अपने शरीर को स्वस्थ रखने के लिये मनुष्य सदा प्रयत्न करता है, जो कि नश्वर है और एक दिन मिट्टी में मिलने वाला है । किन्तु इसके द्वारा सेवा, साधना या धर्मासाधना करके अपनी आत्मा को कर्मों के कर्ज से मुक्त करना नहीं चाहता । वह भूल जाता है कि यह शरीर अनेक पुण्य कर्मों के योग से मिला है और अब इसके द्वारा चाहे तो वह संसार-परिभ्रमण बढ़ा सकता है और चाहे तो संसार को समाप्त भी कर सकता है । अर्थात् संसार-मुक्त हो सकता है ।

### कर्मों का कर्ज

आप जानते हैं कि कोई व्यक्ति अगर धन-पैसे के रूप में किसी से कर्ज लेता है तो अपने को दिवालिया साबित करके या दीनता का प्रदर्शन करके इसी जन्म में उस कर्ज से मुक्त भी हो सकता है । किन्तु कर्मों का ऋण ऐसा जबर्दस्त होता है कि वह न दिवालिया होकर चुकाया जा सकता है और न ही उसके लिए किसी प्रकार की दीनता, हीनता या प्रार्थना ही काम आती है । कर्म रूपी कर्ज से तो व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर तक भोगने पर ही छुटकारा पा सकता है । इस सम्बन्ध में एक रूपक है—

एक व्यापारी को व्यापार में बड़ा जबर्दस्त घाटा लगा । घाटा लगने पर वह देश के राजा के पास गया और उससे ऋण के रूप में धन माँगा ।

व्यापारी प्रतिष्ठित था अतः राजा ने उसे ऋण के तौर पर बहुत-सा धन दे दिया । व्यापारी के मन में खोटा था अतः वह धन लेकर हर्षित होता हुआ वहाँ से

चला और सोचने लगा—“इतना धन मेरे पास जीवन भर खाने के लिए बहुत है। राजा को तो मैं पुनः लौटाऊँगा नहीं, और भर जाऊँगा तो मेरे कौन से लड़के-बाले हैं जिनसे वह वसूल करेगा। यानी इतना धन तो मैं जीवन भर में भी कमा नहीं सकता था, जितना राजा ने दे दिया है। अब न तो मुझे कमाने की झंझट करनी पड़ेगी और न लौटाने की ही फिक्र रहेगी।” यह विचार करता हुआ व्यापारी अपने गाँव को लौटा। किन्तु बहुत धन पास में होने के कारण चोर-डाकुओं के भय से वह मार्ग में रहने वाले एक तेली के यहाँ रात्रि-विश्राम के लिए ठहर गया।

तेली के यहाँ दो बैल थे जिन्हें वह बारी-बारी से धानी चलाने के लिए जोता करता था। व्यापारी तेली के यहाँ उसी स्थान पर सोया था जहाँ दोनों बैल बँधे हुए थे। बैल आपस में बातें कर रहे थे, और व्यापारी पशुओं की भाषा समझता था अतः कान देकर सुनने लगा।

दोनों बैलों में से पहला बैल कह रहा था—

“भाई ! मुझ पर अपने मालिक इस तेली का पिछले जन्म का बड़ा कर्ज था किन्तु वर्षों इसकी सेवा करने पर अब वह कर्ज चुक गया है और प्रातःकाल होते-होते मैं उस कर्ज से मुक्त होकर इस योनि से छूट जाऊँगा।”

पहले बैल की बात सुनकर दूसरा बोला—

“मेरा भी यही हाल है। मैं भी मालिक का कर्जा चुका रहा हूँ किन्तु अभी एक हजार का मुझ पर कर्ज बाकी है। पर अगर अपना मालिक कल राजा के बैल के साथ एक हजार रुपये की शर्त पर मेरी दौड़ रख दे तो मैं जीत जाऊँगा और मालिक को एक हजार रुपया मिल जाने पर मैं भी कर्ज से मुक्त होकर यह पशुयोनि त्याग दूँगा।”

व्यापारी बैलों की यह बात सुनकर दंग रह गया पर उसने प्रातःकाल बैलों के कथन की सत्यता जानने का निश्चय किया। रात्रि को मन की हलचल के कारण उसे ठीक तरह से निद्रा भी नहीं आई। किन्तु पौ फटते-फटते उसने आँख खोलकर बैलों की ओर देखा तो उसकी आँखें फटी की फटी रह गईं। वास्तव में ही एक बैल मरा पड़ा था।

यह देखकर उसने तेली को दोनों बैलों में रात्रि को होने वाली बातचीत सुना दी और कहा—“विश्वास न हो तो आज इस दूसरे बैल की राजा के बैल के साथ दौड़ करवा दो।” तेली व्यापारी की बात सुनकर चकित तो था ही। अतः यथार्थता जानने के लिए नगर की ओर चल पड़ा। व्यापारी भी साथ ही गया क्योंकि उसे भी सत्य को जानना था।

जब दोनों पुनः नगर में पहुँचे तो देखा कि बाहर मैदान में बैलों की दौड़ का

इन्तजाम हो रहा है। तेली ने भी अपने बैल को दौड़ के लिए नियुक्त कर दिया तथा जीतने पर एक हजार रुपया लेने की शर्त राजा से कर ली।

बैलों की दौड़ हुई और सचमुच ही तेली का बैल जीत गया। शर्त के अनुसार राजा ने तेली को एक हजार रुपये दे दिए। पर इधर तेली का रुपए हाथ में लेना था कि उधर उसका बैल जमीन पर गिर पड़ा और प्राणहीन हो गया।

यह देखकर राजा से ऋण में धन लेने वाले व्यापारी की आँखें खुल गईं। वह उसी क्षण भागा हुआ राजा के समक्ष पहुँचा और उसका सम्पूर्ण धन वापिस करते हुए तेली के बैलों की कथा कहते हुए बोला—

“हुजूर ! मैंने देखा है कि बैल पशु हैं पर उन्हें भी पिछले जन्मों का ऋण तेली को चुकाना पड़ा। मैं आपसे धन ले गया था और कसूर माफ करें तो कहता हूँ कि मेरे हृदय में बेईमानी आ गई थी। मैं सोचता था कि इस धन से आनन्दपूर्वक जीवन बिताऊँगा और मैं तो ऋण आपको चुकाऊँगा नहीं तथा मेरे मरने पर भी फिर आप यह कर्ज बसूल नहीं कर सकते थे, क्योंकि मेरे औलाद नहीं है। किन्तु आज इन बैलों ने मेरी आँखें खोल दी हैं। अतः आप अपना धन कृपया पुनः स्वीकार कीजिए क्योंकि इस जन्म में तो मैं यह कर्ज उतार नहीं सकता और अगले जन्मों तक कर्ज के बोझ को ढोना मुझे उचित नहीं लगता। बेईमानी के द्वारा आपका इतना धन हड़पने पर मेरे न जाने कितने कर्म बंधेंगे और न जाने कितनी और किन-किन योनियों में जाकर मुझे आपका कर्जा चुकाना पड़ेगा।”

तो बंधुओ, प्रसंगवश मैंने आपको कर्मों के विषय में बताया है कि उन्हें भोगे बिना कभी उनसे छुटकारा नहीं मिलता चाहे उस बीच में कितने भी जन्म क्यों न लेने पड़ें। वैसे हमारा मूल विषय समाज-रूपी शरीर को लेकर चल रहा था और मैं आपको यह कहने जा रहा था कि मनुष्य को अपने इस शरीर के समान ही समाज-रूपी शरीर का भी ध्यान रखना चाहिए।

अपने शरीर के किसी अंश में अगर पीड़ा होती है तो हम अविलम्ब औषधि लेते हैं, इसी प्रकार समाज-रूपी शरीर में अर्थात् समाज के किसी भी सदस्य के दुखी होने पर हमें पीड़ा होनी चाहिए और उसके निवारणार्थ प्रयत्न करना चाहिए। अपने शरीर का सौन्दर्य निखारने के लिए जिस प्रकार हम सावधान रहते हैं, उसी प्रकार समाज के सभी सदस्यों का मन निर्मल और निर्दोष बने तथा उसे सच्चे सौन्दर्य का रूप दिया जा सके। इसके बारे में सतत जागरूक रहना चाहिये। स्पष्ट है कि जिस प्रकार शरीर के सभी अंग रोग एवं पीड़ा रहित होते हैं तो शरीर नीरोग कहा जा सकता है, इसी प्रकार समाज के प्रत्येक सदस्य के खुशहाल एवं निश्चित रहने पर ही समाज-रूपी शरीर स्वस्थ कहा जा सकता है।

### समाज-रूपी शरीर के रोग

हमारे समाज-शरीर में सबसे बड़े रोग कुप्रथाओं के रूप में हैं। जिनके कारण इसके अधिकांश सदस्य चिन्तित और पीड़ित रहते हैं। इन कुप्रथाओं में भी सबसे बुरी प्रथा दहेज लेने की है। पहले समाज में लोग लड़की का पैसा लेते थे किन्तु इसे अत्यन्त निकृष्ट बताकर सन्तों ने अपने उपदेशों द्वारा इसे मिटाने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में सफलता भी मिली और नव्वे फीसदी लोगों ने लड़की का पैसा लेना बन्द कर दिया। पर उसके बदले लोगों ने लड़कों के लिए दहेज के रूप में धन लेना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ है कि जिसके कई लड़कियाँ होती हैं, वे बेचारे जीवन भर जी-तोड़ परिश्रम करते हैं और पैसे पैदा करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इतने पर भी वे लड़कियों के लिए दहेज नहीं जुटा पाते और उनके ससुराल वालों के ताने तथा व्यंग-वचन सुनने के लिए बाध्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में आप ही बताइये कि उन लड़की वालों के मन की कैसी दशा रहती होगी? क्या वे अपने जीवन में कभी सुख एवं चैन का अनुभव कर सकते होंगे? नहीं। इसलिए आपको सर्वप्रथम तो समाज के इस भयंकर रोग को मिटाना चाहिए।

इस बात को लेकर अनेक श्रीमंत व्यक्ति कहते हैं—“अगर हम ब्याह-शादी में पैसा खर्च नहीं करेंगे तो बदनामी होगी और हमारा नाम कैसे होगा? अरे भाई! क्या लाखों रुपया बर्बाद करने से ही व्यक्ति का नाम होता है? हमारे अमोलक ऋषि जी म. के एक परमभक्त हैदराबाद के परमसहाय नामक व्यक्ति के ब्याह में एक लाख और उनके पुत्र के विवाह में ढाई लाख रुपया खर्च हुआ था। पर यह कभी आपने सुना क्या? नहीं सुना होगा। किन्तु उन्होंने ही बयालीस हजार रुपया खर्च करके धार्मिक पुस्तकें छपवाईं और हर एक गाँव में पेटी भिजवाई। इसलिए उनका नाम हमेशा के लिए रह गया।

तो बन्धुओ, दहेज प्रथा रूपी यह सबसे बड़ा रोग समाज के अनेक सदस्यों को पीड़ित करता रहता है। अतः इसे मिटाने का आप सभी को मिलकर प्रयत्न करना चाहिए। अगर यह भयानक रोग समाज से निकल जाता है तो अनेकों व्यक्ति निश्चिन्तता की सांस ले सकते हैं तथा शांतिपूर्वक अपनी जिन्दगी बसर कर सकते हैं।

समाज में मौसर की प्रथा भी बड़ी धातक थी। कुछ समय पहले तक लोग एक-एक मौसर में हजारों, लाखों रुपए खर्च करके जीवन भर के लिए कर्ज से दब जाया करते थे। आजकल तो फिर भी यह कुरूडि काफी कम हो गई है। क्योंकि मंहगाई अत्यधिक बढ़ जाने से खाना खिलाना कठिन हो गया है।

इस युग में तो अब जिस रोग ने समाज में घर किया है, वह है आपसी फूट। इस फूट ने अनेक रूप धारण करके समाज को रोगी बना रखा है। मनुष्य



आज धर्म को लेकर आपस में झगड़ रहा है, सम्प्रदाय को लेकर एक-दूसरे की धज्जियाँ उड़ाने के प्रयत्न में लगा हुआ है। पद-लोलुपता के कारण रिश्वत देकर अनेकों व्यक्तियों को खरीद लेता है, वह पैसे के बल पर नाना अनैतिक कार्यों को करता चला जाता है। इन सबका परिणाम मयंकर फूट या कलह के रूप में जनता के सामने आता है। इसलिए आपको चाहिए कि आप लोग संगठित होकर इन समाज-विरोधी कार्यों के विरुद्ध आवाज उठाएँ, गलत मार्ग पर चलने वाले लोगों को समझाएँ तथा संगठित होकर उस प्रत्येक कार्य को करने का बीड़ा उठायें जो सामाजिक वैमनस्य को मिटाता है।

जब तक यह आपसी वैमनस्य नहीं मिट जाता है तब तक आप लोग समाजोपयोगी कार्यों को करने में सक्षम नहीं बन सकते। क्योंकि जब तक आपसी कलह में आपका समय और पैसा बर्बाद होता रहेगा तब तक समाजोपयोगी कार्यों के लिए आप समय कैसे निकालेंगे ?

आज समाज के रोगों को मिटाने के लिए तथा इसमें शांति की स्थापना करते हुए इसे उन्नत बनाने में कितनी शक्ति की आवश्यकता है ? हमारी नई पीढ़ी के बालकों को जो कि समाज के भावी कर्णधार हैं, कितने सुसंस्कृत और सभ्य बनाना है ? महावीर के सिद्धांतों का प्रचार करके सच्चा धर्म क्या है, इसको जनमानस में स्थापित करना कितना आवश्यक है ? पर यह सब हो कैसे ? तभी तो हो सकता है जबकि आप लोग धर्म, सम्प्रदाय एवं अपनी श्रीमंताई का झूठा अभिमान त्यागकर एक हो जाएँ और अपना समय एवं शक्ति इस ओर लगायें।

हो सकता है, आप यह विचार करें कि यही सब करने से क्या हमारी आत्मा का कल्याण हो जाएगा ? बंधुओ ! आत्म-कल्याण के लिए तो स्वयं साधना करनी पड़ेगी किन्तु क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम अन्य पथभ्रष्ट प्राणियों को भी मार्गदर्शन करें। समाज के एवं देश के दोन-दरिद्र अथवा दुखी व्यक्तियों की सेवा एवं सहायता करने से भी तो असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है। अन्यथा भगवान महावीर कैसे फरमाते—

**मिति मे सब्ब भूएसु, वैर मज्झं न केणई ।**

यानि—पृथ्वी के समस्त प्राणियों के साथ मेरी मित्रता है, किसी के साथ भी वैर-विरोध नहीं है।

कितनी सुन्दर एवं आत्मोत्थान करने वाली भावना है ? अगर यही भावना समाज के प्रत्येक सदस्य के मानस में स्थान करले तो क्या एक भी प्राणी दुखी रह सकता है ? नहीं, ऐसा करने पर ही भगवान के सिद्धांतों का सच्चे अर्थों में प्रचार हो सकता है तथा प्रत्येक प्राणी के हृदय में धर्म अपने शुद्ध रूप में स्थापित हो सकता है।

पर ऐसा होता कहाँ है ? आपको प्रथम तो धन इकट्ठा करने की चिन्ता से ही मुक्ति नहीं मिलती और अगर कूड़ा समय मिलता है तो उसे आप आपसी वैमनस्य को बढ़ाने में निरर्थक कर देते हैं। इसके अलावा भाग-दौड़ करके अधिक श्रम करना आप अपनी श्रीमंताई के खिलाफ समझते हैं यानि अपनी पोषीशन के लिये हेय मानते हैं। किन्तु यह उचित नहीं है। आपके समक्ष एक दोहा रख रहा हूँ, जिसमें कहा गया है—

सज्जन सम्पत्त पायके, और न रखिये चित्त ।  
ये तीनों न बिसारिये, हरि, अरि अपनो भित्त ॥

दोहे में जीवन को सुन्दर बनाने के लिए बड़ी उत्तम सीख दी गई है तथा कहा है—“माई ! तुम सम्पत्ति प्राप्त करने पर और सब बातें भले ही भूल जाओ किन्तु हरि, अरि और मित्र इन तीनों को कभी मत भूलना ।”

न भूलने वाली बातों में सर्वप्रथम हरि का उल्लेख किया गया है। हरि अर्थात् भगवान। चाहे हम उन्हें महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण अथवा किसी भी नाम से पुकारें किन्तु सुख या दुःख में कभी भी उन्हें विस्मरण न करें। आप कहेंगे भगवान तो निरंजन और निर्विकार हैं, वे हमें किस प्रकार सहायता दे सकते हैं ? पर आप जानते हैं कि लकड़ी निर्जीव होने पर भी लाखों व्यक्तियों के चलने में सहायक बनती है, इसी प्रकार भगवान का स्मरण हमारे मानस को शांत, निष्कपट और स्थिर बनाता हुआ शुद्धि की ओर बढ़ाता है। भगवान का स्मरण करने पर ही मन में जिज्ञासा होती है कि उन्होंने किन गुणों को अपनाकर तथा किस प्रकार त्याग एवं तप का मार्ग ग्रहण करके स्वयं को संसार-मुक्त बनाया था ? महापुरुषों की जयन्तियों को मनाने का उद्देश्य भी तो यही होता है कि उस दिन हम उन्हें स्मरण करें तथा उनके गुणों को अपने जीवन में भी उतारने का संकल्प करें।

जो मुमुक्षु होते हैं वे ईश-चिन्तन में ही अपना अधिक से अधिक समय व्यतीत करते हैं और वास्तव में ही भगवान के नाम में इतनी शक्ति होती है कि पापी से पापी व्यक्ति भी अगर सच्चे हृदय से प्रार्थना और भक्ति में लीन हो जाता है तो अपने कर्मों को नष्ट कर सकता है।

पूज्य श्री अमीरुद्दौलाजी म० ने अपने एक पद्य में भगवान का नाम लेने से कितना लाभ होता है, यह बताया है। पद्य इस प्रकार है—

प्रभु नाम लिए सब विघ्न विलाय जाय,  
गखड़ शब्द सुन त्रास होय व्याल को ।  
महामोह तिमिर पुलाय ज्यों दिनेश उदे,  
मेघ भरसत बूर करत बुकाल को ॥

चितामणि होय जहाँ बारिद्र न रहे रंघ,  
घनंतर आये भेटे, वेदन कराल को ।  
तैसे जिन नाम से करम को न रहे अंश,  
ऐसे प्रभु अमीरिख जपत त्रिकाल को ॥

कवि श्री का कथन है कि भगवान का नाम लेने से समस्त विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं और दुःख नष्ट होते हैं । उनका कहना है कि—जिस प्रकार गरुड़ की आवाज से सर्प धबरा जाता है, सूर्य के उदित होने पर मयंकर अन्धकार नष्ट हो जाता है, वर्षा होने पर अकाल मिट जाता है, चितामणि रत्न की प्राप्ति हो जाने पर दरिद्रता का लेश भी नहीं रहता तथा धन्वंतरि वैद्य के आ जाने पर मरणांतक वेदना भी दूर हो जाती है, इसी प्रकार जिन देव प्रभु के नाम से यानी भगवान का स्मरण करने से समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है ।

### पूजा का प्रभाव

एक लघु कथा में बताया जाता है कि किसी गहन वन में एक भील रहा करता था । वह बड़ा गरीब था और सम्पत्ति के नाम पर उसके पास केवल एक धनुष-बाण था । जिसके द्वारा वह पशु-पक्षियों को मारता था और उनके मांस से अपने परिवार का पेट भरता था ।

एक दिन वह धनुष-बाण लेकर वन में गया किन्तु बहुत देर तक मटकते रहने पर भी उसे कोई शिकार न मिल सका । वह बहुत थक गया था अतः बहुत उदास होकर वह एक तालाब के समीप बने हुए मन्दिर के चबूतरे पर बैठ गया ।

अचानक ही उसकी दृष्टि तालाब के एक किनारे की ओर गई जहाँ एक हिरणी पानी पी रही थी । भील ने अत्यन्त प्रसन्न होकर धनुष पर बाण चढ़ाया किन्तु ठीक उसी समय चबूतरे पर छाये हुए पेड़ से एक बेल पत्र टूटा और भील के धनुष से टकराकर शिवालिंग पर जा गिरा । भील ने यह देखा और मन में सोचा—“भुझ पर आज शिव की महान् कृपा हुई दिखाई देती है कि ज्योंही मुझे शिकार मिला है स्वयं ही भगवान की बेल-पत्र से पूजा भी हो गई है ।”

किन्तु इधर हिरणी ने ज्योंही भील को धनुष पर बाण चढ़ाए देखा तो विचित्राकर बोली—

“भीलराज; मुझे क्यों मारते हो ? मेरे छोटे-छोटे बच्चे तो मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे ।”

“तो मैं क्या करूँ ? आज मुझे भी कोई शिकार नहीं मिला है और मेरे माता-पिता भी सुबह से भूखे हैं । वे भी तो मेरा इन्तजार करते होंगे ।” भील ने उत्तर दिया ।

यह सुनकर हिरणी बेचारी आँखों में आँसू भरकर बोली—“ठीक है, पर तुम इतना करो कि एक बार मुझे अपने बच्चों के पास जाने दो। मैं उनसे कहकर आती हूँ कि अब वे कभी मेरा इन्तज़ार न करें।”

भील बड़ा सरल और निष्कपट व्यक्ति था। उसने हिरणी को जाने की अनुमति दे दी, पर कह दिया—

“शीघ्र लौटकर आना, मुझे घर पहुँचने में देर हो रही है।” हिरणी यह सुनकर चौकड़ियाँ भरती हुई एक ओर को चल दी।

पर कुछ ही काल बीता था कि उसी तालाब पर एक हिरण पानी पीने आ गया। उसे देखकर भी भील ने पुनः धनुष-बाण चढ़ाया पर संयोग कि फिर एक बेलपत्र पेड़ से टूटा और उसके धनुष से टकराकर शिवालिंग पर गिर गया।

बेचारा भील सोचने लगा—“आज क्या बात है कि मेरे द्वारा भगवान शिव की पूजा बेलपत्र से फिर इस दूसरे प्रहर में हो गई है?” पर उसी समय हिरण डरता हुआ उससे बोल उठा—“भाई! मुझे थोड़ी सी देर के लिए अपनी पत्नी और बच्चों से मिल आने दो, मैं वापिस आऊँगा तब खुशी से मुझे मार डालना।” भील ने हिरण की बात भी मान ली और उसे भी जाने दिया।

अब दिन का तीसरा प्रहर होने आया और भील ने फिर कुछ हिरण और हिरणियों को तालाब की ओर आते देखा। उसने सोचा—“इस बार तो एक-दो को मार ही लूँगा और यह सोचते-सोचते उसने धनुष पर बाण चढ़ाया।

पर महान आश्चर्य की बात हुई कि उसके धनुष सीधा करते ही तीसरी बार बेलपत्र गिरा और उसके धनुष से टकराकर शिवालिंग पर गिर गया।

इधर हिरण और हिरणियों ने जब भील को धनुष पर बाण चढ़ाए देखा तो हिरण बोले—“भीलराज! तुम हमें मार डालो पर इन हिरणियों को जाने दो।”

भील चकित होकर पूछ बैठा—“ऐसा क्यों? तुम क्यों मरना चाहते हो?”

उत्तर में एक हिरण बोला—“प्रथम तो हम हिरणियों की जान बचाएँगे, यह बड़ा पुण्य कार्य होगा, दूसरे इनके बच्चे अपनी माताओं के बिना जीवित नहीं रह सकेंगे, वे भी मर जाएँगे तो उनकी जानें भी हमारे मरने से बच जाएँगी।”

हिरणों की बात सुनकर भील ने अपने धनुष को हिरणों की दिशा में घुमाया किन्तु उसी समय हिरणियाँ व्याकुल होकर बोल पड़ीं—“अरे! अरे!! यह क्या कर रहे हो? हमारे रहते इन लोगों को मत मारो। ये हमारे पति हैं। पति के बिना स्त्री का जीवन व्यर्थ है। दूसरे अपनी जान देकर जो स्त्री अपने पति की प्राणरक्षा

करती है वह स्वर्ग में जाती है तथा अपने पति को वहाँ फिर से पा लेती है। इसलिए इन सबको छोड़ दो और भले ही हम सबको मार डालो।”

भील बिचारा किकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। वह सोच ही नहीं सका कि हिरणों को मारे या हिरणियों को। ऐसी स्थिति में उसे शिवजी की याद आई और वह मन ही मन प्रार्थना करने लगा—“प्रभो ! अब आप ही मुझे मार्ग सुझाओ। मेरे अनजाने ही आज तीनों प्रहर की पूजा मेरे द्वारा आपकी हुई है, अतः आप कृपा करके बताओ कि मैं क्या करूँ ?”

भील बड़े सच्चे और सरल हृदय से शिवजी का आह्वान कर रहा था। दूसरे महापुरुषों का कथन भी है कि भगवान का निवास शुद्ध एवं सरल हृदय में होता है। इसी सच्चाई के प्रमाण स्वरूप जबकि भील शिव से प्रार्थना कर रहा था, उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये और उसे विचार आया—“मैं क्या करने जा रहा हूँ ? मेरे जीवन को धिक्कार है। बेचारे ये प्राणी पशु होकर भी अपने-अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं, किन्तु मैं मनुष्य होकर भी धर्म से विमुख होता हुआ इनकी हत्या का प्रयास कर रहा हूँ।”

उसने आँखें खोलीं और हिरण तथा हिरणियों से कहा—“तुम सब अपने-अपने घर जाओ। मैं आज से किसी भी प्राणी की कभी हत्या नहीं करूँगा।” यह सुनते ही सब प्राणी हर्ष से भरकर अपने-अपने स्थान की ओर भाग गये।

तत्पश्चात् भील शिवजी के मन्दिर में गया। उनके समक्ष अपना मस्तक झुकाया और घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में उसने कुछ कन्दमूल एकत्रित किये और माता-पिता का तथा अपना पेट भरा। उस दिन के पश्चात् भील ने कभी किसी प्राणी की हत्या नहीं की तथा मेहनत-मजदूरी करके अपने परिवार का पेट भरने लगा।

इसे कहा जाता है भगवान के नाम का प्रभाव, जिस भील ने जीवन में कभी भगवान के मन्दिर की ओर मुँह नहीं किया था तथा सदा निर्दोष प्राणियों की हत्या करता हुआ जीवनयापन करता था। वही व्यक्ति एक बार भगवान शिव का स्मरण करके ही सदा के लिए अहिंसक बन गया तथा निविड़ कर्मबन्धनों से बच गया।

अब दोहे में बताई हुई दूसरी बात यह आती है कि अटूट सम्पत्ति प्राप्त करने पर भी व्यक्ति कभी अपने शत्रु की ओर से निश्चिन्त न हो अर्थात् उसे कभी भी न भूले। जिस प्रकार काल रूपी दुश्मन न जाने किस वक्त चुपचाप आकर व्यक्ति को दबोच लेता है, उसी प्रकार शत्रु भी कब दाब पाते ही आक्रमण कर बैठता है, यह कहा नहीं जा सकता। बड़े-बड़े साम्राज्य भी किसी घर-भेदिये के द्वारा जो कि राज्य का शत्रु बन जाता है, तनिक सी असावधानी के कारण नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार

अखंड षडे पर अचानक एक ठीकरी गिरकर उसे खंड-खंड कर देती है, इसी प्रकार शत्रु भी अचानक आक्रमण करके राज को विध्वंस कर देता है। जब हम इतिहास उठाकर देखते हैं तो ऐसे अनेक उदाहरण हमें पढ़ने को मिलते हैं कि सुख-समृद्धि एवं अमन-चैन से परिपूर्ण राज्य भी गद्दारों के देशद्रोह से नष्ट कर दिये गये हैं। किसी राज्यद्रोही ने गद्दारी करके चुपचाप किले का दरवाजा खोल दिया था या किसी ने शत्रु से मिलकर सारा गुप्त भेद उसे बताया था। वे शत्रु ही कहलाते थे। इसके अलावा अगर राज्य में कोई गद्दार नहीं होता था तो दुश्मन भी अंधेरी रातों में अथवा वर्षाकाल का लाभ उठाकर अचानक आक्रमण कर देता था और उससे लोहा लेना कठिन हो जाता था। महाराज शिवाजी मरहटों को साथ लेकर इसी प्रकार मुसलमान बादशाह औरंगजेब को परेशान किया करते थे।

कहने का अभिप्राय यही है कि शत्रु की ओर से व्यक्ति को कभी असावधान नहीं रहना चाहिए। शत्रु शरीर के भी होते हैं और आत्मा के भी। आत्मा के शत्रु क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेषादि हैं। ये भी कब और किस प्रकार मन में प्रवेश करके आत्म-गुणों पर आक्रमण करते हैं, यह व्यक्ति नहीं जान पाता अतः इनसे सावधानी रखने की भी बड़ी आवश्यकता है। यह इसलिए कि बाह्य शत्रु तो धन को, जन को या शरीर को क्षति पहुँचाते हैं जो कि एक दिन स्वयं ही छूटने वाले हैं। किन्तु आत्मा के शत्रु जोकि कषायादि हैं वे तो अनेक जन्मों तक भी आत्मा को कष्ट पहुँचाते रहते हैं, इसलिए इनसे सतर्क रहने की साधक को अनिवार्य आवश्यकता है।

कषायों की शत्रुता आत्मा को कितना पीड़ित करती है। यह इस प्रकार बताया गया है—

अहे वयइ कोहेणं, माणेण अहमा गइ ।

माया, गइपडिगघाओ, लोभाओ बुहुओ भयं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ६-५४

अर्थात् क्रोधी आत्मा नीचे गिरती है, मान से अधम गति को प्राप्त होती है। माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तथा लोभ से इस लोक और परलोक दोनों में ही भय एवं कष्ट बना रहता है।

इस प्रकार शत्रु चाहे बाह्य हो चाहे आन्तरिक, दोनों ही कष्ट पहुँचाते हैं, अतः इनसे हमेशा सावधान और सतर्क रहना चाहिये।

दोहे में तीसरी बात कही गई है मित्र को न भूलने की। यह बात भी यथार्थ है। व्यक्ति को दीलत के गर्व में आकर अपने मित्र को कभी नहीं भूलना चाहिये और न ही उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। श्रीकृष्ण और सुदामा दोनों बाल्यकाल में

घनिष्ठ मित्र थे। पर सुदामा जीवन में अत्यन्त दरिद्र बने रहे और कृष्ण राजकुमार थे अतः द्वारिका के राजा बने।

किन्तु क्या वे अपने गरीब मित्र को भूले ? नहीं, जब सुदामा पत्नी के अत्यधिक आग्रह के कारण कृष्ण के यहाँ गये तो उन्होंने किस प्रकार विद्वल और दुखी होकर सुदामा से कहा—

ऐसे बेहाल बिबाहन सों पगकंटक जाल लगे पुनि जोए ।

हाथ महाबुख पायो सखा तुम आए इतै न कितै दिन खोए ॥

बेखि सुदामा की दीन दशा कहुणा करिके करुणानिधि रोए ।

पानी परात को हाथ छुयो नाहि, नैनन के जल सों पग धोए ॥

कैसी आदर्श मित्रता थी कृष्ण की ? वे अपने दरिद्र मित्र के पैरों में फटी हुई बिबाइयों को तथा जगह-जगह लगे हुए काँटों के द्वारा क्षत-विक्षत हुए पाँवों को देखकर रो पड़े और बोले—“मित्र ! तुमने कितना दुःख उठाया है ? पर ऐसा ही था तो तुम अब से पहले ही यहाँ क्यों नहीं आ गये ? क्यों ऐसी दरिद्रता में महान् कष्ट पूर्वक दिन बिताते रहे ?”

बन्धुओ, इतिहास कहता है कि अपने परमप्रिय मित्र की हालत देखकर तीन खंड के स्वामी कृष्ण की आँखों से अश्रु-धारा बह चली और उनके द्वारा सुदामा के चरण धुल गये। समीप रखी हुई परात से पानी लेने की भी आवश्यकता उन्हें नहीं पड़ी। आशय यही है कि मित्र की हालत देखकर कृष्ण का हृदय अत्यन्त व्यथित और दुखी हो गया।

अपने मित्र को कृष्ण भूले नहीं और उनके आने पर यह भी विचार नहीं किया कि मैं राजा हूँ और मेरे इस दरिद्र मित्र को देखकर लोग क्या सोचेंगे ? आज तो थोड़ी-सी सम्पत्ति बढ़ते ही अपने निर्धन मित्रों को तो क्या, परिजनों और रिश्तेदारों को देखकर भी लोग मुँह फेर लेते हैं। उनसे बात करने में या उनको अपने घर बुलाने में शर्मिन्दगी महसूस करते हैं।

पर ऐसा होना नहीं चाहिये। जिस मनुष्य में मनुष्यता होती है वह अपने मित्र से जीवन पर्यन्त मित्रता रखता है, और फिर इस संसार में तो न जाने कैसे-कैसे लोग मिलते हैं कि कभी-कभी जिसे हम उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं या अधिक सम्बन्ध उससे नहीं रखते वह भी हमारे किसी भारी संकट में सहायक बन जाता है। मित्र सद्बुद्धि देता है तथा सन्मार्ग पर भी ले आता है अगर किसी समय हम भटक जाएँ अथवा हमारी बुद्धि काम न करे तो। एक उदाहरण है जिसे सम्भव है आपने कभी सुना होगा।

मित्र की कृपा

मगध के सम्राट राजा श्रेणिक जिस समय अपने राज्य-काल में थे, उनके

पुत्र अमयकुमार मन्त्रिपद पर आसीन थे। अमय कुमार जी बड़ी विचक्षण बुद्धि के धनी थे इसीलिये उन्हें राज्य का मन्त्रित्व दिया गया था।

श्रेणिक महाराज का ऐशोआराम में समय व्यतीत हो रहा था। एक दिन उनके विश्वासपात्र कर्मचारी ने उनके सम्मुख पान का बीड़ा उपस्थित किया। महाराज ने पान लिया और मुँह में रखा किन्तु उसे चबाते ही उनकी जवान में जलन हो गई। पान के द्वारा जीभ में जलन महसूस होते ही उन्हें लगा कि पान लगाने वाले कर्मचारी ने शायद मुझे इसमें कोई घातक वस्तु दी है और इस प्रकार यह मुझे मारना चाहता है।

उन्होंने पान अविलम्ब थूक दिया, बार-बार कुल्ला किया और उसी कर्मचारी को आज्ञा दी कि 'पाव भर चूना लेकर आओ।'

पान लगाने वाला भृत्य घबराकर वहाँ से चला पर संयोगवश राजमहल से बाहर निकलते ही उसकी मुलाकत मन्त्री अमयकुमार से हो गई। भृत्य ने उन्हें नमस्कार किया जैसा कि सदा ही करता था। किन्तु मैंने आपको बताया है न कि अमयकुमार जी बड़े विचक्षण थे अतः उसके चेहरे को देखकर ही भांप गये कि कुछ विशेष बात है। उन्होंने पूछ ही लिया—

“क्या बात है भाई ! इस प्रकार घबराए हुए कैसे हो और इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रहे हो ?”

“मन्त्रिवर ! महाराज ने कलीदार चूना मँगाया है, वही लेने जा रहा हूँ।”

“क्या इससे पहले भी कभी महाराज ने तुमसे चूना मँगाया था ?”

“नहीं, पहले तो कभी नहीं मँगाया, आज ही आज्ञा दी है।”

मन्त्री अमयकुमार ने कुछ क्षण सोचा और बोले—“क्या आज पान लगाते समय तुम्हारा मन स्थिर नहीं था ?”

कर्मचारी इस प्रश्न पर चकराया किन्तु उत्तर में बोला—“आप की कल्पना सत्य है मन्त्री जी ! मेरी घरेलू परिस्थिति इस समय इतनी खराब हो गई है कि सत्य ही मेरा मन पान लगाते समय स्थिर नहीं था, अशांत था।”

अब मन्त्री बोले—“देखो ! मन की अशांति के कारण तुमने पान में चूना कुछ अधिक लगा दिया होगा, अतः जो चूना तुम लाने जा रहे हो, वह तुम्हें ही खाना पड़ेगा। इसलिये ऐसा करो कि पहले तुम मक्खन ले लेना और फिर उसके ऊपर थोड़ा सा चूना डालकर पाव सेर के वजन का ले आना।”

कर्मचारी ने वैसा ही किया। यानी मक्खन के ऊपर कुछ चूना डालकर राजा के सम्मुख उपस्थित हो गया। राजा ने एक शस्त्रधारी सैनिक को बुलाया और



कहा—“यह चूना इसी व्यक्ति को खिला दो और न खाये तो तुरन्त गर्दन उड़ा दो।”

कर्मचारी ने चूना खा लिया। वह केवल चूना तो था ही नहीं, मक्खन था। चूना तो बहुत कम अंश में उसमें मिला था। चूना खिलाकर उसे महल से बाहर निकाल दिया गया कि महल ही में वह मर न जाए। बेचारा कर्मचारी “जान बची लाखों पाए” यह कहावत मन ही मन सोचता हुआ अपने घर की ओर भागा। घर जाकर उसने मंत्री अभयकुमार को मन ही मन लाखों बार प्रणाम किया और कहा—“मेरे जीवनदाता मित्र ! मैं तो तुम्हें रोज केवल नमस्कार ही करता था पर तुमने तो उसके बदले मेरी जान बचा दी, अन्यथा आज बेमौत मारा जाता।”

तो बन्धुओ, संकट के समय मित्र बहुत काम आता है। अतः किसी भी स्थिति में मित्र को भूलाना नहीं चाहिये। चाहे व्यक्ति दरिद्रावस्था में हो या अमीरावस्था में, अपनी प्रतिकूल स्थिति में अगर वह मित्र की सलाह लेगा या उससे सहायता की आकांक्षा करेगा तो मित्र सच्चे हृदय से उसे मार्ग सुझाएगा।

मेरे कहने का अमिप्राय यही है कि आप लोग चाहे अमीर हों या गरीब, भले ही किसी के पास धन अधिक हो और किसी के पास कम पर आप लोग आपस में संगठित होकर मंत्रीभाव की स्थापना करें। आपस में स्नेह होने पर और संगठन होने पर ही आप समाज की कुप्रथाओं को दूर कर सकते हैं, धर्म एवं सम्प्रदाय आदि को लेकर जो आपसी झगड़े खड़े हो गये हैं उन्हें मिटा सकते हैं, अपने बालक-बालिकाओं के लिये धार्मिक स्कूलादि का प्रबन्ध करके उनमें सुन्दर संस्कार एवं धार्मिक भावनाओं के अंकुर उगा सकते हैं तथा सबसे बड़ी बात जो हो सकती है वह यह कि समाज में रहने वाले अभावग्रस्त, दीन-दरिद्र एवं पीड़ितों के दुखों को मिटा सकते हैं। समाज में अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनकी सार-संभाल करने वाला और सेवा करने वाला ही कोई नहीं होता। ऐसे व्यक्ति अत्यन्त दुःख और कष्ट में अपना जीवन बिताते हैं। अगर आप लोग मिल कर कुछ प्रबन्ध करें तो ऐसे व्यक्ति भी कुछ शांति और सुविधा से अपना समय व्यतीत कर सकते हैं।

बन्धुओ, यह सेवाकार्य भी सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास एवं अन्य विविध प्रकार के तपों से कम नहीं है अपितु यह उत्कृष्ट धर्मारोधन करना है।

श्री स्थानांग सूत्र में कहा भी है—

असंगिहीय परिजणस्स—

संगिहणथाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।

अनाश्रित एवं असहायजनों को सहयोग एवं आश्रय देने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये।

आगे कहा है—

**गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्च करणाए—**

**अभुट्ठेयव्वं भवई ।**

अर्थात् रोगी की सेवा करने के लिए सदा अम्लान भाव से तैयार रहना चाहिए।

वस्तुतः 'सेवा परमोधर्म' जो कहा जाता है, वह यथार्थ है। इस नश्वर शरीर से जो व्यक्ति औरों की सेवा करता है वही मानव-शरीर का सच्चा लाभ उठाता है। सच भी है, इस शरीर को तो एक दिन मिट्टी में मिलना ही है, फिर क्यों न इससे अधिक लाभ उठाया जाय? मनुष्य जीवन को सफल बनाने के यही तो साधन हैं। अन्यथा अपना पेट तो पशु भी भर लेता है। मनुष्य भी अगर पेट भरने के काम में ही लगा रहा तो उसमें और पशु में क्या अन्तर रहेगा?

आज लोग जीवन की सफलता धन इकट्ठा करने में, मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने में तथा भोगोपभोगों को भोगने में ही समझते हैं। उनकी दृष्टि में शारीरिक सुख ही जीवन साफल्य का लक्षण है। पर शरीर को अधिक से अधिक सुख पहुँचाना ही जीवन की सफलता नहीं है। मैंने अभी आपको बताया था कि इस शरीर को स्वस्थ रखने का कितना भी प्रयत्न किया जाय, इसे कितना भी सजाया जाय पर एक दिन जब यह नष्ट होगा, किसी के भी काम नहीं आएगा।

कहते भी हैं—

**गाय भंस पशुओं की चमड़ी, आती सौ-सौ काम,**

**हाथी दांत तथा कस्तूरी, बिकती मंहगे दाम ।**

**नरतन किन्तु निपट निस्सार ।**

इसीलिये ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि व्यक्ति को अपनी दृष्टि में शरीर की मुख्यता नहीं माननी चाहिये, अपितु शरीर में रहने वाली आत्मा को मुख्यता देकर उसके भले का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि शरीर नश्वर है और आत्मा अमर। शरीर के सुख-दुख तो इसके साथ ही समाप्त हो जाते हैं, किन्तु आत्मा के सुख-दुख अनेकानेक जन्मों तक उसके साथ रहते हैं। अर्थात् मनुष्य अगर पुण्य-कर्मों का बन्धन करता है तो परलोक में सुख हासिल होता है और पाप कर्मों का बन्धन करने पर जन्म-जन्म तक आत्मा कष्टों से घिरी रहती है। अतः मुमुक्षु प्राणी को अपने शरीर के द्वारा सेवा, सहानुभूति, तप, त्याग, समाज का उत्थान, आदि-आदि उत्तम कार्यों को करके अपना जीवन सफल बनाना चाहिये। इसी में शरीर की सार्थकता है।

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आत्मा की उन्नति करने वाला संवर मार्ग है जो मन को, वचन को, शरीर को एवं इन्द्रियों को आश्रव की ओर बढ़ने से रोकता है। मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों योगों को रोकना संवर है और इन्हें खुला छोड़ना आश्रव। आश्रव पाप-कर्मों के आने का मार्ग है।

संवर तत्त्व के सत्तावन भेद हैं और इनमें से आप परिषहों के बारे में कई दिनों से जानकारी कर रहे हैं। सोलह परिषह आपके सामने आ चुके हैं और आज सत्रहवें परिषह की बारी है। बाईस परिषहों में से सत्रहवां परिषह है—‘तृण-परिषह’।

इस विषय में श्री उत्तराध्ययन सूत्र की एक गाथा है जो इस शास्त्र के दूसरे अध्याय में चौतीसवीं है। गाथा इस प्रकार है—

अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो ।

तण्णसु सयमाणस्स, हुज्जा गाय-विराहणा ॥

अर्थात् वस्त्ररहित और रुक्ष वृत्ति वाले तपस्वी साधु के तृणों पर शयन करने से शरीर में पीड़ा होती है।

चेल यानि वस्त्र और अचेल अर्थात् वस्त्रों का पूर्णतया अभाव। हम इसका अर्थ मर्यादित कपड़ों से भी ले सकते हैं। यह इस प्रकार है जैसे—एक व्यापारी के पास किसी प्रकार का माल होता है। उसे वह बेचना चाहता है, किन्तु भाव और बढ़ जाएगा इस लालच में पड़कर वह उसे रखे रहता है। किन्तु दुर्भाग्यवश भाव गिरता चला जाता है और उस गिरे हुए भाव में जब वह माल बेचना है तो मुनाफा बहुत ही कम होता है।

पर उस समय अगर कोई व्यक्ति व्यापारी से पूछता है—“भाई, नफा हुआ या नुकसान?” व्यापारी कहता है—“नुकसान नहीं हुआ किन्तु फायदा भी नहीं रहा। केवल सौ-दो सौ रुपए मिले हैं।” तो हजारों रुपये के व्यापार में जिस प्रकार

सौ-दो सौ रूपए कोई महत्त्व नहीं रखते, इसी प्रकार मर्यादित कपड़े भी वस्त्र-रहित स्थिति में ही आ जाते हैं ।

आप श्रावक लोग अपने लिये गर्मियों के और सदियों के कितने वस्त्र रखते हैं ? शायद ही किसी के पास इसकी गिनती हो । ठण्ड से बचने के लिए अनेक गरम वस्त्र, शाल, दुशाले और रूई से भरे हुए रजाई-गद्दे आदि-आदि । किन्तु साधु मर्यादित वस्त्र रखते हैं । अतः बहुत ही कम गिने-चुने कपड़ों के टुकड़े उनके पास होते हैं । इसलिए बहुत ही कम वस्त्र होना भी अचेल अर्थात् वस्त्र-रहितता की गणना में आ जाता है ।

तो वास्तव में तो सूत्र की गाथा जिनकल्पी साधु को लक्ष्य में रखकर ही कही गई है क्योंकि शयन करने पर तृण-जन्य कष्ट उन्हें पूर्ण रूप से होता है, किन्तु जो स्थविरकल्पी हैं वे भी शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार अत्यल्प वस्त्र रखते हुए इस परिषह को सहन करते हैं । क्योंकि उनके पास पर्याप्त वस्त्र नहीं होते और जो होते हैं वे भी बहुत पराने एवं जीर्ण-शीर्ण होते हैं । इसलिए उन्हें तृणादि में शयन करने से इस परिषह को अनिवार्य रूप से सहना पड़ता है ।

ध्यान में रखने की बात है कि संयमशील मुनि जब अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखते तो फिर वस्त्रों को भी वे अधिक मात्रा में क्यों रखेंगे ? गाथा में 'लूहस्स' शब्द आया है । इसका अर्थ है—रूक्ष वृत्ति वाला या रूखे दिल वाला । यह वृत्ति साधु के लिए उचित है । आप जानते हैं कि आपके मुँह में जो जीम है, उसने जीवन भर में मनो घी खाया होगा, दूध पिया होगा, मिठाई का स्वाद लिया होगा और इसी प्रकार अनेकानेक सरस व्यञ्जनों को अपनी जिह्वा पर रखा होगा । किन्तु क्या किसी भी पदार्थ का स्वाद या रस उसके ऊपर बना रहता है ? नहीं, पदार्थ के उदर में जाते ही वह रूखी की रूखी बनी रहती है । साधु-वृत्ति भी ऐसी ही होती है । जो कुछ मिल गया ठीक है, नहीं मिला तो भी ठीक है । आप श्रेष्ठ लोग तो खाने बैठते हैं, पर जरा-सा किसी वस्तु में नमक कम हो गया या किसी पदार्थ में कोई कमी रह गई तो थालियाँ उठाकर फेंक देते हैं तथा बनाने वालों को गालियाँ देते हैं वह अलग ।

किन्तु साधु-वृत्ति को अपनाने वाले संयमी प्राणी क्या ऐसा करते हैं ? नहीं । उन्हें वस्त्र मिला तो ठीक और नहीं मिला तो भी ठीक । इसी प्रकार आहारादि मिले तो ठीक और नहीं मिले तो भी कोई बात नहीं । ऐसी रूखी वृत्ति रहने के कारण ही तो वे समस्त परिषहों को सहन करते हैं और सांसारिक पदार्थों के मिलने, न मिलने पर हर्ष या दुःख नहीं मानते । परिणाम यह होता है कि आसक्ति के अभाव के कारण उनकी आत्मा को कर्म अपनी लपेट में नहीं लेते ।

आप प्रश्न करेंगे कि आखिर साधु भी आहार-जल ग्रहण करते हैं, वस्त्र पहनते हैं, बोलते हैं और हँसते हैं। अर्थात् समी क्रियाएँ करते हैं किन्तु उन्हें कर्मों का बन्ध नहीं होता और गृहस्थों को होता है, ऐसा क्यों ?

इस प्रश्न का उत्तर मैं आपको 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के पच्चीसवें अध्याय की दो गाथाओं के आधार पर देता हूँ। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

उल्लो सुक्को य दो छुदा, गोलया मट्टियामया ।

दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई ॥४२॥

एवं लग्गति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।

विरत्ता उ न लग्गति, जहा से सुक्क गोलए ॥४३॥

अर्थात्—गीला और सूखा ऐसे मिट्टी के दो गोले दीवाल पर फेंकने से जो गोला गीला होता है, वह वहाँ चिपक जाता है, किन्तु सूखा हुआ गोला दीवाल पर नहीं चिपकता।

इसी प्रकार काम-भोगों में मूर्च्छित दुर्बुद्धि जीव को कर्म लगते हैं, किन्तु विरक्त को सूखे गोले की तरह कर्म नहीं लगते।

आशय यही है कि गाथा में बताए गए गोलों के समान साधु और गृहस्थ हैं। गृहस्थ गोले गोले की तरह होता है क्योंकि उसकी काम-भोगों में आसक्ति होती है, धन के लिए लोभ होता है और परिवार के प्रति अत्यधिक मोह होता है। इसलिए कर्म उसकी आत्मा से निरन्तर चिपकते रहते हैं।

किन्तु साधु जो कि संयमी होता है, वह धन पैसा तो रखता ही नहीं अतः उसके प्रति लोभ-लालच का सवाल ही नहीं होता, ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लेता है अतः काम-भोग की ओर भी उसका मन नहीं जाता। रही बात वस्त्र पहनने और पेट भरने की। आप जानते ही हैं कि साधु को न तो श्वेत वस्त्रों के अलावा किसी प्रकार का कीमती वस्त्र चाहिए और न मर्यादा से अधिक ही चाहिये क्योंकि अपने थोड़े से वस्त्र वे स्वयं ही उठाकर विचरण करते हैं, अपना वजन किसी को नहीं देते। ऐसी स्थिति में अधिक वस्त्र वे रखते नहीं और जितना रखते हैं, उस पर भी उनका ममत्व नहीं होता। इसी प्रकार उनके आहार का भी हाल है। अचित्त और निर्दोष आहार जितनी भी मात्रा में मिल जाता है तथा रूखा-सूखा जैसा भी प्राप्त होता है केवल शरीर टिकाने मात्र के लिए लेते हैं। उनके लिए सरस या नीरस पदार्थ समान होते हैं क्योंकि वे स्वाद के लिए नहीं खाते, पेट को भाड़ा देने के लिए खाते हैं। इसलिए खाद्य-पदार्थ के लिए उनमें नाममात्र की भी लोलुपता नहीं रहती और इन सबके अलावा वे अपने सम्पूर्ण परिवार को छोड़कर गृहस्थ-त्यागी हो जाते हैं। अतः मोह किसके लिए रहेगा ? उनके लिए तो संसार का प्रत्येक

प्राणी प्रिय होता है अतः किसी विशेष प्राणी के लिए उनकी ममता रहती ही नहीं। वे तो अपनी धुन में मस्त जिधर मुँह उठाते हैं उधर ही अपनी झोली लेकर चल देते हैं। इसलिए मिट्टी के सूखे गोले के समान उनसे कर्म नहीं चिपकते।

श्री भर्तृहरि ने साधु की फक्कड़ता और धर्म तथा त्याग के प्रति रही हुई गौरवपूर्ण भावना का चित्र खींचा है कि साधु क्या विचार करता है? श्लोक इस प्रकार है—

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीशमहे यावदित्थं,  
शूरस्त्वं वादिदर्पञ्जरशमनविधावक्षयं पाटवं नः।  
सेवन्ते त्वां घनाहया मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा,  
मय्यप्यास्थानं ते चेत्त्वयिममसुतरामेव राजन्गतोस्मि ॥

वस्तुतः संत फक्कड़ होते हैं। न उन्हें निन्दा की परवाह होती है। न उन्हें प्रशंसा की आकांक्षा। न उनके समक्ष धनवानों का महत्व होता है और न गरीबों के प्रति तिरस्कार की भावना। उन्हें केवल अपनी करणी पर सन्तोष होता है और वे अपने ज्ञान के प्रति विश्वास और शुद्धाचरण का बल रखते हैं।

अपने निन्दकों या आलोचना करने वालों की तनिक भी परवाह न करते हुए वे क्षण भर में यह कहते हुए अन्यत्र चल देते हैं—“अज्ञानी व्यक्तियों! अगर तुम धन के स्वामी हो तो हम वाणी के स्वामी हैं अर्थात्—हमें अपने वचनों पर पूरा अधिकार है। तुम चाहे हमें कटु वचन कहो या मधुर, हमारे लिए समान हैं। न हम मधुर वचनों से प्रसन्न होते हैं और न तुम्हारे कटु-वचनों को सुनकर उनका उत्तर ही देते हैं। यही हमारा कर्तव्य है और इसका यथाविधि पालन करना चाहिए ऐसा भगवान का आदेश है। समभाव हमारा सबसे बड़ा बल है। इसके द्वारा ही हम कषायों का मुकाबला करते हैं। एक उदाहरण है—

**सच्चा साधुत्व**

एक बार एक जिज्ञासु युवक किसी सन्त के पास गया और बोला—“भगवान! सच्चा साधुत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है और समभाव किस प्रकार रखा जा सकता है?”

सन्त ने भक्त की बात सुनी और उस पर कुछ क्षण विचार करके बोले—“वत्स! तुम्हें अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करना है तो जाओ नगर के बाहर जो कब्रिस्तान है, वहाँ जाकर कब्रों को तुमसे जितनी गालियाँ दी जायें दो और वे क्या जवाब देती हैं, यह मुझे आकर बताओ।”

बेचारा युवक यह तो जानता था कि कब्रें मला कैसे बोलेंगी? पर फिर भी गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके उसी समय वहाँ से चल दिया। वह कब्रिस्तान में

पहुँचा और उसने विविध प्रकार के कटु-शब्दों और गालियों से कब्रों को संबोधित करना प्रारम्भ किया। घंटों तक जी भर कर गालियाँ देता रहा और जब थक गया तो पुनः सन्त के पास लौट आया।

सन्त ने उसे देखते ही पूछा—“क्यों भाई ! मेरे कथनानुसार तुम कब्रिस्तान में गये थे और कब्रों को गालियाँ दी थीं क्या ?”

युवक ने उत्तर दिया—“हाँ गुरुदेव ! आपकी आज्ञा पाते ही मैं कब्रिस्तान की ओर चला गया था तथा तब से अभी तक वहीं खड़ा-खड़ा कब्रों को गालियाँ दे रहा था। पर जब बोलते-बोलते थक गया तो लौटकर आया हूँ। भगवन् ! बात यही है कि मैंने कब्रों को असंख्य गालियाँ दीं पर उन्होंने एक का भी जवाब नहीं दिया।”

सन्त ने युवक की बात ध्यान से सुनी और तब कहा—“ठीक है भाई ! तुम्हारी बात सत्य होगी। पर अब ऐसा करो कि कब्रों ने अगर गालियों का जवाब नहीं दिया है तो अब पुनः जाकर उनकी प्रशंसा और स्तुति करो। देखें अब वे क्या कहती हैं ?”

युवक पुनः चकित हुआ, किन्तु उसने सन्त की बात पर किसी प्रकार की शंका नहीं की और न अविश्वास किया। वह फिर से रवाना हुआ और सीधा वहीं पहुँच गया। वहाँ रहकर उस भोले युवक ने बड़े मधुर, प्रिय, सुन्दर तथा सम्मानजनक संबोधनों से कब्रों को संबोधित किया और उनकी नाना प्रकार से प्रशंसा तथा स्तुति की। बहुत गुण-गान भी किया।

पर कब्रें भी कभी बोलती हैं क्या ? वे तो उसी प्रकार मौन रहीं और कब्रिस्तान में सन्नटा छाया रहा। इस बार वह युवक जब फिर से कब्रों की प्रशंसा और स्तुति करके थक गया तो वहाँ से लौट आया और सन्त के समीप पहुँचा।

सन्त ने युवक का चेहरा ध्यान से देखा और पाया कि जिज्ञासु युवक कुछ निराश सा हो रहा है तो मधुर मुस्कान सहित सान्त्वना पूर्ण स्वर से बोले—

“बदस ! तुम दुखी और निराश क्यों हो ? तुम्हारी जिज्ञासाओं का समाधान तो हो चुका है।”

युवक सन्त के द्वारा कब्रिस्तान में भेजे जाने पर और कब्रों को गालियाँ देने और उसके बाद स्तुति करने की आज्ञा देने पर भी जितना चकित नहीं हुआ था, उतना गुरुजी की यह बात सुनकर चकित हुआ। उसने बड़े आश्चर्य से पूछा—

“भगवन् ! कब्रों ने न तो गालियों का कोई प्रत्युत्तर दिया और न प्रशंसा या स्तुति का। फिर मेरी जिज्ञासा का समाधान कैसे हो गया ?”

महात्मा जी प्रेम से बोले “बेटा ! कब्रों ने तुम्हें यही तो बताया है कि चाहे लोग जी भरकर निन्दा करें या प्रशंसा, उससे न क्रोध प्रकट करो और न ही हर्ष का

अनुभव करो। ऐसा करना ही समभाव में आना है और यही सच्चा साधुत्व है। निंदा और प्रशंसा, इन दोनों के होने पर मौन रहना ही साधुत्व का लक्षण है एवं समभाव का परिचायक है।”

वास्तव में साधु को किसी के द्वारा निंदा किये जाने पर क्यों दुःख होना चाहिए और प्रशंसा करने पर हर्ष का अनुभव क्यों करना चाहिए? क्या कोई क्रोधित होकर उनकी जागीरी छीन लेगा या प्रसन्न होकर उन्हें स्वर्ग का राज्य इनाम में दे देगा? नहीं, फिर परवाह किस बात की?

अभी-अभी श्लोक में सन्त क्या कहते हैं यह बताया ही गया है। वे सांसारिक व्यक्तियों से कहते हैं—“यदि तुम धन के स्वामी हो तो हम वाणी के स्वामी हैं। यदि तुम लड़ने में बहादुर हो तो हम अपने विपक्षियों से शास्त्रार्थ करके उनके अहंकार रूपी ज्वर को मिटाने में कुशल हैं। यदि तुम्हारी सेवा धन के लोलुपी करते हैं तो हमारी सेवा अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश चाहने वाले मुमुक्षु प्राणी शास्त्र सुनने के लिए करते हैं। अगर तुम्हें हमारी गरज नहीं है तो हमें भी तुम्हारी बिलकुल गरज नहीं है। और लो हम तो यह खाना होते हैं।”

इस प्रकार सन्त न किसी की परवाह करते हैं और न किसी प्रकार के लोभ या आसक्ति के कारण किसी को प्रसन्न करने की फिक्र में रहते हैं। उन्हें भोग रोगस्वरूप दिखाई देते हैं और विलास में विनाश का कारण महसूस होता है। ऐसे वासनाओं को जीत लेने वाले सच्चे साधक या सन्त संसार के विषय-भोगों से विरक्त होकर त्याग-वृत्ति अपना लेते हैं तथा स्वयं संयम की साधना करते हुए अज्ञानी व्यक्तियों को भी यह उपदेश देते हैं—

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं,  
वत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।  
सम्मानीता प्रणयिनो विभर्बस्ततः किं,  
कल्पं स्थितं तनुभूतां तनुभिस्ततः किम् ॥

जीर्णा कन्था ततः किं सितममलपटं पट्टसूत्रं ततः किं,  
एका भार्या ततः किं ह्यकरिसुगणैरावृतो वा ततः किं,  
भक्तं भुक्तं ततः किं कदनमथवा वासरान्ते ततः किं,  
व्यक्तं ज्योतिर्नवांतर्मथित भवभयं वैभवं वाततः किम् ।

सन्त क्या कहते हैं? यही कि—मनुष्यों को सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करने वाली लक्ष्मी मिली तो क्या हुआ? अगर शत्रुओं को पदानत किया तो क्या? धन से



मित्रों की खातिर की तो क्या और इस देह से पृथ्वी पर एक कल्प तक भी जीवित रहे तो क्या ?

इतना ही नहीं, आगे कहते हैं—अगर चियड़ों से बनी हुई गुदड़ी ओढ़ी तो क्या ? और निर्मल सफेद वस्त्र पहने या पीताम्बर पहने तो क्या ? अगर एक ही स्त्री रही तो क्या ? और अनेकानेक हाथी एवं अश्वों सहित अनेक स्त्रियाँ रहीं तो भी क्या ? अगर नाना प्रकार के सरस सुस्वादु भोज्य-पदार्थ खाये तो क्या एवं रूखा-सूखा खाना खाया तो क्या ? इस प्रकार संसार का महान् वैभव पा लिया और सुख-सुविधाओं के समस्त साधन प्राप्त कर लिये तो क्या हुआ । यदि आत्मा को संसार-बन्धनों से मुक्त करने वाली आत्म-ज्ञान की ज्योति न जागी तो समझना चाहिए कि मनुष्य ने कुछ भी नहीं पाया और कुछ भी नहीं किया ।

सन्तों की इन भावनाओं में कितना गम्भीर रहस्य छिपा हुआ है ? अगर मानव इन पर चिन्तन करे तो क्या अपनी आत्मा को अपने शुद्ध रूप में लाकर कर्मों की सर्वथा निर्जरा करता हुआ संसार-मुक्त नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है । आवश्यकता केवल आत्म-ज्ञान को जगाने की है ।

जब आत्म-ज्ञान जाग जाता है तो संसार का सम्पूर्ण सुख एवं सम्पूर्ण वैभव व्यक्ति को निरर्थक महसूस होने लगता है । उसे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि संसार का कोई भी पदार्थ उसे शाश्वत सुख प्रदान नहीं कर सकता और कोई भी प्राणी उसे मृत्यु से परित्राण नहीं दिला सकता । इसीलिए अनाथी मुनि जो कि एक श्रेष्ठि-पुत्र थे तथा अपार वैभव के बीच पले थे, सब कुछ त्याग कर साधु बन गये थे ।

एक बार जब मगध देश के सम्राट राजा श्रेणिक 'मण्डिकुक्षि' नामक उद्यान में घूमते हुए पहुँचे तो उन्होंने एक वृक्ष के नीचे मुनि को देखा । उन्हें देखकर श्रेणिक अत्यन्त चकित हुए, क्योंकि मुनि का रूप अत्यन्त उत्कृष्ट एवं आकृति बड़ी ही भव्य तथा मनोहारिणी थी । शारीरिक सौन्दर्य एवं उनके आकर्षक व्यक्तित्व से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि मुनि किसी उच्च कुल के तथा समृद्धिशाली परिवार के व्यक्ति हैं । पर ऐसे कुलीन, सम्पन्न तथा शारीरिक सौन्दर्य के धनी व्यक्ति को युवावस्था में ही संन्यासी बना हुआ देखकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पूछा—

तरुणोसि अज्जो पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया ।

उवट्ठिओ सि सामण्णे, एयमहुं सुणेमि ता ॥

—उत्तराव्ययन सूत्र २०-८

श्रेणिक ने प्रश्न किया—“मगधन् ! आप भोगों के योग्य इस युवावस्था में

ही दीक्षा ग्रहण करके साधु बन गए हैं, ऐसा क्यों? मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ।”

वास्तव में ही इस संसार में लोग किसी की दीक्षा लेने की भावना जानते ही नाना प्रकार के तर्कों से उसे परेशान करने लगते हैं तथा अन्तराय डालने का प्रयत्न करते हैं। तारीफ की बात तो यह कि वे व्यक्ति मनुष्य की किसी भी अवस्था को साधुत्व के लिए उपयुक्त नहीं मानते। अगर कोई कम उम्र में साधु बनना चाहता है तो बड़ी ही दया एवं करुणा का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं—हाय ! यह तो अभी बच्चा है, इसने अभी संसार में देखा ही क्या है? खाने-खेलने की इस उम्र में भला साधु बनना चाहिए क्या ?

इसके बाद अगर व्यक्ति युवावस्था में संसार से विरक्त होकर साधुत्व ग्रहण करने की इच्छा करता है तो लोग कहते हैं—“वाह ! यह उम्र तो संसार के सुखों का उपयोग करने की है तथा धनार्जन करके परिवार का पालन-पोषण करने की।” साथ ही तरुण व्यक्ति के लिए लोग यह भी कहते हैं कि—“कमाने की क्षमता नहीं है अतः मुपत की रोटियाँ खाने के लिए संसार छोड़ रहा है।” लोग उसे कायर कहने से भी नहीं चूकते। इस प्रकार युवावस्था में साधु बनना भी सांसारिक व्यक्तियों को ठीक नहीं लगता।

अब बची वृद्धावस्था। अगर व्यक्ति बाल्यावस्था और युवावस्था को पार कर जाए तथा सांसारिक कर्तव्यों से निवृत्त होकर साधु बनने का विचार करे तो भी लोग तुरन्त कह देते हैं—“अब बुढ़ापे में दीक्षा लेकर क्या करोगे? सारी इन्द्रियाँ क्षीण हो गई हैं, चला जाता नहीं और अपना कार्य भी स्वयं नहीं कर सकते तो फिर साधु बनने से क्या लाभ? औरों से सेवा कराने के लिए साधु बनोगे क्या?”

इस प्रकार संसार के व्यक्ति तो किसी भी अवस्था में मनुष्य को साधु बनने देना पसन्द नहीं करते तथा हर हालत में विघ्न बाधाएँ उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं। वे संसार-विरक्त व्यक्ति का उपहास करते हैं तथा कायर बताते हुए ताने देते हैं।

किन्तु हम यहाँ महाराज श्रेणिक के विषय में यह बात नहीं कह सकते। उन्होंने मुनि को देखा और बड़ी श्रद्धा से वन्दना-नमस्कार भी किया। किन्तु मुनि के चेहरे की अपार भव्यता, सौम्यता एवं उनके अनुपम सुन्दर शरीर की कान्ति देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य, कौतूहल एवं जिज्ञासा पैदा हुई कि इस देव-पुरुष ने किस वजह से इस तरुणावस्था में संयम ग्रहण किया? अपनी उस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही बड़ी नम्रता एवं विनय से पूछा कि—“आपने भोगों को भोगने योग्य इस तरुणावस्था में क्यों संयम अपना लिया?”

मुनि ने महाराज श्रेणिक का प्रश्न सुना और बड़ी मधुरता एवं शान्ति से उत्तर दिया—

अणाहो मि महाराय, नाहो मज्झ न विज्जइ ।

अणुकंपगं सुहि वावि, कांचि पाभिसमेमहं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २०-६

महाराज ! मैं अनाथ हूँ । मेरा कोई नाथ नहीं है, न मुझ पर कोई कृपा करने वाला मित्र ही है । इसलिए मैं साधु हुआ हूँ ।

यह सुनकर राजा श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसे देवोपम पुरुष का भी कोई नाथ नहीं है । पर यह सत्य समझकर उन्होंने आन्तरिक कष्टना से विगलित होकर और स्नेहपूरित गद्गद् स्वर से कहा—

“मुनिराज ! अगर ऐसा है तो मैं अपना नाथ बनता हूँ । आप निश्चितता पूर्वक मित्र एवं जाति युक्त होकर संसार के सुखों का भोग करें । यह मनुष्य-जन्म तो बहुत ही दुर्लभ है ।”

बन्धुओ, यह संसार विचित्रताओं का आगार है । यहाँ विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं वाले व्यक्ति पाये जाते हैं । अनेक भव्य प्राणी ऐसे होते हैं जो आत्मा को सनातन-नित्य मानते हैं तथा इस बात पर पूर्ण विश्वास रखते हैं कि मले ही वर्तमान जीवन अत्यल्प है, किन्तु आत्मा शाश्वत है । यह जब तक अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक जन्म-मरण के दुखों से मुक्त नहीं होता । इसलिए वे भविष्य यानी परलोक को भी सम्मुख रखकर अपने कर्तव्य का निर्णय करते हैं तथा इस शरीर के द्वारा सच्ची साधना करके आत्मा को कर्म-मुक्त करने के प्रयत्न में जुट जाते हैं ।

किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो लोक-परलोक को नहीं मानते तथा वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मानकर इस शरीर से अधिकाधिक भोग, भोग लेना ठीक समझते हैं । ऐसे व्यक्ति काम-भोगों में गूढ़ और घोर असक्त रहने के कारण विषय-वासनाओं को नहीं त्याग सकते । इन्द्रियों की उच्छृंखला के कारण वे यम-नियम के नियन्त्रण में नहीं आ सकते । उनका यह कथन होता है कि परलोक के अविश्वसनीय सुखों की आशा में रहकर इस लोक के सुखों से वंचित रहना मूर्खता है । ऐसे व्यक्ति नास्तिक कहलाते हैं और वे परमात्मा, मुक्ति, धर्म, अधर्म, पुण्य या पाप किसी पर विश्वास नहीं करते । नास्तिक व्यक्ति परलोक को नहीं मानते और इसीलिए इस जीवन को और इसमें भोगे जाने वाले सुखों को ही सामने रखते हैं । उनका तां कहना है—

इहलोक सुखं हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्घियः ।

हित्वा हस्तगतं प्राप्तं, ते लिहन्ति पदांगुलिम् ॥

आस्तिक व्यक्तियों का उपहास और तिरस्कार करते हुए नास्तिक व्यक्ति कहते हैं—जो मूर्ख व्यक्ति इस लोक के सुखों को छोड़कर घोर तपस्या करते हैं वे मानो अपने हाथ का कौर छोड़कर पैरों की अंगुलियाँ चाटते हैं ।

उनका आशय यही है कि प्राप्त सुखों का त्याग करके भविष्य के अनिश्चित सुखों की कामना करना महामूर्खता है और ऐसा करने का प्रयत्न करने से इस जीवन का आनन्द भी छूट जाता है और परलोक तो है ही कहीं, जिसमें सुख मिलेगा ।

अब आते हैं तीसरी श्रेणी के व्यक्ति । ऐसे व्यक्ति लोक-परलोक, धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप, देव, गुरु आदि सभी पर आस्था रखते हैं किन्तु प्रमाद के कारण और मन तथा इन्द्रियों के प्रबल आकर्षण से परास्त होकर धर्माचरण एवं तपादि का आराधन नहीं कर पाते । सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र्य पर पूर्ण विश्वास रखते हुए भी पूर्व कर्मों के उदय होने से वे चाहते हुए भी शुभोपयोग में नहीं लग पाते । प्रमाद का आवरण उनके मन, मस्तिष्क पर इस प्रकार छाया रहता है कि वे निष्क्रिय बने रहते हैं और आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों से धर्माचरण प्रारम्भ करेंगे, यही विचार करते-करते वे अपना सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ गँवा देते हैं । मैं तो समझता हूँ कि संसार में इस तीसरी श्रेणी के व्यक्ति ही अधिक हैं । आप सब जो यहाँ बैठे हैं, निश्चय ही नास्तिक नहीं हैं । आपकी प्रबल इच्छा सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके मुक्ति प्राप्त करने की है, किन्तु सांसारिक उलझनों का और सांसारिक कर्तव्यों का बहाना लेकर आप केवल प्रमाद का ही पोषण करते हैं तथा विचार करते हैं कि ये सब सांसारिक कार्य निपट जायँ तो अवश्य धर्माचरण करेंगे ।

पर बन्धुओ, आप जानते हैं कि संसार के कार्य तो कभी भी सम्पन्न नहीं हो सकते । एक इच्छा के पूर्ण होते ही दस इच्छाएँ उसका स्थान ग्रहण कर लेती हैं तथा एक कार्य समाप्त करते ही दस कार्य सामने आ उपस्थित होते हैं । परिणाम यही होता है कि आत्म-कल्याण की पूर्ण चाह होते हुए भी आप जीवन पर्यन्त उस चाह के लिए सक्रिय नहीं बन पाते, अर्थात् उसके लिए प्रयत्न नहीं कर पाते । इस प्रकार आप तीसरी श्रेणी के व्यक्तियों में आ जाते हैं ।

हमारा प्रसंग अनाथी मुनि एवं महाराज श्रेणिक को लेकर चल रहा है । अनाथी मुनि के समक्ष श्रेणिक आए और उन्होंने मुनि को वंदन किया । यद्यपि वे नास्तिक नहीं थे और स्वयं भी बड़े विचारक, उच्चमना एवं भव्यात्मा थे किन्तु अपने सामने तरुणावस्था के एक अत्यन्त तेजस्वी, कान्तिमान एवं कुलीन दिखाई देने वाले मुनि को देखकर कुछ चकित हुए और उन्होंने पूछ लिया—“आपने इस अवस्था में, जबकि संसार के सुख भोगना चाहिए, संन्यास क्यों ग्रहण किया ?”

मुनि ने भी सहज एवं मधुर शब्दों में उत्तर दिया—“महाराज ! मैं अनाथ था, इसलिए साध बन गया ।”

मुनि का यह उत्तर सुनकर तो श्रेणिक और भी चमत्कृत हो गये । विचार करने लगे कि ऐसा भव्य व्यक्तित्व जिस व्यक्ति का है, वह कैसे अनाथ हो गया ? फिर भी यह समझकर कि इनका कोई भी स्वजन-परिजन नहीं होगा । वैभव का अभाव होगा या अन्य किसी प्रकार का कष्ट रहा होगा इसीलिए दुखी होकर ये साधु बन गये है, उन्होंने कहा—“भगवन्, अगर आपका कोई नाथ नहीं है तो मैं आपका नाथ बनता हूँ और आप अपनी सुन्दर काया एवं अवस्था के अनुसार सांसारिक सुखोप-मोगों का आनन्द उठाएँ ।”

पर श्रेणिक की बात सुनकर मुनि ने क्या उत्तर दिया ? उन्होंने स्पष्ट और सहज भाव से कह दिया—

अप्पणा वि अणाहो सि, सेगिया मगहाहिवा ।

अप्पणा अणाहो सन्तो, कस्स नाहो भविस्ससि ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २०-१२

अर्थात्—“हे मगध देश के महाराज श्रेणिक ! तुम तो स्वयं ही अनाथ हो । फिर स्वयं अनाथ होते हुए दूसरों के नाथ कैसे बन सकते हो ?”

मुनि का यह उत्तर सुनते ही राजा श्रेणिक की आँखें तो मानो कपाल पर चढ़ गईं । वे महान् आश्चर्य से बोले — “भगवन् ! आप कैसी बातें कह रहे हैं ? मैं मगध का सम्राट हूँ, प्रजा के लाखों व्यक्तियों का स्वामी हूँ, मेरा राज-कोष असीम है । हजारों हाथी, घोड़े, दास, दासी मेरे आश्रय में पल रहे हैं, साथ ही मेरे अन्तःपुर में अनेकों रानियाँ और स्वजन-परिजन हैं जो सदा मेरा मुँह ताकते रहते हैं । भला मैं किस प्रकार अनाथ हूँ ।”

मुनि मन्द-मन्द मुस्कराते हुए बोले—“राजन् ! अनाथ और सनाथ की परि-भाषा मेरी दृष्टि में और है तथा आपकी दृष्टि में कुछ और । आपने अपने विचार इस विषय में व्यक्त कर दिये हैं पर मैं क्यों अपने आपको अनाथ कहता हूँ, यह सुनिए ।” इस प्रकार अनाथी मुनि ने राजा से कहना प्रारम्भ किया—

“मैं कौशाम्बी नगर के प्रभूत धनसंचय श्रेष्ठिका पुत्र हूँ । मेरे पिता के पास भी अपार ऋद्धि थी तथा परिवार में सभी सम्बन्धी थे । असीम वैभव के बीच मेरा लालन-पालन हुआ और युवावस्था आते ही सुन्दर कन्या से विवाह भी कर दिया गया ।

किन्तु एक बार मेरी आँखों में घोर वेदना उठी। उस असह्य वेदना से केवल मेरी आँखें ही नहीं, वरन् मस्तक, हृदय, कमर एवं समस्त शरीर पीड़ित हो गया। मेरे पिता ने अनेक वैद्यों और हकीमों को इकट्ठा किया तथा उन सबने चतुष्पाद चिकित्सा के द्वारा मेरे कष्ट को मिटाने का प्रयत्न किया। पानी की तरह पैसा बहाया गया पर कोई लाभ नहीं हुआ। माता-पिता, भाई, पत्नी एवं सभी स्वजन-परिजन विकल होते थे तथा मेरी घोर पीड़ा से दुःखित होकर आँसू बहाते थे।”

“किन्तु महाराज ! मेरी बीमारी को मिटाने में कोई भी समर्थ नहीं हो सका, न उस समय स्वजन सम्बन्धी कुछ कर सके, न वैद्य-हकीम अपनी दवा से मुझे लाभ पहुँचा सके और न मेरे पिता की अपार ऋद्धि ही मेरी बीमारी में काम आई। यह स्थिति देखकर मुझे विश्वास हो गया कि मैं अनाथ हूँ। और जब यह विश्वास हो गया तो एक दिन मैंने संकल्प किया कि अगर इस वेदना से मुक्त हो जाऊँगा तो अनगार बनकर ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरी आत्मा को सदा के लिए रोग-शोक एवं जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाय। वस यह विचार और दृढ़ संकल्प करते ही मेरी घोर वेदना अपने आप शांत हो गई और मैंने अविलम्ब संन्यास ले लिया। अब आप ही बताइये कि आप जो कि अपने आपको लाखों व्यक्तियों का नाथ समझते हैं, क्या किसी भी प्राणी की शारीरिक वेदना को मिटाने में समर्थ हैं, क्या आप किसी को मरने से बचा सकते हैं ? नहीं, ऐसी स्थिति में आप किस प्रकार स्वयं को किसी का नाथ कह सकते हैं ? मैंने इस बात को मली-माँति समझकर ही संयम का यह रूखा मार्ग अपनाया है।”

बन्धुओ, ! आप अनाथी मुनि एवं राजा श्रेणिक के इस वार्तालाप को सुनकर समझ गए होंगे कि साधक अथवा मुनि क्यों रूक्ष वृत्ति अपना लेते हैं ? उत्तराध्ययन सूत्र की जो गाथा मैंने आपको प्रारम्भ में सुनाई है, उसमें ‘लूहस्स’ शब्द आया है। ‘लूहस्स’ का अर्थ है रुखी वृत्ति वाला।

साधु ऐसी वृत्ति वाले होने के कारण ही संसार में रहकर वस्त्र पहनते हुए, आहार ग्रहण करते हुए तथा अन्य सब क्रियाएँ करते हुए भी मिट्टी का सूखा गोला जिस प्रकार दीवार में नहीं चिपकता, उसी प्रकार किसी भी सांसारिक पदार्थ में आसक्त नहीं होते। और अनागतिक पूर्ण रूक्ष वृत्ति को धारण करने पर ही सम्पूर्ण परिषहों पर विजय प्राप्त करते हैं। संसार में रहकर भी वे संसार से उदासीन रहते हैं। जो मिलता है पहन लेते हैं और जो मिलता है खा लेते हैं। कभी ऐसा नहीं होता कि भिक्षा में पकवान आ गये तो वे सराहना करते हुए उन्हें बड़े चाव से खाएँ और नीरस वस्तुओं के आ जाने पर दुखी होते हुए या कुड़ते हुए उन्हें ग्रहण करें। वे जानते हैं कि खाद्य पदार्थ जब तक जीव पर रहते हैं, तभी तक उनका स्वाद रहता

है और उस क्षणिक स्वाद के लिए ही मानव गृह्यता के कारण कर्मों का बन्धन कर लेता है। जीम से नीचे जाते ही तो प्रत्येक पदार्थ समान और निकृष्ट बन जाता है। एक कहावत भी है—“उतरा घाटी और हुआ माटी।”

आप सभी जानते हैं कि पेट में पहुँचने के बाद प्रत्येक खाद्य-पदार्थ की क्या दशा होती है ?

मराठी जबान में संत तुकाराम जी कहते हैं—

“मिठ्टाझाची गोडी, जिमेच्या अग्रणी,  
मशक भरल्या वरी, स्वाद नैणे।”

अर्थात्—मिठाई की मिठास तभी तक है, जब तक वह जबान के अग्रभाग पर है। ‘मशक भरल्या वर’ अर्थात् पेट में पहुँच जाने पर उसका कोई स्वाद नहीं रहता।

इसलिए मुँह में रही हुई जिह्वा को तो केवल शरीर के पोषण का ध्यान रखना चाहिए। यह नहीं कि स्वाद-लोलुपता के कारण भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बिना अविवेक पूर्वक निकृष्ट पदार्थ, जैसे मांस, मदिरा आदि को ग्रहण करके इन्द्रियों को भोगों की ओर बढ़ाए तथा इन वस्तुओं के बुरे प्रभाव से ज्ञान की ज्योति को मन्द करने में सहायक बने। मांस-मदिरा, आदि का सेवन करने से बुद्धि कुंठित हो जाती है, मस्तिष्क विचारशील नहीं रहता और हृदय क्रूर बन जाता है। ये त्रिदोष मिलकर मनुष्य की आत्मा को बहुत ही हानि पहुँचाते हैं तथा उसे निविड़ कर्मों से जकड़ देते हैं।

संत तुलसीदास जी ने एक दोहे में कहा है—

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान सहूँ एक।  
पालहि पोसहि सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ॥

कहा गया है कि मुखिया को मुँह के समान होना चाहिए जो कि बड़े विवेक पूर्वक अपने अनुयायियों को सन्मार्ग पर चलाता है तथा उनके जीवन को उत्तम एवं सदाचरण से युक्त बनाता है।

तो जिस मुँह की मुखिया से तुलना की गई है, उसे कितना विवेकवान होना चाहिए ? मुँह से यहाँ आशय जिह्वा से है। इस जिह्वा को बड़े विवेकपूर्वक अभक्ष्य का त्याग करते हुए निरासक्त भाव से शुद्ध पदार्थों को उदर में पहुँचाना चाहिए ताकि उनका मन एवं मस्तिष्क पर सुन्दर प्रभाव पड़े तथा इन्द्रियाँ संयमित बनी रहें। मुख का तुलसीदास जी ने बड़ा भारी महत्व बताया है और इसीलिए कहा है कि जिस प्रकार मुँह शरीर के सम्पूर्ण अंगों को भोजन देकर पुष्ट बनाता है, इसी प्रकार मुखिया अथवा समाज के अग्रणी नेताओं को भी समाज रूपी शरीर के प्रत्येक अंग

का ध्यान रखना चाहिए। समाज के अंग उसके सदस्य होते हैं अतः अग्रणी व्यक्तियों को विचार करना चाहिए कि जिस प्रकार शरीर के एक भी अंग के पीड़ित होने पर हमारा पूरा शरीर कष्ट का अनुभव करता है तथा हम अविलम्ब डॉक्टर या वैद्य को बुलाकर रोग का निवारण करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार समाज रूपी शरीर के अंग-रूपी किसी भी व्यक्ति के दुःखी या अभावग्रस्त होने पर हम पीड़ा का अनुभव करें तथा उसे मिटाने का भी तुरन्त प्रयास करें।

बन्धुओ, अगर आप सब समाज के नेता ऐसा विचार करेंगे तो आपके हृदय में से मेरेपन की भावना निकल जाएगी। क्योंकि जब आपके शरीर का कोई भी अंग यह नहीं सोचता कि दूसरे अंग में कष्ट है तो हमारा क्या बिगड़ता है, वह तो किसी भी अन्य अंग के दुःख को अपना दुःख मानता है और जल्दी से जल्दी वह दुःख मिटे, यह चाहता है तो फिर आप समाज रूपी शरीर के किसी भी अंग के दुःख को अपना दुःख क्यों नहीं समझते ?

जिस दिन ऐसी भावना आपके हृदय में पूर्ण रूप से घर कर जाएगी, आपको जो कुछ भी आपके पास है, वह अपना नहीं लगेगा और वह सब कुछ पूरे समाज का और समाज का ही क्या, विश्व के प्रत्येक प्राणी का महसूस होगा। आप अपनी सम्पत्ति को जरूरतमन्दों की अमानत समझने लगेंगे और उनकी जरूरतें पूरी करने में प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। यही वृत्ति साधुवृत्ति कहलाती है।

संतों में कभी मेरापन नहीं होता। बाह्य पदार्थों की तो बात ही क्या है, उसे तो वे त्याग ही देते हैं, अपने शरीर को भी मेरा नहीं मानते। उनके लिए शरीर केवल साधना करने का यन्त्र होता है और यन्त्र समीचीन रूप से चले, इसके लिए जिस प्रकार तेल एवं कोयला आदि दिया जाता है, उसी प्रकार वे शरीर चलाने के लिए रूखा-सूखा जो भी मिल जाता है, दे देते हैं। न वे उसे सर्दी या गर्मी से बचाने का अधिक प्रयत्न करते हैं, न अलंकृत करके उसके सौन्दर्य को बढ़ाना चाहते हैं और न ही उसे आराम पहुँचाने के लिए बिछाने अथवा ओढ़ने के अधिक वस्त्रों की अपेक्षा रखते हैं। जो भी रूखा-सूखा किन्तु शुद्ध मिलता है, खा लेते हैं, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनकर लज्जा का निवारण करते हैं तथा घास-फूस या तृणों पर रात्रि के कुछ घंटे व्यतीत कर देते हैं।

हमारा आज का विषय 'तृण परिषह' को लेकर ही प्रारम्भ हुआ था किन्तु प्रसंगवश मैंने काफी बातें आपको बता दी हैं। संत समी परिषहों को पूर्ण समभाव पूर्वक सहन करते हैं और उनके उपस्थित होने पर किंचित् भी खेद-खिन्न नहीं होते। उलटे उन्हें सहन करने में आंतरिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। उनका अंतःकरण सांसारिक सुखों और उनके साधनों की ओर से पूर्णतया रूक्ष हो जाता है, जिसका उल्लेख 'लूहस्स' शब्द के द्वारा किया गया है।



वस्तुतः संत-मुनिराज संसार ही में रहते हैं, आहार-जल लेते हैं तथा आप सबके साथ प्रेम से बोलते हैं, किन्तु उनका अन्तःकरण रूखा रहता है। इसका कारण यही है कि न उनका शरीर पर ममत्व होता है और न ही संसार के अन्य किसी भी पदार्थ पर। वे केवल अपनी आत्मा को कर्म-रहित बनाने की आकांक्षा रखते हैं, उसके उपयुक्त साधना करते हैं और संसार के अन्य प्राणियों पर भी महान् कृपा-भाव रखते हुए मुक्ति के मार्ग का ज्ञान कराते हैं।

यही कारण है कि हमारे यहाँ गुरु का बड़ा भारी महत्व माना गया है। गुरु के अभाव में मोक्ष का इच्छुक व्यक्ति चाहे दिन-रात परमात्मा का भजन करता रहे और उनके नाम की माला फेरता रहे, आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता।

आदिपुराण में गुरु की महिमा बताते हुए कहा गया है—

न बिना धानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः ।

नतं गुरुपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥

अर्थात्—जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार गुरु के मार्ग-दर्शन के बिना संसार-सागर का पार पाना बहुत कठिन है।

सच्चे गुरु मनुष्यों के अज्ञानांधकार को नष्ट करके उनके हृदय में ज्ञान की ज्योति जलाते हैं तथा मलिन एवं विकार युक्त भावनाओं के स्थान पर आत्मिक सद्गुणों की स्थापना करते हैं। वे संसार के भोगों से विरक्त होकर क्रोध, मान, माया एवं लोभ के स्थान पर क्षमा, मृदुता, सरलता और निस्पृहता अंगीकार करते हैं तथा अनादिकालीन आत्मिक कलुष को धोने के लिए संयम और संवर की आराधना करते हैं तथा अपने संसर्ग में आने वाले प्रत्येक प्राणी को भी संवर की महत्ता समझाकर उसे अपनाने की प्रेरणा देते हैं।

जो भव्य प्राणी भगवान की वाणी पर विश्वास रखते हुए संवर का मार्ग अपनाता है, वह अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखता हुआ शनैः-शनैः आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कर लेता है तथा अपने मानव-जन्म को सफल बना जाता है। ❀

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्व के सत्तावन भेदों में से पच्चीसवें भेद 'तृण परिषह' को लेकर उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय की चौतीसवीं गाथा पर कल से विवेचन चल रहा ।

गाथा के पहले चरण में 'अचेलगस्स' और 'लूहस्स' शब्द आए हैं । उनके विषय में कल बताया गया था । आज उसी गाथा में आगे 'संजयस्स' शब्द आता है और हमें उसके विषय में विचार करना है । 'संजयस्स' का संस्कृत में 'संयतस्य' हो जाता है । यत यानी प्रयत्न करना और संयत यानी भली प्रकार में मोक्ष-मार्ग की ओर गमन के लिये कटिबद्ध हो जाना । यत से पहिले जो 'स' अक्षर आया है वह रोकने का कार्य करता है । भगवान ने बाईस परिषहों को सहन करने का आदेश दिया है । पर इन्हें वही सहन कर सकता है जो संयत रहे । साधु को संयति कहा जाता है इसका यही कारण है कि वे सम्पूर्ण परिषहों को सहन करते हैं । अपने मन, वचन एवं शरीर को पूर्ण रूप से नियन्त्रण में रखते हुए दृढ़ता से साधना पथ पर अग्रसर होते हैं ।

**संयति कैसे बना जाय ?**

संयति बनना या संयम से रहना जीवन को सफल बनाने के लिये आवश्यक है । संयम के अभाव में हमारा मन एवं सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वेकाबू हो जाती हैं । परिणाम यह होता है कि वे सांसारिक विषयों में अधिकाधिक गूढ़ होती जाती हैं और कर्मों का भार बढ़ता चला जाता है । कर्मों का बढ़ना संसार को बढ़ाना है और इस प्रकार आत्मा अनन्त काल तक जन्म मरण से मुक्त नहीं हो पाती ।

'विवेक चूड़ामणि' में कहा गया है—

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च,

पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धा ।

कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग मीन—

भृङ्गा नरः पञ्चभि रञ्चितः किम् ।

अर्थात्—मृग, हाथी, पतंग मछली और भ्रमर, शब्दादि एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो फिर पाँचों इन्द्रियों के विषयों में जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है ?

वास्तव में ही इन्द्रियों का आकर्षण बड़ा प्रबल होता है । अपने आपको इनसे बचाना बड़े साहस, शक्ति और त्याग पर निर्भर है । श्रीमद्भागवत में तो कहा है—

**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्त्यपि यतेर्मनः ।**

अर्थात्—इन्द्रियाँ अत्यन्त तंग करने वाली होती हैं और दाव लग जाने पर यति अथवा संन्यासी के मन को भी विचलित कर देती हैं ।

महर्षि विश्वामित्र के विषय में आपने पढ़ा या सुना ही होगा कि वे घोर तपस्वी थे किन्तु मेनका नामक अप्सरा जब स्वर्ग से उन्हें विचलित करने आई तो उसके रूप एवं हाव-भाव पर मोहित होकर वे अपनी साधना भंग कर बैठे और मेनका से संसर्ग करने पर उनके कन्या हुई जिसका नाम शकुन्तला था ।

इसी प्रकार हमारे यहाँ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की कथा भी आती है । पूर्व जन्म में वे दो भाई थे—चित्त एवं संभूति । दोनों ने संयम का मार्ग अपनाया था और दृढ़ साधना करके तेजोलेया की सिद्धि भी हासिल कर ली थी ।

किन्तु एक बार एक चक्रवर्ती राजा अपनी रानी सहित उनके दर्शनार्थ आए और संभूति उनकी रानी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये । उनके हृदय में प्रबल इच्छा हो गई कि मैं भी चक्रवर्ती राजा बनूँ और इस रानी के जैसी ही सुन्दर पत्नी पाकर काम-भोगों का आनन्द हासिल करूँ ।

अपनी इस प्रबल कामना के वश में होकर उन्होंने संधारे (समाधि) से पूर्व यही 'नियाणा' कर लिया कि मेरी तपस्या और साधना का फल मुझे मिले तो मैं अगले जन्म में चक्रवर्ती राजा बनूँ ।

हुआ भी ऐसा ही । चित्त और संभूति दोनों मुनि अगले जन्म में भी मनुष्य पर्याय में आए । चित्त श्रेष्ठ पुत्र बना, पर उसने पुनः संयम ग्रहण कर लिया । आप सोचेंगे कि जब चित्त ने मुनि बनकर उत्कृष्ट साधना की थी और अपनी साधना को कहीं भी खंडित नहीं होने दिया था तो पुनः जन्म लेने की क्या आवश्यकता थी ?

बन्धुओ, इस विषय में गम्भीरता से विचार करना चाहिए । आप देखते हैं कि आज बड़े-बड़े वैज्ञानिक वर्षों तक अनुसंधान करते हैं, कठिन श्रम करते हैं तब जाकर उन्हें अपने किसी आविष्कार में सफलता मिलती है । इतना ही नहीं, अनेक बार एक वैज्ञानिक जिस आविष्कार की सफलता के लिये प्रयत्न करता है वह अपने

जीवन में उसे पूरा नहीं कर पाता और उसके मरने पर दूसरा, तीसरा और इसी प्रकार कई बुद्धिशाली वैज्ञानिक अपने सम्पूर्ण जीवन को एक ही खोज में समाप्त कर देते हैं। एक का स्थान दूसरा लेता है, दूसरे का तीसरा और इसी प्रकार क्रम चलता रहता है। आज कई राष्ट्र चन्द्रलोक तक अपने रॉकेट आदि भेज रहे हैं, नित नए ऐसे बमों का आविष्कार कर रहे हैं जो अत्यल्प काल में ही अनेक नगरों को वीरान बनाने की सामर्थ्य रखते हैं। पर ये सब सफलताएँ क्या किसी एक व्यक्ति के जीवन काल में मिल सकी हैं? नहीं। वर्षों प्रयत्न करने पर और अनेकों व्यक्तियों के जीवन समाप्त हो जाने पर आज ऐसे बड़े-बड़े आविष्कार राष्ट्र कर पाए हैं।

मेरा आशय कहने का यही है कि जब भौतिक सफलताओं की सिद्धि में भी वर्षों लग जाते हैं और अनेक व्यक्तियों की जिन्दगियाँ उनमें क्रमशः समाप्त हो जाती हैं तो फिर मोक्ष जैसी सिद्धि को हासिल करने में कई जन्म लग जाएँ तो क्या बड़ी बात है? भगवान महावीर ने स्वयं सत्ताईस जन्मों तक प्रयत्न किया, और तब कहीं जाकर उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति हुई।

वृहत्कल्प भाष्य में कहा गया है—

जहा जहा अप्पतरो से जोगो,  
तहा तहा अप्पतरो से बन्धो ।  
निरुद्धजोगस्स व से ण होंति,  
अछिद्द पोतस्स व अंबुणाथे ॥

अर्थात्—जैसे-जैसे मन, वचन और काया के योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे बन्ध भी अल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूर्णतः निरोध होने पर आत्मा में बन्ध का सर्वथा अभाव होता जाता है। जैसे कि समुद्र में रहे हुए छिद्र रहित जहाज में जल का आगमन नहीं होता।

आशा है आप समझ गए होंगे कि आत्मा का कर्मों से पूर्णतया मुक्त होना कितना कठिन है और इसके लिए मन, वचन एवं शरीर पर कितना संयम रखना होता है। निविड कर्मों का बन्ध होने पर संवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोकना तथा उत्कृष्ट तप एवं साधना के द्वारा पूर्व कर्मों की निर्जरा करना कितना कष्टसाध्य श्रम है और यह कितने जन्मों का परिश्रम माँगता है।

तो चित्त को भी आत्म-मुक्ति के इसी प्रयत्न में अगले जन्म में भी संयम लेना पड़ा। किन्तु उनके भाई संभूति ने तो अपनी साधना के बदले चक्रवर्ती राजा होने का निदान कर लिया था अतः वे चक्रवर्ती राजा बने और ब्रह्मदत्त के नाम से जाने गये। इधर चित्त मुनि ने उग्र साधना की और जब अपने ज्ञान से जाना कि मेरा पूर्व जन्म का भाई ब्रह्मदत्त राजा बनकर सांसारिक भोगों में निमग्न हो गया है तो उन्हें तरस

आया कि वह इन भोगों के परिणामस्वरूप घोर कर्म-बन्धन करके आत्मा का अहित करेगा । ऐसा विचार आने पर करुणा के वश उन्होंने ब्रह्मादत्त को जगाने का निश्चय किया तथा उसको नाना प्रकार से प्रबुद्ध करने की कोशिश की ।

किन्तु परिणाम कुछ नहीं हुआ । ब्रह्मादत्त को अपने पूर्वजन्म के भाई की एक भी बात गम्य नहीं हुई और वह उसी प्रकार संसार के सुखों को भोगते हुए अन्त में कुगति को प्राप्त हुआ ।

एक भजन में कहा भी है—

‘चित्त कही ब्रह्मादत्त नहीं मानी,  
नरक गयो भोगों में राची ।’

बन्धुओ, ब्रह्मादत्त को नरक में केवल इसीलिये जाना पड़ा कि उसने अपने मन एवं इन्द्रियों पर संयम नहीं रखा । पूर्वजन्म में मुनि बनकर उग्र साधना की पर चक्रवर्ती की रानी को देखकर काम-भोगों की कामना की और फिर अगले जन्म में भी अपने भाई के द्वारा अनेक प्रकार से समझाये जाने पर भी नहीं समझा । परिणाम जो हुआ वह आप सुन ही चुके हैं ।

हीरे के बदले कंकर लेना मूर्खता है

यहाँ एक बात और ध्यान में रखने की है कि प्रत्येक साधक को निःस्वार्थ-भाव से साधना करनी चाहिये । अपनी साधना के फलस्वरूप कुछ भी पाने की लालसा अगर साधक मन में रखता है तो समझना चाहिये कि कोड़ी के मोल पर वह हीरा दे रहा है । सम्भवतः आप इस बात को नहीं समझे होंगे । मेरा आशय यह है कि त्याग, व्रत, तप एवं साधना का महत्व इतना ऊँचा होता है कि उत्कृष्ट भाव आ जायें तो आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त भी हो सकती है । किन्तु ऐसी उत्कृष्ट साधना के बदले अगर कोई साधक कुवेर जितना धन पा लेने की, चक्रवर्ती बन जाने की अथवा स्वर्ग में देवता हो जाने की कामना करता है तथा उसके लिये निदान कर लेता है तो उसकी सम्यक् साधना का जो महान फल प्राप्त होने वाला होता है वह मारा जाता है ।

हमारी बहनें अगर अठाई का तप करती हैं तो गाती हैं—

अठाई कियाँ रो काँई फल होसी ?  
अन्न होसी, धन होसी, पूताँ रो परिवार होसी ।

अब आप देखिये कि जिस तपस्या से उनके असंख्य कर्मों की निर्जरा होने वाली होती है, उस तपस्या के फलस्वरूप वे क्या माँगती हैं ? अन्न, धन और पुत्र-

पौत्र आदि । पर इन सबकी प्राप्ति से उन्हें क्या लाभ होता है ? केवल असंख्य कर्मों का और भी बन्धन होता । फिर ऐसी अज्ञान तपस्या से क्या फायदा है ?

चित्त मुनि को भी अपने दृढ़ संयम और उत्कृष्ट साधना से न जाने कितना सुन्दर फल मिलता किन्तु उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना के बदले चक्रवर्ती राजा होने का निदान किया तथा राजा होकर भोग-विलास के कारण इतने पाप-कर्मों का उपार्जन कर लिया कि फिर नरक में जाना पड़ा ।

इसीलिये कहा गया है—

**नम्रतथ निज्जरदृठयाए तवमहिदृठेज्जा ।**

—दशवैकालिक सूत्र ६-४

तपस्या केवल कर्म-निर्जरा के लिये करना चाहिये । इहलोक-परलोक तथा यश-कीर्ति के लिये नहीं ।

जो मव्य प्राणी इस बात को भलीभांति समझ लेते हैं उनका चित्त शांत, पवित्र एवं निस्वार्थ भावनाओं से परिपूर्ण रहता है तथा वे अपने मन, वचन और शरीर, इन तीनों योगों को संयमित रखते हैं । अगर वे ऐसा न करें तथा मन व इन्द्रियों को मनमानी करने दें तो फिर भविष्य के लिये क्या अर्जन कर सकेंगे ? कुछ भी नहीं ।

**नफे का व्यापार करना है, धाटे का नहीं**

आप गृहस्थ हैं और भलीभांति जानते हैं कि व्यवसाय में पहले पूंजी लगाई जाती है और उससे नफा मिलता है । आप उस नफे के द्वारा ही अपने घर का खर्च चलाते हैं तथा इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं कि आमदनी से अधिक खर्च न हो जाय । अगर आमदनी से अधिक खर्च करेंगे तो धीरे-धीरे मूल पूंजी समाप्त हो जाएगी और आप कोरे के कोरे रह जाएँगे, पेट भरना भी कठिन हो जाएगा । इसलिये बड़ी सतर्कतापूर्वक आप मूल पूंजी को सुरक्षित रखते हुए इसी प्रयत्न में रहते हैं कि घर का खर्च चलता रहे, ऊपर से दो पैसे बच भी जायँ और अगर किसी का कर्ज लिया हुआ हो तो वह भी अदा किया जा सके ।

ठीक यही हिसाब आध्यात्मिक क्षेत्र में भी होना चाहिए । प्रत्येक आत्मार्षी को यह विचार करना चाहिये कि हम पापरूपी कर्ज और पुण्य रूपी पूंजी साथ में लेकर इस मनुष्य योनि में आए हैं । यद्यपि पाप-रूपी कर्ज हमें तब तक दिखाई नहीं देता, जब तक धनाभाव, शारीरिक रोग या अन्य संकटों के रूप में उनका सामना नहीं होता । किन्तु मानव जन्म, उच्च कुल, उच्च जाति, उच्च धर्म एवं सद्गुरु आदि के संयोग के रूप में पुण्य की प्राप्ति का पता चल जाता है ।

इसलिये इन सब पुण्य-संयोगों को पूँजी मानकर हमें चाहिये कि इसके द्वारा शुभ-कर्मों का संचय नफे के रूप में करें तथा तप एवं त्याग से पूर्व-उपाजित पाप-कर्मों के कर्जों को भी अदा करते चलें। अगर हमने ऐसा नहीं किया यानी पुण्य रूपी पूँजी को केवल सांसारिक सुखोपभोगों में समाप्त कर दिया और त्याग, तप, साधना एवं संयम के अभाव में पूर्व कर्मों की निर्जरा नहीं की यानी उस कर्ज को नहीं चुकाया तो फिर क्या होगा ? पुण्य-रूपी पूँजी नष्ट हो जाएगी, भविष्य के लिये शुभ-कर्म रूपी दो पैसों का संग्रह नहीं होगा तथा पहले का पाप रूपी कर्ज भी ज्यों का त्यों बना रहेगा। ऐसी स्थिति में आगे क्या होगा इसका अन्दाज आप स्वयं ही लगा सकते हैं। बिना पूँजी के और बिना कुछ संचय किये आप अपनी मंजिल तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं ? फिर तो यही संसार है और इसी में इतस्ततः भटकते रहना है।

इसीलिये बन्धुओ, हमें घाटे का व्यापार नहीं करना है। वरन हर हालत में नफे के विषय में सोचना है। और नफा तभी मिल सकेगा जबकि अपने मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों योगों को हम नियन्त्रण में रखकर आत्मा की शक्ति को निरर्थक नहीं जाने देंगे। हमारी आत्मा में तो अनन्त शक्ति है और चाहने पर इसके द्वारा हम सम्पूर्ण पूर्वोपाजित कर्म-रूपी कर्जों को चुकाकर नफे के रूप में मोक्ष हासिल कर सकते हैं। किन्तु इसके लिये चाहिये केवल संयम। मन एवं इन्द्रियों पर संयम रखे बिना केवल ऐसी चाह रखना आकाश के तारे तोड़ने की इच्छा के समान निरर्थक है।

संयति या साधु आत्मा की शक्ति को पहचान लेते हैं और इसीलिये अपने तीनों योगों पर पूरा संयम रखते हैं। साधु अत्यन्त कम और सीमित वस्त्र रखते हैं। वह क्यों ? क्या श्रावक उन्हें वस्त्र नहीं देना चाहते ? नहीं, श्रावक तो साधु के समक्ष वस्त्रों का अंबार लगा सकते हैं। पर साधु स्वयं ही लेना नहीं चाहते। अपनी लज्जा ढकने के अलावा अधिक वस्त्र रखने को वे परिग्रह मानते हैं और फिर व्यर्थ का बोझा उठाये क्यों ?

इसी प्रकार आहार के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। आप गृहस्थ हैं और आपका अपना एक-एक घर है फिर भी आप अच्छे से अच्छा भोजन करते हैं। किन्तु साधु के लिए तो अनेक घर हैं। वह चाहे तो नीरस भोज्य-पदार्थों वाले घरों को छोड़ कर अन्य अनेक घरों से मेवा, मिष्टान्न और सरस से सरस भोज्य-पदार्थ ला सकते हैं। श्रावक अच्छी से अच्छी वस्तु साधु को बहराने के लिए उत्सुक रहते हैं। किन्तु साधु क्या ऐसी भावना मन में रखते हैं ? नहीं, वे मेवे-मिष्टान्न को शरीर में प्रमाद एवं आलस्य लाने वाली हेय वस्तुएँ मानते हैं। वे केवल इतना ही ध्यान रखते हैं कि शरीर को चलाने के लिए कुछ न कुछ उदर में डालना है। जीम के स्वाद की उन्हें परवाह नहीं होती। अनेक संत-सती तो समस्त खाद्य-पदार्थों को एक ही पात्र में लेकर एक

द्रव्य के रूप में भ्लानि रहित होकर ग्रहण करते हैं। साथ ही उसे भी ठूस-ठूस कर पेट में नहीं भरते, ऊनोदरी तप का भाव मन में रखते हुए अल्पाहार करते हैं। अल्पाहार साधना में सहायक बनता है। इस विषय में कहा भी है—

अल्पाहारस्स न इंदियाइं विसएसु संपत्तन्ति ।

नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए थावि ।।

—बृहत्कल्प भाष्य-१३३१

अर्थात्—जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषय-भोग की ओर नहीं दौड़तीं। तप का समय आने पर भी वह कलांत नहीं होता और न ही सरस भोजन में आसक्त होता है।

इस प्रकार मुनि अपनी इन्द्रियों पर संयम रखने के लिए शुद्ध, चाहे वह रूखा-सूखा और नीरस हो, ऐसा अल्पाहार लेते हैं, परिग्रह तनिक भी न बढ़े इस दृष्टि से कम से कम वस्त्र रखते हैं तथा वस्त्रों के अभाव में घास-फूस एवं तृणादि पर सोकर उनके चुभने से होने वाली पीड़ा को पूर्ण शान्ति एवं समभाव रखते हुए सहन करते हैं तथा अत्यधिक शीत एवं ग्रीष्म से तनिक भी न घबराते हुए अपनी साधना समीचीन रूप से हृद बनाते चलते हैं और यह सब तभी होता है, जबकि वे अपनी इन्द्रियों पर संयम रखते हैं तथा मन को पूर्ण रूप से काबू में किये रहते हैं। संयति अर्थात् संयमी के यही लक्षण है। वह अपनी पुण्य रूपी पूंजी और आत्मिक शक्ति को इन्द्रियों की तृप्ति में व्यर्थ खर्च नहीं करता अपितु उसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप की आराधना में लगाकर अनेक गुना नफा हासिल करता है।

एक कवि ने इसी विषय को लेकर अपने एक भजन में कहा है—

क्या हटड़ी रहा खोला, बनज कुछ करले उस घर का ।

मन दाण्डी को ठीक सुधाले, तन के मोस पालडे पाले ।

धर्म जिनस नित तोल, खौफ दिल में रख दिलवर का ।

कवि चेतावनी देता हुआ कह रहा है—

“अरे मानव ! तू इस संसार के बाजार में सांसारिक पदार्थों का ही व्यापार क्या कर रहा है ? इस हाट में खुली हुई दुकान से कमाया हुआ धन आगे चलकर तेरे क्या काम आयगा ?”

“इसलिए व्यापार ही करना है तो कुछ उस घर यानी परलोक के लिए भी तो कर ले ! अनीति, अधर्म और बेईमानी से कमाया हुआ जड़ द्रव्य तो यहीं पड़ा रह जायगा, केवल उसके द्वारा उपाजित अशुभ कर्म ही आत्मा के साथ रहेंगे। पर वे उलटे कुगति में ले जाकर कण्ट पहुँचायेंगे।”



कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य चाहे साधु बन जाय या गृहस्थावस्था में रहे, वह अपनी प्रत्येक क्रिया धर्ममय बनाये रखे। मैं यह नहीं कहता कि आप सब साधु बन जायें। मैं तो केवल यह कहता हूँ कि आप व्यापारी हैं, व्यापार करना आपके लिए आवश्यक भी है। पर आपको इतना अवश्य करना चाहिए कि झूठ बोल कर, बेईमानी करके अथवा अनीति से अर्थ का उपार्जन न करें। ऐसी बात तो है नहीं कि ऐसा किये बिना आपका व्यापार चल ही नहीं सकता। अरे भाई ! आपको जिस वस्तु में दो पैसे का नफा लेना है तो स्पष्ट कहो कि हमें दो पैसे का ही लाभ है अतः इससे कम नहीं ले सकता। पर दो पैसे का नफा कहकर आप ग्राहक से चार पैसे क्यों वसूल करते हैं ? यह तो झूठ बोलकर दो पैसे अधिक लेना हुआ। अगर आप झूठ न बोलें और दो पैसे ही एक पदार्थ के नफे के रूप में लें तो क्या होगा ? यही तो कि आपको नफा कुछ कम होगा। सत्य बोलकर आप घाटे में तो नहीं रहेंगे ? तो सच बोलने से भले ही आपकी आमदनी कुछ कम हो जाय, पर आपकी आत्मा तो शान्ति का अनुभव करेगी। इसके अलावा अनीति से अधिकाधिक धन कमाकर भी आप क्या करेंगे ? आप खायेंगे उतना ही जितना पेट में समायेगा और पहनेंगे भी इतना ही जितने से लज्जा ढक जाय। उससे अधिक जो पैसा बचेगा वह बैंकों में पड़ा रहेगा, या आभूषणों के रूप में सेठानियों की पेटियों में रहेगा पर उससे आपको क्या लाभ होगा ? जिस दिन इस संसार से विदा होंगे, सब यहीं वैसे ही पड़ा रह जायगा।

तो बंधुओ ! सत्य एवं नीति से थोड़ा कमाकर भी आप आनन्द से पेट भर सकते हैं तथा अपनी जरूरतें पूरी कर सकते हैं। पेटियाँ भरने से कोई लाभ नहीं है। वे तो यहीं भरी रह जायेंगी और आत्मा उस अनीति एवं असत्य के कारण कर्मों का भार लाद चलेगी। इससे अच्छा तो यही है कि अन्याय, असत्य और अनीति का त्याग करके यहाँ भाँ हम हलके रहें और परलोक में जाने वाली आत्मा भी हलकी रहकर ऊँचाई की ओर बढ़े। धर्ममय व्यापार करके थोड़ा नफा होने पर व्यक्ति को कोई हानि नहीं है, किन्तु अधर्म पूर्वक अधिक धन संग्रह करने से बड़ी हानि होती है।

मैंने अभी आपको बताया है कि व्यापार करने के लिए अधर्म का सहारा लेना तनिक भी आवश्यक नहीं है। अगर व्यक्ति चाहे तो बड़े-बड़े साम्राज्यों का संचालन भी धर्मपूर्वक कर सकता है। एक उदाहरण से आप इस बात को भली-भाँति समझ लेंगे।

**पापोपार्जित धन नहीं चाहिए**

कहा जाता है कि एक बार महर्षि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने अपने पति से कहा—“भुझे कुछ गहने बनवा दीजिये।”

ऋषि अपनी पत्नी की यह बात सुनकर चकित रह गये, क्योंकि अभी तक कभी भी उसने आभूषणों की इच्छा प्रपट नहीं की थी।

वे बड़े आश्चर्य से बोले—“देवी ! आज यह विचित्र इच्छा कैसी ? जीवन में अभी तक तो तुमने कभी गहनों की चाह की नहीं, पर अब इस कामना का क्या कारण है ?”

लोपामुद्रा बोली—“यह ठीक है कि मैंने अभी तक कभी आमूषण नहीं पहने, पर मेरी सहेलियाँ मुझे सदा ही इस अभाव के लिए ताने देती रहती हैं, अतः मैं भी आमूषण पहनकर उनके व्यंग-वाणों से बचना चाहती हूँ।”

महर्षि पत्नी की सित्रयोचित भावना को समझ गये पर बोले—“देखो, मैं तुम्हारे लिए आमूषणों का प्रबन्ध करने जाता हूँ। किन्तु एक शर्त है, वह यही कि मैं अन्याय अथवा अधर्म से उपाजित धन को प्राप्त करके तुम्हारे लिए आमूषण नहीं लाऊँगा। अगर कहीं धर्म एवं नीति से अजित धन मिल गया तो ही तुम्हारे लिए आमूषण ला सकूँगा।” पत्नी ने इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

अब अगस्त्य ऋषि ने सोचा कि सर्वप्रथम अपने भक्त राजा श्रुतर्वा के यहाँ चला जाय, सम्भवतः उसके यहाँ मेरी अभीष्ट-सिद्धि हो जायगी। यह विचार कर वे राजा श्रुतर्वा के राज्य में जा पहुँचे।

राजा ने महर्षि को ज्यों ही देखा, उसका हृदय अपार हर्ष से गद्गद् हो गया। अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा से उसने ऋषि का स्वागत-सत्कार किया तथा उनके आने का उद्देश्य पूछा। ऋषि ने सहज भाव से अपने आने का उद्देश्य बता दिया पर साथ ही यह भी कह दिया—

“राजन् ! मैं केवल वही धन स्वीकार करूँगा, जो तुमने धर्मपूर्वक अपनी प्रजा के हित को ध्यान में रखते हुए अजित किया हो तथा उचित कार्यों में व्यय करने के बाद बचा हो।”

राजा ने महर्षि अगस्त्य की बात को गम्भीरतापूर्वक सुना और तब उनसे प्रार्थना की—“भगवन् ! आप स्वयं ही राज्य के कोषाध्यक्ष से आय-व्यय का हिसाब समझ लें तथा आपके योग्य अर्थ हो तो स्वीकार करें।”

ऋषि ने ऐसा ही किया और स्वयं जाकर कोष का हिसाब देखा। पर उसे देखने पर मालूम हुआ कि यद्यपि कोष का समस्त धन धर्म एवं न्यायोपाजित है किन्तु आवश्यक कार्यों में व्यय करने के पश्चात् उसमें बचत कुछ नहीं है। जमा और खर्च समान है।

ऐसी स्थिति में महर्षि को धन प्राप्त नहीं हो सका किन्तु अपने शिष्य राजा श्रुतर्वा की सत्य, न्याय एवं धर्ममय वृत्ति को देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ और उसकी सराहना करते हुए वे दूसरे शिष्य राजा धनस्व के यहाँ पहुँचे।

राजा धनस्व से भी ऋषि ने अपने आने का उद्देश्य और उसके साथ जुड़ी हुई शर्तें बताईं। किन्तु धनस्व भी तो अगस्त्य का शिष्य था। उसके राज्य कोष का भी वही हाल था। हिसाब देखने पर स्पष्ट ज्ञात हो गया कि श्रुतर्वा के समान यहाँ भी कोष में आया हुआ धन न्यायोपाजित है और आवश्यकता के जितना ही है, अधिक नहीं।

महर्षि को यहाँ भी अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली किन्तु अपने शिष्य से उन्हें जैसी आशा थी, वह पूर्ण होने से असीम प्रसन्नता हासिल हुई। अपने शिष्य के लिए महान गौरव का अनुभव करते हुए वे इसी प्रकार अपने और भी कई शिष्यों के पास गये किन्तु सभी के यहाँ उन्होंने धन का सन्तुलन व्यवस्थित एवं संतोषजनक पाया। इस बात पर उन्हें बड़ी खुशी हुई कि उनके सब शिष्य नीति के मार्ग पर चल रहे हैं।

किन्तु उन्हें तनिक क्षोभ भी इस बात का था कि वे अपनी पत्नी की इच्छा पूरी नहीं कर पाए हैं। मन ही मन दुखी होते हुए वे घर की ओर आ रहे थे कि मार्ग में उन्हें इल्वण नामक दैत्य मिल गया। इल्वण ने भी ऋषि को चिन्तातुर देखकर कारण पूछा और ऋषि ने अपनी चिन्ता का हाल बता दिया।

इल्वण महर्षि की बात सुनकर बोला—“महाराज ! आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं ? मेरे पास अपार धन है और उसमें से आप जितना चाहें ले सकते हैं।”

अगस्त्य ऋषि इल्वण के महल में भी गये। किन्तु अपनी शर्त उन्होंने वहाँ भी नहीं छोड़ी और इल्वण के यहाँ का हिसाब-किताब देखने लगे। पर उसे देखने पर ज्ञात हुआ कि इल्वण का सारा धन अन्याय, क्रूरता एवं अनैति से पैदा किया गया है, इसके अलावा उसे कभी उत्तम कार्यों में खर्च नहीं किया गया है। इसलिए वह बढ़कर बड़ी भारी राशि बन गया है।

यह देखकर महर्षि ने सोचा—“इस पापोपाजित धन से पत्नी के लिए आमूषण बनवाना उचित नहीं है और अगर ऐसा किया भी तो उसके लिये हितकर नहीं होगा।”

यह विचार कर उन्होंने इल्वण का एक पैसा भी नहीं लिया और खाली हाथ अपने आश्रम में लौट आए। ऋषिपत्नी लोपामुद्रा ने जब पति को खाली हाथ आते देखा तो उसका चेहरा गहरी उदासी और निराशा से भर गया।

इस पर महर्षि ने पत्नी को समझाते हुए कहा—“देवी ! मैंने तुम्हारे आमूषणों के लिए धन प्राप्त करने की बहुत कोशिश की किन्तु सफलता नहीं मिल सकी। इसका कारण यही है कि जो व्यक्ति धर्मपूर्वक कमाई करते हैं तथा उदारतापूर्वक

उसका व्यय करते हैं उनके पास धन का संग्रह ही नहीं पाता और जो कृपण अथवा परिग्रही पुरुष अनीति एवं अधर्म की कमाई करते हैं, उनके पास धन तो विपुल होता है, किन्तु उसे लेना हमारे लिए उचित नहीं है।”

“अनीतिपूर्वक कमाये हुए धन का उपयोग करने से हमारे आदर्श नष्ट होते हैं, बुद्धि में विकार आ सकते हैं तथा हमारी साधना अशुद्ध हो जाती है, उसमें दृढ़ता एवं निस्वार्थता नहीं रहती। अनीति द्वारा उपाजित अपवित्र धन के द्वारा आमूषण बनवाकर पहनने से तुम्हारा कभी कल्याण नहीं हो सकता। इसके अलावा तुम्हारे सद्गुण और शील ही तुम्हें सुन्दर बनाए हुए हैं, फिर अन्य आमूषणों की आवश्यकता ही क्या है?”

साध्वी लोपामुद्रा ने पति की बात समझ ली तथा अपने आमूषण-प्रेम के लिए लज्जित हुई। वह यह भी समझ गई कि उसके पति अगस्त्य लक्ष्मी को तनिक भी नहीं चाहते और उसकी छाया से भी दूर रहने का प्रयत्न करते हैं।

सम्भवतः इसीलिए आचार्य चाणक्य ने अपने एक सुन्दर श्लोक में लक्ष्मी का कथन चित्रित किया है। श्लोक इस प्रकार है—

पीतोऽगस्त्येन तातश्चरणतल हतो वल्लभोऽन्येन रोषाद्,  
आबाल्याद्विप्रवर्षः स्ववदनविवरे धार्यते वैरिणी मे ।  
गेहं मे छेदयन्ति प्रतिदिवसमुमाकान्तपूजा-निमित्तं,  
तस्मात्स्त्रिभ्रा सदैव द्विजकुलनिसयं नाथ ! नित्यं त्यजामि ॥

चाणक्य ने बड़े मनोरंजक तरीके से लक्ष्मी की बात कही है, यानी यह बताया है कि लक्ष्मी झंझलाकर कह रही है—अगस्त्य ऋषि ने रष्ट होकर मेरे पिता समुद्र को पी डाला, मृगु ऋषि ने क्रोध के मारे मेरे पति विष्णु को लात मारी तथा बाल्यवय से ही ब्राह्मण मेरी दुश्मन सरस्वती को मुख में धारण करते हैं और उमा-पति शिव की पूजा के लिए मेरे गृह कमल को नित्य तोड़ लेते हैं—बस, इन्हीं कारणों से मैं ब्राह्मण कुल से सदैव दूर रहती हूँ।

बंधुओ, यह तो एक रूपक है जो मैंने आपके समक्ष रखा है, किन्तु इसका भाव यही है कि ऋषि, महात्मा, संन्यासी, साधु एवं सरस्वती के उपासक ज्ञानी पुरुष सदा लक्ष्मी से दूर ही रहना चाहते हैं क्योंकि लक्ष्मी यानी धन महा अनर्थों का मूल है और अगर इसके साथ कृपणता, लोभ, आसक्ति और अनीति भी जुड़ गईं तो फिर कहना ही क्या है।

इसीलिये हिन्दी के कवि ने मानव से कहा है कि तू इस भौतिक धन के संग्रह में क्यों जुटा हुआ है? अगर व्यापार ही करना है तो ऐसा धर्ममय व्यापार कर कि उससे प्राप्त हुआ लाभ तेरे अगले घर में भी साथ ले जाया जा सके।

पर आप मानते कहाँ हैं ? हाँ, मजबूरी की बात और है। साधु-संत तो आपसे सदा कहते आए हैं कि “किसी को कम न तोलो और ज्यादा मत लो”, लेकिन आप लोगों के देने और लेने के बांट अलग-अलग बने रहे। किन्तु सरकार ने जब एक ही बांट कर दिया कि इसी से दो और इसी से लो, अन्यथा दण्ड के भागी बनोगे तो आपको ऐसा करना पड़ा। ऊपर से जब तब आकर इन्सपेक्टर आपके बांटों की जाँच और कर लेता है। अतः आप दो प्रकार के बांट रखना भूल गए।

इसी प्रकार हम कहते रहे कि कम से कम पर्वोद्धाराज पर्युषण के आठ दिनों में व्यापार बंद रखो, और आठ दिन नहीं तो प्रारम्भ के एक दिन और अन्त के एक दिन संवत्सरी पर्व पर यानी केवल दो दिन ही दुकानें बन्द रखकर धर्माराधन किया करो। पर आपमें से अधिकांश इस बात को भी नहीं मानते। कभी-कभी लोक-लज्जा से बंद रखी भी तो पीछे के दरवाजे से या चुपके से अपना काम चाल रखते हैं।

किन्तु जब सरकार ने कानून बना दिया कि सप्ताह में एक दिन दुकान बन्द रखनी होगी तो मजबूरन सप्ताह में एक दिन यानी वर्षभर में बावन दिन दुकान बन्द करते हैं या नहीं ? इससे तो संतों की ही बात मान लेते तो क्या हर्ज था ? पर वह आपको गम्य नहीं हुआ, क्योंकि स्वेच्छा से करना था। वैसे अगर बीमार पड़ जायें तो फिर मले ही एक महीने या उससे भी अधिक दुकान बंद रह जाएगी। स्पष्ट है कि पराधीन होने पर आप ऐसा कर सकते हैं किन्तु स्वेच्छा से नहीं।

विचार करने की बात है कि आपने अब अपने तौल के बांट एक ही रखे और प्रति सप्ताह दुकानें भी बंद रखनी प्रारम्भ कर दीं, किंतु अगर उत्तम भावना और इच्छापूर्वक ऐसा किया होता तो बात ही दूसरी थी। उदाहरणस्वरूप—एक व्यक्ति विपुल धन संग्रह कर लेता है किंतु अभावग्रस्त व्यक्तियों के प्रति करुणा का भाव रखते हुए एक पैसा भी दान में नहीं देता। पर संयोगवश अगर डाकू आकर सारा धन लूट ले जाते हैं तो बन्दूक के डर से उन्हें देना पड़ता है और मिनटों में निकालकर वह दे देता है। किन्तु दान देने और डाकुओं को देने में कितना अन्तर होता है ? त्याग वही कहलाता है जो इच्छापूर्वक किया जाय। कमी-कमी तो अकाल आदि की स्थिति में लोगों के दीनतापूर्वक याचना करने पर भी सेठ लोग उन्हें पेट भरने के लिए कुछ अन्न नहीं देते, किन्तु वे ही लोग भूख सहन न कर सकने पर मिलकर छापा मार देते हैं और अन्न के गोदाम पूरे के पूरे ही गाठें बाँध-बाँधकर ले जाते हैं। पर वह अन्न का जाना उन सेठों के लिए दान नहीं कहला सकता और उससे उनके शुभ-कर्मों का बांध नहीं हो सकता।

कहने का अभिप्राय यही है कि त्याग स्वेच्छा से किया जाता है, मजबूर होकर दिये जाने को त्याग नहीं कहते। अपनी इच्छा से आप देना नहीं चाहते किन्तु इन्कम-

टैक्स, सैलटैक्स तथा इसी प्रकार जमीन, मकान आदि अनेक प्रकार के टैक्सों के रूप में आप लाखों रुपया सरकार को दे देते हैं। क्योंकि न देने पर वह कड़ाई से पेश आती है। इसका अर्थ यही है कि आप मधुरता से कही हुई बात को नहीं मानते, अपितु कड़वी जवान से झुकते हैं।

पर बन्धुओ, कड़ाई और मजबूरी से त्याग करने पर आपका क्या लाभ हो सकेगा? कुछ भी नहीं। आपका भला तो तमी हो सकेगा जबकि आप भगवान के वचनों पर विश्वास करते हुए संत-महात्माओं एवं ज्ञानी पुरुषों के मधुरता पूर्वक कहे गये उपदेशों को अमल में लाएँगे।

कवि भी आपको मीठे शब्दों में यही कह रहा है कि आप अगर उस घर के लिए अर्थात् परलोक के लिए कुछ कमाना चाहते हैं तो मन रूपी तखड़ी (तराजू) की डंडी ठीक रखें। अर्थात्—मन का सन्तुलन बराबर बनाए रखें ताकि आपके व्यापार से अनीति, अन्याय एवं अधर्म दूर रहें और आपकी मन रूपी डंडी इनकी ओर न झुके। परिणाम यह होगा कि आपका शरीर और वचन जो दो पलड़ों के रूप में है, वह बराबर और संतुलित रहेगा।

अब विचार यह करना है कि इन पलड़ों के द्वारा क्या तौलना चाहिए? कवि का कथन है कि इनके द्वारा हमें धर्म रूपी वस्तु को तौलना है। यानी नव तत्व, छः काया, चौबीस दंडक एवं पच्चीस क्रियाओं का ज्ञान करना है। इनके बिना आत्मा का उत्थान नहीं होता और वह घोर कष्ट में जा पड़ती है। इसलिए जिनेश्वर प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए हमें प्रतिक्षण आत्म-हित के व्यापार में जुटा रहना है।

आगे कहा गया है—

**विषय पाँचों से दिल कर न्यारा, नफा तुझको बेंगे प्यारा।**

**ले पाँचों को जीत, पास हासिल कर शिवपुर का।**

हमारे पाँच इन्द्रियाँ हैं। इनके असंयमित होने के कारण ही कर्म-बन्धन होता है, इसलिए इन पाँचों को अपने विषयों से अलग रखना है। ये इन्द्रियाँ वेकाबू होकर आत्मा को अत्यन्त हानि पहुँचाती हैं। नफा जरा भी नहीं होने देती। इसके अलावा यह भी आवश्यक नहीं है कि ये पाँचों मिलकर ही प्राणी का नुकसान करती हैं। इनमें से प्रत्येक ही इतनी जवर्दस्त है कि वह अकेली ही जीव को भारी नुकसान पहुँचा सकती है।

अभी इस विषय में कहा भी है—

**“कुरंग, मातंग, पतंग, भृगाः, मीना हताः पंचभिरेव पंच।”**

अर्थात्—हरिण, हाथी, पतंग, भ्रमर एवं मछली, एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर ही प्राणनाश को प्राप्त होते हैं ।

हरिण श्रोत्रेन्द्रिय के विषय संगीत का रसिक है । अतः गीत सुनकर इतना मुग्ध हो जाता है कि अपने पकड़ने वाले का ध्यान भी नहीं रख पाता और कैद कर लिया जाता है ।

हाथी को पकड़ने वाले व्यक्ति भी एक बड़ा भारी गड्ढा खोदकर मिट्टी आदि किसी पदार्थ से हथिनी का आकार बनाकर उसे गड्ढे में उतार देते हैं । और हाथी जब आता है तो स्पर्शेन्द्रिय के वश में होकर हथिनी को पाने के लिए उसमें गिरकर पकड़ लिया जाता है ।

तीसरा जन्तु पतंग है । इसके विषय में आप सभी जानते हैं कि पतंग चक्षु-इन्द्रिय के आकर्षण में पड़कर दीपक पर तब तक मंडराता रहता है, जब तक कि जलकर भस्म नहीं हो जाता ।

अब आता है भृंग । भृंग यानी भ्रमर, जो कि लकड़ी में भी छेद कर देने की शक्ति रखता है, किन्तु घ्राणेन्द्रिय पर काबू न रख पाने के कारण पुष्प में कैद होकर समाप्त हो जाता है ।

इसी प्रकार मछली रसनेन्द्रिय के लालच में पड़कर प्राण गँवाती है । मच्छी-मार काँटे में आटा लगाकर उसे जल में डालते हैं और उस आटे का रसास्वादन करने के लिए मछली उसे मुँह में ले लेती है । परिणाम यह होता है कि काँटा उसके गले में फँस जाता है और वह काँटे समेत बाहर निकाल ली जाती है । उसके पश्चात् उसका क्या हाल होता है यह आप सब भली भाँति जानते हैं ।

तो ये पाँचों प्राणी एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर भी जब इतनी हानि उठाते हैं तो फिर वह मनुष्य जो पाँचों इन्द्रियों के प्रबल आकर्षण में पड़कर इनके विषयों को भोगते हैं, उनकी आत्मा आगे जाकर कितनी वेदना भोगेगी इसकी कल्पना किस प्रकार की जा सकती है ? अर्थात् नहीं की जा सकती । आत्मा को अनन्त काल तक कष्ट उठाना पड़ता है ।

इसलिए बन्धुओ, अगर हमें अपना जीवन सफल बनाना है तथा अपनी आत्मा को भविष्य के अनन्त कष्टों से बचाते हुए उसे अपने शुद्ध स्वरूप में लाना है तो मन एवं इन्द्रियों पर संयम रखने का प्रयत्न करना पड़ेगा । साथ ही सद्गुणों का संचय, साहस एवं उद्यम को अपने जीवन में लाना पड़ेगा । कायर और उद्यम शून्य व्यक्ति कभी अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते और ऐसी स्थिति में उनका मानव जन्म पाना न पाने के समान हो जाता है ।

सुभाषित रत्न मांडागार में तो यहाँ तक कहा गया है—

धिग् जीवितं ज्ञातिपराजितस्य,  
धिग् जीवितं व्यर्थ मनोरथस्य ।  
धिग् जीवितं शास्त्र-कलोज्जितस्य,  
धिग् जीवितं चोद्यमवजितस्य ॥

यानी—जो अपने स्वजनों से पराजित हो चुका है, व्यर्थ संकल्प-विकल्पों में उलझा रहने वाला है, शास्त्र एवं कला से शून्य है और निरुद्यमी है—उन सभी का जीवन धिक्कार के योग्य है ।

इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक आत्म-मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रतिपल कटिबद्ध और जागरूक रहे । अगर उसके जीवन में निष्क्रियता आ गई तो फिर मुक्ति की चाह मन में ही रह जाएगी और इस लोक से प्रयाण हो जाने पर अनन्त काल रूपी महासागर के अतल में विलीन हो जाएगी ।

हमारे यहाँ अनेक व्यक्ति आते हैं और कहते हैं—

“महाराज हम तो अज्ञानी हैं, हममें इतनी शक्ति कहाँ है जो कर्मों का नाश कर सकें । कर्मों का नाश तो तीर्थंकर जैसे महापुरुष ही कर सकते हैं । इस पंचम काल में हमारी क्या विसात है ?”

कैसी कायरता और पुरुषार्थहीनता की बात है यह । काल से मनुष्य की आत्मिक शक्ति में कौन सा अन्तर पड़ता है ? जो व्यक्ति आत्मशक्ति, आत्मज्ञान एवं आत्मा की महत्ता को समझ लेते हैं वे किसी भी काल में कर्मों से मुक्त हो सकते हैं और जो इनमें विश्वास नहीं रखते तथा आत्म-मुक्ति का प्रयत्न ही नहीं करते, वे किसी भी काल में आत्मा को संसार से मुक्त नहीं कर पाते ।

लोग कहते हैं भगवान महावीर तीर्थंकर थे और उस काल में होने के कारण मोक्ष-नामी बने । किन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या गोशालक भी उसी काल में नहीं हुआ था ? राम के समय में रावण और कृष्ण के समय में कंस नहीं था ? इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि काल आत्मा की मुक्ति और बन्ध में कारण नहीं बनता । वही आत्मा संसार-मुक्त होती है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप की आराधना करती हुई अपने उद्यम से साधना पथ पर निरन्तर बढ़ती चली जाती है और इसके विपरीत वह आत्मा संसार परिभ्रमण करती है जो आत्म-शक्ति एवं आत्म-ज्ञान पर विश्वास न रखती हुई पुरुषार्थहीन और कायर बनी रहकर यहाँ से प्रयाण कर जाती है ।

पुरुषार्थ और उद्यम का महत्व बताते हुए पंच-तन्त्र में कहा गया है—

हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः,  
किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो ।



दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः  
 किं दीपमात्रं तमः ।  
 वज्रोणाभिहताः पतन्ति गिरयः,  
 किं वज्रमात्रो गिरि—  
 स्तेजो यस्य विराजते स बलवान्,  
 स्थूलेषु कः प्रत्ययः ॥

अर्थात्—हाथी इतना विशालकाय होने पर भी अंकुश के आधीन रहता है तो क्या अंकुश हाथी के बराबर है ? छोटा सा दीपक जलते ही वर्षों का घोर अंधेरा क्षण भर में नष्ट हो जाता है तो क्या अंधकार दीपक के बराबर ही है ? वज्र का प्रहार लगने पर बड़े-बड़े पर्वत गिरा दिये जाते हैं तो क्या पर्वत वज्र के बराबर है ? नहीं, वास्तव में बलवान एवं प्रतापी वही है जो पुरुषार्थी एवं उद्यमी है ।

बन्धुओ ! इस श्लोक से आप समझ गए होंगे कि आकार-प्रकार से बड़ा और विशाल होने से ही कोई अपरिजेय नहीं हो जाता । हाथी, अंधकार एवं पर्वत भी लघु आकार वाले अंकुश, दीपक एवं वज्र से पराजित हो जाते हैं ।

इन उदाहरणों का रहस्य समझकर हमें भी कभी निराश नहीं होना चाहिए । छोटा-सा दीपक जैसे वर्षों से अंधेरी गुफा को क्षण भर में ज्योतिर्मान कर देता है, इसी प्रकार भले ही अनन्तकाल से हमारी आत्मा में अज्ञान का अंधकार छाया हुआ है, पर सम्यक्ज्ञान की ज्योति जलते ही वह समय मात्र में ही दूर किया जा सकता है । इसी प्रकार भले ही हमारी आत्मा निविड़ कर्मों से न जाने कब से बंधी है, किन्तु त्याग एवं तप की उत्कृष्टता से वे बन्धन शीघ्र ही टूट सकते हैं । आवश्यकता भावों के चढ़ने की है ।

जैसा कि कवि ने कहा है—“भाई ! तू इन पाँचों इन्द्रियों को जीतकर शिवपुर का पास हासिल कर ले ।” यह कोई अनहोनी बात नहीं है । अगर साधक सच्चा संयति है और पूर्ण संयमी है तो वह अपने मन एवं इन्द्रियों को कुमारगंगामी बनने से रोकता हुआ अपनी साधना में सहायक बना सकता है और उस स्थिति में शिवपुर यानी मोक्ष का टिकिट हासिल कर लेना कठिन नहीं है । वह तो मिलकर ही रहेगा । ठीक उसी प्रकार, जैसे किसान बीज बोता है तो वे अंकुरित हुए बिना नहीं रहते । वह बात दूसरी है कि अतिवृष्टि या अनावृष्टि हो तो बीज नष्ट हो जाय । यह स्थिति तो कच्चे साधक के लिए भी आ सकती है, अगर वह अपनी साधना से विचलित हो जाय या निराश होकर मार्ग छोड़ दे ।

अन्त में मुझे केवल यही कहना है कि आज हमने ‘संयति’ शब्द को लिया था और इसी प्रसंग में मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों योगों पर संयम रखने से किस प्रकार आत्मा को लाभ होता है, यह आपके समक्ष संक्षेप में रखा गया है ।

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

‘श्री उत्तराध्ययन’ सूत्र के दूसरे अध्याय की चौतीसवीं गाथा पर विवेचन चल रहा है। गाथा में संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों में से पैंतीसवाँ भेद ‘नृण परिषह’ है। इस परिषह को कौन सहन कर सकता है? वही, जो मर्यादित एवं बहुत कम वस्त्र रखते हैं और मन की विशेष अवस्था हो जाने पर बिलकुल भी वस्त्र नहीं रखते। साथ ही पूर्णतया रूखी वृत्ति अपना लेते हैं।

कल मैंने बताया था कि इन्द्रियों और मन पर काबू रखने वाला साधक ही संवर-मार्ग पर बढ़ सकता है। मन और इन्द्रियों पर काबू रखने का अर्थ संयत रहना है। संयत रहने से शक्ति बढ़ती है। उदाहरणस्वरूप जो वाचाल होता है, प्रथम तो अधिक बोलते रहने से उसके दिमाग की नसें कमजोर होती हैं, दूसरे लोग उसका विश्वास नहीं करते अर्थात् उसका प्रभाव कम होता है। इसलिए वचन योग पर नियन्त्रण रखना उत्तम है, इससे व्यर्थ वाद-विवाद और गप्पबाजी में जो समय जाता है वह ज्ञान-प्राप्ति या अन्य शुभ-कर्मों में लगाया जा सकता है। यही हाल इन्द्रियों का है। अगर इन पर संयम रखा जाय तो वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप की आराधना में सहायक बनती हैं। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि इन चारों की आराधना तपस्वी ही कर सकते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा में अचेल-गस्स, लूहस्स, संजयस्स और इनके बाद तवस्सिणो शब्द आया है। यह तपस्वियों के लिए है।

**तपस्वी कौन कहलाते हैं ?**

आज अधिकतर व्यक्ति उपवास करने वालों को ही तपस्वी मानते हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है। हमारे शास्त्र तप के बारह प्रकार बताते हैं और उनमें से जिसकी आराधना की जाय, वही तप की श्रेणी में आ जाता है।

हमारा जैन धर्म तप और त्याग प्रधान है। इसके अनुसार केवल शरीर का पोषण करना और उसे सुख पहुँचाना आत्मा का शोषण माना गया है। भगवान ने

मोक्ष प्राप्ति के साधनों में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप को माना है तथा प्रकारान्तर से मोक्ष-साधना में दान, शील, तप और भाव को बड़ा भारी महत्व दिया है।

कहने का आशय यही है कि इन दोनों स्थितियों में तप का स्थान उल्लेखनीय एवं अनिवार्य है। क्योंकि तप से पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा होती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यया ।  
तपोऽग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥

अर्थात् जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त सोना अग्नि में तपकर शुद्ध बन जाता है, इसी प्रकार तप रूपी अग्नि में तपकर आत्मा शुद्ध और पवित्र हो जाती है।

तप जीवन के उत्थान का सर्वोपरि साधन या प्रमुख मार्ग है। तपश्चरण से सर्वोच्च पद तीर्थंकर गोत्र की उपलब्धि होती है। भगवान महावीर ने अपने पिछले जन्म में नन्दन भूपति के भव में ग्यारह लाख साठ हजार बार महीने-महीने के उपवास किये थे। वह इसीलिए कि उनके निविड़ कर्मों का बन्ध था अतः उन्हें नष्ट करने के लिए कठोर तप की आवश्यकता भी थी।

तप के द्वारा किस प्रकार आत्मा को जकड़े हुए असंख्य कर्मों का क्षय होता है, इस विषय में भगवान महावीर ने फरमाया है—

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।  
उस्सच्चिणाए तवणाए, कमेणं सोसणाभवे ॥  
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे ।  
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३०, गा. ५-६

अर्थात्—जैसे किसी बड़े तालाव का जल उसका रास्ता रोक देने से, सिंचाई करने से तथा सूर्यादि के ताप से धीरे-धीरे सूख जाता है, इसी प्रकार संयमशील मुनि के द्वारा पाप कर्म रोक दिये जाने पर यानी संवर की आराधना करने पर, और फिर तप किये जाने पर करोड़ों जन्मों के संचित पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं।

आशा है आप तप का महत्व समझ गए होंगे, अब मुझे यह बताना है कि तप कितने प्रकार का होता है और किस प्रकार वे सभी अंग कर्मों की निर्जरा में कारण बनते हैं।

जैनागमों में तप को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा गया है (१) बाह्यतप एवं (२) अन्तरंग तप। इन दोनों के भी छः-छः प्रकार हैं।

### बाह्य तप

अनशन, ऊनादरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश एवं प्रतिसंलीनता ये बाह्य तप कहलाते हैं ।

### अन्तरंग तप

प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान एवं व्युत्सर्ग ये अंतरंग तप हैं ।

इस प्रकार बाह्य और अंतरंग, सभी मिलाकर बारह तप कहलाते हैं तथा सभी समान महत्त्व रखते हैं । अतः केवल उपवास करने वाले को ही तपस्वी नहीं जानना चाहिए । जिस साधक में जैसी क्षमता होती है, वह वैसा ही तप करता है । अगर कोई सन्त शारीरिक अशक्ति के कारण उपवास नहीं कर सकता, किन्तु अपने देव, गुरु एवं धर्म के प्रति आस्था एवं विनय भाव रखता है तथा कभी भी गुरु की अवहेलना नहीं करता, वह भी तपस्वी है । इसी प्रकार कोई सन्त विद्वत्तापूर्ण प्रवचन नहीं दे सकता, किन्तु ध्यान एवं स्वाध्याय करता है तथा चारित्र्य धर्म का पूर्णतया खयाल रखता हुआ परिषद्‌ओं को सहन करता है, अपनी प्रत्येक मूल के लिए गुरु के समीप आलोचना करता हुआ प्रायश्चित्त करता है तथा रसना-इन्द्रिय पर पूर्ण नियन्त्रण रखता हुआ निर्दोष भिक्षा लाकर समभावपूर्वक उसे ग्रहण करता है, वह भी तपस्वी है ।

इसीलिए एक पुराने मजन में कहा गया है—

एक-एक मुनिवर रसना त्यागी,  
 एक-एक ज्ञान रा भण्डार रे.....।  
 एक-एक मुनिवर व्यावचिया वैरागी,  
 ज्यांरा गुणां रो नहिं पार रे.....।  
 साधुजी ने बंदना नित-नित कीजं.....।

पद्य का अर्थ यही है कि कोई-कोई मुनि अपनी रसनेन्द्रिय पर नियन्त्रण रखते हैं तथा घी, तेल, मिष्ठान्न तथा दही आदि सभी रसों का त्याग करके दृढ़ता से मुनिवृत्ति का पालन करते हैं । श्री वेलजी ऋषि जी महाराज सिर्फ छाछ लेकर अपने शरीर को टिकाये रहते थे । यह देखकर कुछ व्यक्ति भावना एवं भक्ति के वश होकर छाछ में मक्खन की गोलियाँ रख देते थे । किन्तु ऐसा जानकर महाराज छाछ छानकर ग्रहण करते थे । ऐसा उन्होंने अनेक वर्षों तक किया । यद्यपि वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन रस-परित्याग तप से ही उनकी आत्मिक शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी । श्री उत्तमचन्द्र जी म० भी छाछ पर रहते थे । इसी प्रकार वेणीचन्द्र जी म० भी खान-पान को अत्यन्त तुच्छ मानकर ध्यान साधना एवं विनयादि तपों की उत्कृष्ट आराधना करते थे ।

भजन में कहा है—कोई-कोई मुनि ज्ञान के मंडार होते हैं। उदाहरण स्वरूप हमारे त्रिलोकऋषि जी म० के भाई तो सदा एकान्तर तप करते थे और स्वयं त्रिलोक-ऋषि जी म० ने सत्रह शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये थे। श्री उत्तराध्ययन सूत्र का पाठ तो वे ध्यानस्थ होकर ही करते थे। उनके रचे हुए अनेक पद्य एवं भजन आदि भी आज जन-जन भी जबान पर सुनने को मिलते हैं। पूज्य श्री अमोलकऋषि जी म० भी बड़े विद्वान एवं वक्ता थे तथा धर्म एवं ज्ञान के प्रचार में निरन्तर लगे रहते थे।

अनेक मुनि जो कि अधिक ज्ञान हासिल नहीं कर सकते तथा शारीरिक कारणों से उपवास आदि तप भी नहीं कर पाते वे पूर्ण मनोयोगपूर्वक सेवा में ही लगे रहते हैं। आपने मुनि नन्दिषेण की कथा कई बार सुनी होगी जिनकी सेवामावना की प्रशंसा देवलोक तक पहुँच गई थी।

आप जानते हैं कि प्रत्येक स्थान पर अच्छे और बुरे, दोनों प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं। आप स्वर्ग के नाम से बड़े प्रसन्न होते हैं तथा कामना करते हैं कि मरने के पश्चात् हमें स्वर्ग ही मिले। किन्तु स्वर्ग के देवताओं में भी कषाय, राग एवं द्वेषादि की भावना होती है तथा उनका जीवन पूर्ण अनियन्त्रित रहता है कभी कोई देव, दूसरे की ऋद्धि छीन लेने का प्रयत्न करता है और कभी कोई देव दूसरे की अप्सरा को ही चुरा लेता है। इसके परिणामस्वरूप उनमें मनोमालिन्य एवं लड़ाई-झगड़ चलते रहते हैं।

तो हमारा प्रसंग यह चल रहा था कि नन्दिषेण मुनि के उत्कृष्ट ब्यावृत्त्य की प्रशंसा स्वर्ग में होने लगी तो दो देवों को यह प्रशंसा तनिक भी अच्छी नहीं लगी। मारे जलन के उन्होंने मुनि की परीक्षा लेने का विचार किया और अविलम्ब दो मुनियों का रूप धारण करके मर्त्यलोक में आ पहुँचे।

एक मुनि तो जंगल में रोगी का रूप बनाकर लेट गया और दूसरा नन्दिषेण मुनि के निवास स्थान पर जा पहुँचा। मुनि उस समय आहार ग्रहण करने के लिए बैठे ही थे कि मुनि रूपधारी देव ने आकर नन्दिषेण जी को फटकारते हुए कहा—

“वाह ! अच्छे मुनि हो तुम ? शर्म आनी चाहिए तुम्हें कि समीप के वन में ही एक मुनि भयंकर विशूचिका रोग से ग्रसित पड़े हैं और तुम आनन्द से यहाँ भोजन कर रहे हो।”

“मेरी बड़ी गलती हुई महाराज ! शीघ्र चलिए, ताकि मैं उन मुनिराज की यथासाध्य सेवा कर सकूँ। कृपया मुझे मार्ग बताइये।” कहते हुए नन्दिषेण जी उसी क्षण उठ खड़े हुए और उस कृत्रिम रूपधारी मुनि के साथ रवाना हो गये। उन्होंने यह भी नहीं कहा कि मुझे जब मुनि के कहीं आस-पास में उपस्थित होने का पता नहीं था तो उनकी सार-सम्हाल न करना मेरा दोष कैसे हुआ ? वे तो अपनी ही भूल मानकर चुपचाप चल दिये।

कुछ समय पश्चात् नन्दिषेण जी एवं मुनि-रूपी देवता दोनों ही उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ रोगी मुनि लेटे हुए कराह रहे थे। उन्हें दस्तें लग रही थीं एवं उलटियाँ भी बराबर हुए जा रही थीं। नन्दिषेण जी बड़े चिन्तित हुए कि इस निर्जन स्थान पर जल एवं दवा आदि के अभाव में मैं किस प्रकार मुनि की सम्हाल करूँ ? अशक्त वे इतने थे कि उठकर चल भी नहीं सकते थे।

किन्तु सोच-विचार में उन्होंने समय नष्ट नहीं किया और वस्त्रादि से मुनि के शरीर को कुछ साफ करके उन्हें अपनी पीठ पर उठाकर अपने स्थान की ओर रवाना हो गए ताकि वहाँ लेजाकर दवा, पथ्य एवं परिचर्या, सभी के द्वारा उन्हें शीघ्र स्वस्थ किया जा सके। दूसरे मुनि उनके साथ हो लिये।

मुनि नन्दिषेण जी यथासाध्य सावधानी से चल रहे थे ताकि अस्वस्थ मुनि-राज को कष्ट न हो। पर मुनि तो कृत्रिम रोगी थे अतः उन्होंने नन्दिषेण जी की पीठ पर चढ़े-बढ़े ही दस्त एवं उलटियों से उनके सम्पूर्ण शरीर को लथपथ कर दिया। साथ ही भयंकर दुर्गंध फैला दी जो कि साधारण व्यक्ति के लिए सहन करना कठिन होता।

किन्तु धन्य थे नन्दिषेण मुनि, जिनके चेहरे पर उस समय एक शिकन भी नहीं आई। पीठ पर भारी बोझ, गन्दगी से भरा हुआ शरीर और ऊपर से असह्य दुर्गंध, पर साथ ही रोगी मुनि के जबान से निकली हुई गालियाँ तथा पीठ पर दरों से किये जाने वाले प्रहार भी। पर स्वर्ग तक जिनकी प्रशंसा पहुँच जाए, वे मुनि क्या डिग सकते थे ? नहीं, वे सभी कुछ पूर्ण शान्ति, समभाव एवं सेवा का अवसर मिलने की आन्तरिक खुशी के साथ सहन करते हुए अस्वस्थ मुनि को अपने निवास स्थान पर ले आए तथा गाँव के घरों में से जल लाकर उनके शरीर को एवं वस्त्रों को स्वच्छ किया तथा उपयुक्त दवा आदि लाकर उन्हें दीया।

बस इतना ही काफी था। देवताओं को अपनी भूल समझ में आ गई कि उन्होंने मुनि नन्दिषेण की प्रशंसा से ईर्ष्या एवं जलन के कारण उन्हें कष्ट दिया तथा नाना प्रकार के दुर्वचन कहे। वे भली-भाँति समझ गए कि मुनि के वैयावृत्य की प्रशंसा सत्य है तथा उनका सेवाभाव सराहनीय है। यह निश्चय होते ही वे अपने असली रूप में आ गये और मुनि से अपने कटु एवं दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगकर अपने स्थान को लौट गये।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि सेवा करना भी कितना महान तप है और उसे करने वाला अपनी आत्मा को कितनी शुद्ध एवं उन्नत बना लेता है। इसीलिए भजन में कहा गया है कि कोई मुनि रसों का परित्याग करने वाले होते हैं, कोई ज्ञानी होते हैं, कोई सेवाभावी होते हैं तथा इसी प्रकार जिस तरह के तप करने की उनमें क्षमता होती है, करते हैं। बारहों प्रकार के तप महत्वपूर्ण हैं, किसी का भी कम या

ज्यादा महत्व नहीं होता। पर वह भावना पर आधारित है। प्रशंसा, सराहना, सिद्धि या लोक प्रसिद्धि के लिए कोई भी तप किया जाय, वह फलहीन बन जाता है। और तप ही क्या, कोई भी धर्म-क्रिया किसी स्वार्थ या दिखावे के लिए की जाय तो वह सर्वथा निरर्थक साबित होती है। यही हाल तप का है। तपस्या करना एक प्रकार से उस घर यानी परलोक के लिए माल इकट्ठा करना है।

कल मैंने एक मजन की दो गाथाएँ कहीं थीं, आज आगे की गाथा कहता हूँ। इसमें भी साधक को व्यापारी बताते हुए आत्मिक व्यापार करने की प्रेरणा दी है। कहा है—

“जो तू बड़ा व्यापारी कहावे, क्या शिवपुर नहिं आढ़त पावै ?

माल जो भरे शिवपुरी का, काम है बड़े विलावर का।

क्या हटड़ी रहा खोला, बनज कुछ करले उस घर का।”

कवि का कथन है—अरे मानव ! तू तो बड़ा भारी व्यापारी कहलाता है और बड़ा व्यापारी बड़े हौसले वाला होता है। ऐसी स्थिति में व्यापार भी बड़ा करके सीधा मोक्षपुरी से संबंध क्यों नहीं करता ? वहाँ के लिये आढ़त क्यों नहीं भरता है ?

**बड़ा व्यापारी कौन ?**

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि कवि ने बड़े व्यापारी और छोटे व्यापारी में अन्तर क्या बताया है ? इस सांसारिक व्यापार को देखते हुए आप लोग जानते ही हैं कि बड़ा व्यापारी और छोटा व्यापारी किसे कहते हैं ? थोड़ा सामान रखकर अपने ही गाँव व नगर में उसकी बिक्री करते रहने वाला छोटा व्यापारी कहलाता है। और ऐसी छोटी-छोटी दुकानें हम सँकड़ों देखते ही हैं। किन्तु लाखों और करोड़ों की पूँजी से व्यापार करने वाले व्यापारी भी आपकी और हमारी नजर में हैं। जो कि अनेक शहरों में अपनी दुकानों, फ़ैक्टरियों और कम्पनियों की शाखाएँ खोलते हैं। यहाँ तक कि उनका माल विदेशों में जाता है और वे दूर-देशों से सामान अपने यहाँ भी मँगाते हैं।

यहाँ कवि ने आध्यात्मिक व्यापार की दृष्टि से भावना व्यक्त की है कि चौरासी लाख योनियों में असंख्य जीव हैं और वे अपने कर्मों के अनुसार एक योनि से दूसरी योनि में जन्म-मरण करते रहते हैं। मनुष्य के अलावा और किसी भी योनि का जीव छोटा व्यापारी कहलाता है क्योंकि वह उत्कृष्ट करणी के रूप में बड़ा व्यापार करके केवलज्ञान एव केवलदर्शन रूपी भारी मुनाफ़ा कमाकर मोक्ष यानी शिवपुर में नहीं जा सकता।

इस संसार में सिर्फ मानव ही ऐसा प्राणी है जो उत्कृष्ट साधाना रूपी बड़ा व्यापार करके केवलज्ञान रूपी सर्वोत्कृष्ट या असीम धन कमाकर शिवपुर का टिकिट

लेकर वहाँ तक पहुँच सकता है। मोक्ष का टिकिट आपके दुनियादारी के नोटों से नहीं मिल सकता। उसे खरीदने के लिये ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य भक्ति, शील, दान एवं तप रूपी नगद दाम चाहिये। और ऐसा धन सच्चा तपस्वी जो कि आभ्यन्तर एवं बाह्य, दोनों ही प्रकार के तपों की आराधना करता है, वही पा सकता है। किन्तु आवश्यकता है साधना में पराक्रम या पुरुषार्थ रखने की। अगर ऐसा नहीं किया गया तो स्वर्ग और शिवपुर की तो बात दूर है पुनः मनुष्यगति भी मिलना संभव नहीं है। यह मानव जीवन एक दुर्लभ पूँजी है और मुमुक्षु अपने पुरुषार्थ, साहस एवं साधना के द्वारा ही इसे बढ़ाकर देवगति और मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा यह डूब जाती है। परिणाम क्या होता है, यह एक श्लोक बताता है—

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।

मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र ७-१६

अर्थात्—मनुष्य जीवन मूलधन है। देवगति उसमें लाभरूप है। मूलधन के नाश होने पर नरक, तिर्यचगति रूप हानि होती है।

इसलिये बंधुओ, हमें मानव जीवन की महिमा को समझकर इसका लाभ उठा लेना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जब हम विचार करते हैं तो जान सकते हैं कि केवल मनुष्य ही चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि स्वर्ग का नाम हम सभी का प्रिय लगता है और स्वर्ग में जाने के लिये सभी लालायित रहते हैं, किन्तु देवताओं को केवल अपने जीवन की अवधि तक मनुष्यों की अपेक्षा अधिक भोगोपभोगों के सुख ही हासिल होते हैं। आध्यात्मिक साधना और उसकी सिद्धि का जहाँ सवाल आता है, वे नगण्यों की गणना में भी जाते हैं। अगर बहुत कोशिश करें भी तो वे केवल चार गुणस्थानों को पा सकते हैं। जब कि मनुष्य १४ गुणस्थानों को पार करके संसार-मुक्त हो जाता है।

ऐसा ही करने की कवि प्रेरणा दे रहा है और कह रहा है कि जब तुम्हें प्रकृष्ट पुण्य के उदय से यह महान मानव-जन्म मिल गया है तो इस उत्कृष्ट जन्म रूपी अमूल्य या अपार पूँजी से छोटा व्यापार करके विभिन्न योनियों का उपार्जन मत करो। अपितु अपना पूरा साहस, शक्ति, विवेक, बुद्धि, साधना एवं तप आदि सभी की सहायता से ऐसा व्यापार करो कि मुक्ति-रूपी मुनाफा प्राप्त होकर रहे। साधना के ये सभी साधन साधक के लिये तभी सहायक बनते हैं जब कि साधक की दृष्टि केवल अपने लक्ष्य की ओर होती है तथा वह उसे प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है।



एक सुन्दर श्लोक में कहा गया है—

विजेतव्या लंका चरणतरणियो जलनिधि—  
 विपक्षो लङ्केशो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।  
 तथाप्येको रामः सकलमवघोव् राक्षसकुलं,  
 क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ।

—मुभाषित रत्न भाण्डागार,

कहा है—लंका पर विजय पानी थी, समुद्र में पैरों से तैरना था, रावण जैसा शत्रु था, रण भूमि के सहायक केवल वानर थे। इतने पर भी अकेले राम ने राक्षस कुल को नष्ट कर दिया। क्योंकि महापुरुषों के पराक्रम एवं आत्मविश्वास में ही उनकी कार्यसिद्धि होती है, सहायक उपकरणों में नहीं।

आशय यही है कि जब मानव अपने विराट उद्देश्य की पूर्ति में मन, वचन एवं शरीर, इन तीनों योगों को दृढ़ता से लगा देता है तो अन्य समस्त साधन स्वयं ही उसके सहायक बन जाते हैं। पर खेद की बात यही है कि वह अपने जीवन के इस महान उद्देश्य की परवाह भी नहीं करता और दुनियादारी के व्यापार में लगा रह कर परलोक की चिन्ता से विमुख बना रहता है। उसे केवल भौतिक व्यापार एवं भौतिक सुख की ही फिक्र रहती है। ऐसे व्यक्तियों को उद्बोधन देते हुए किसी फारसी भाषा के कवि ने कहा है—

ऐ गिरफ्तारे पाए बन्दे अयाल ।

बिगर आजादगी मबन्द खयाल ।

गमे फरजजन्दो नानो जामाओ कूत ।

अर्थात्—हे मनुष्य ! तू धन—सम्पत्ति, मकान, जमीन, भोग-विलास के साधन एव पत्नी, पुत्र तथा परिवार आदि के मोह में आसक्त रहकर किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि इन पदार्थों की चिन्ता स्वर्ग और मोक्ष की चिन्ता में बाधक होती है।

वस्तुतः जो व्यक्ति सांसारिक उपलब्धियों के लिये बावला रहता है तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही सम्पूर्ण क्रियाएँ करता है वह आध्यात्मिक क्षेत्र में सदा कोरा बना रहता है। ऐसे व्यक्तियों में और पशुओं में आकृति भेद के अलावा और कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। ऐसे व्यक्ति अपने मनुष्य जीवन के सच्चे उद्देश्य को भूल जाते हैं या समझने की कोशिश ही नहीं करते। वे भौतिक और जड़ द्रव्य

को अधिक पाने की लालसा में रहते हैं तथा उसी के लिये प्रयत्न करते हैं। उनका ध्यान उस धन की ओर नहीं जाता जो शिवपुर की प्राप्ति में सहायक बनता है।

इसलिए कवि ने उसी आत्मिक धन की ओर मानव का ध्यान दिलाते हुए कहा है—

जो होवे धन तुझको प्यारा, पारस बैंक में रखदे सारा ।  
नहीं सूद का पता मिलेगा गिनके किस दर का... ।

क्या कहा है कवि ने? यही कि—अगर तुझे धन बहुत प्यारा है तो बड़ा व्यापार करके आत्मिक धन का उपार्जन कर और उसे पृथ्वी पर के किसी जड़ द्रव्य को रखने वाले बैंक में नहीं, वरन भगवान् पार्श्वनाथ के बैंक में रख दे। इसका परिणाम यह होगा कि जहाँ मर्त्यलोक का बैंक थोड़ा-सा ब्याज तुझे देता है, वहाँ भगवान् पार्श्वनाथ का बैंक इतना ब्याज देगा कि तू न उसकी दर का पता लगा सकेगा और न ही मिले हुए ब्याज की गणना ही कर सकेगा। वह संख्यातीत होगा और उस धन से तू मोक्ष का शाश्वत सुख खरीद सकेगा।

आगे कहा गया है—

“दास दसौंधी कहता प्यारे, अमृत छोड़ जहर मत खा रे,  
हो भवसागर पार भजन कर दिल से दिलवर का ।  
बनज कुछ करले उस घर का ॥

इस भजन के रचयिता दसौंधी दास कहते हैं—“प्रिय बन्धु ! अमृत को छोड़कर जहर मत खाओ ।”

आप समझ ही गए होंगे कि जहर क्या है और अमृत क्या है? क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, ममता, आसक्ति और गृद्धता आदि जो भी मानव-मन के विभाव हैं, ये सब विष का काम करते हैं तथा आत्मा के सम्पूर्ण सद्गुणों का नाश करके उसे कुगतियों में पहुँचाकर घोर कष्ट का भागी बनाते हैं।

किन्तु इसके विपरीत सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य, जिसमें दान, शील, सेवा, परोपकार आदि समस्त सद्गुण समाविष्ट होते हैं, ये आत्मा के लिए अमृत के समान हैं, जिन्हें ग्रहण कर लेने पर आत्मा सदा के लिए अजर-अमर हो जाती है।

पर बन्धुओ, कवि के कथनानुसार अमृत को कौन ग्रहण कर सकता है? इसका उत्तर ‘तृण परिपह’ के विषय में दी हुई गाथा के अनुसार तबस्तिषो यानी

तपस्वी ही कर सकते हैं। और तपस्वी भी वे ही नहीं जो केवल अनशन को तपस्या मानकर चलते हैं, अपितु वे तपस्वी जो आंतरिक एवं बाह्य, सभी तपस्याओं को समान समझते हुए उनकी यथाशक्ति आराधना करते हैं तथा सभी परिषदों को पूर्ण समभाव पूर्वक सहन करते हुए हृदयपूर्वक संवर के मार्ग पर चलते हैं।

सच्चे तपस्वी संवर को अपनाकर कर्मों का आना तो रोकते ही हैं, साथ ही तप के द्वारा संचित कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी आत्मा कर्म-मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। अभी मैंने आपको बताया था—

**भवकोडो-संचियं कर्मसं तवसा निज्जरिज्जइ ।**

उत्तराध्ययन सूत्र ३०-६

साधक करोड़ों भवों से संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है।



धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्व के सत्तावन भेदों में से पच्चीसवां भेद 'तृण परिषह' है। इस विषय में 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की चौतीसवीं गाथा पर विवेचन चल रहा था और उसके अनुसार अचेलगस्स, लूहस्स, संजयस्स एवं तवस्सिणो शब्दों पर मैंने विशेष तौर पर प्रकाश डाला है। अब इसी परिषह पर कही गई पैतीसवीं गाथा को लिया जा रहा है। गाथा इस प्रकार है—

आयवस्स निवाएणं, अउला ह्वइ वेयणा ।  
एवं नच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतञ्जिया ॥

अर्थात्—आतप यानि गर्मी के होने से भारी वेदना उत्पन्न हो जाती है, ऐसा जानकर भी तृणों से पीड़ित मुनि वस्त्र आदि का सेवन नहीं करते।

जब असह्य गर्मी पड़ती है तो शरीर को स्वामाविक रूप से कष्ट का अनुभव होता है। ऐसी बात नहीं है कि संसार के अन्य समस्त प्राणियों को तो ग्रीष्म के ताप से कष्ट हो और साधुओं को न हो। शरीर तो सभी के होते हैं और मुनियों के भी। अतः मुनियों को भी कष्ट का अनुभव होता है। किन्तु यह विचार कर कि वेदना को सहन करने से ही कर्मों का नाश होता है, वे समभावपूर्वक उन कष्टों को सहन कर लेते हैं।

संयमी संत परिषहों को सहन करते समय यही भावना रखते हैं कि बाईस परिषहों में से कोई भी परिषह नरकों की भयंकर यातनाओं के समक्ष केवल सिंधु से निकाले हुए बिन्दु से अधिक महत्व नहीं रखते यानि नरकों की धोर पीड़ा के सामने ये परिषह नगण्य हैं।

**नारकीय कष्ट**

कविवर पं० दौलतराम जी ने अपनी छहढाला नामक पुस्तक में नरक की यातना का वर्णन करते हुए कहा है—

“तहाँ भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहज इसे नहि तिसो ।  
 तहाँ राघ-श्रोणित बाहिनी, कृमि कुल कलित बेहवाहिनी ॥  
 सेमर तर जुत दल असिपत्र, असि ज्यों देह विदारें तत्र ।  
 मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसो शीत उष्णता धाय ॥  
 तिल-तिल करे बेह के खण्ड, असुर भिड़ावें दुष्ट प्रचण्ड ।  
 सिन्धु नीर तें प्यास न जाय, सो पण एक न बूँद लहाय ॥  
 तीन लोक को नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय ।”

कितनी भयंकर वेदना नरक में होती है ? कहा है—जीव जब नरक में जाता है तो वहाँ की भूमि का स्पर्श करते ही उसे ऐसा लगता है, जैसे हजारों बिच्छुओं ने एक साथ ही काट खाया हो । इसके अलावा वहाँ छोटे-छोटे अनन्त कीड़ों से भरी हुई वैतरणी नामक नदी है । जब नारकीय जीव घोर कष्टों से घबराकर कुछ शीतलता एवं शांति प्राप्ति की आशा से उस नदी में कूदते हैं तो उस रक्त, मवाद एवं कीड़ों से भरी नदी में उनका कष्ट घटने की बजाय अनन्त गुना अधिक बढ़ जाता है ।

नरक में तनिक भी शांति प्राणी को नहीं मिलती । असह्य आताप से घबराकर अगर वह सेमर के वृक्ष के नीचे बैठता है तो उस वृक्ष के तलवार के समान तीखे पत्ते उसके शरीर पर गिरकर अंगों को चीर डालते हैं । नरक की गर्मी और सर्दी इस लोक की सर्दी-गर्मी के समान नहीं होती । कौसी होती है ? इसका वर्णन दो गाथाओं में किया गया है । गाथाएँ इस प्रकार हैं—

मेरुसम लोहपिण्डं, सीदं उष्णे बिलम्भि पक्खितं ।  
 ण लहदि तलप्पदेशं, विलीयवे मयणखण्डं वा ॥  
 मेरुसम लोहपिण्डं, उष्णं सीदे बिलम्भि पक्खितं ।  
 ण लहदि तलं पदेशं, विलीयवे लयणखण्डं वा ॥

अर्थात्—जिस प्रकार गर्मी में मोम पिघलकर जल के समान बहने लगता है उसी प्रकार सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला गरम बिल में फँका जाय तो वह बीच में ही पिघलने लगता है ।

दूसरी गाथा में नरक की असह्य शीत के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार सर्दी और बरसात में नमक गल जाता है तथा पानी के समान होकर बहने लगता है, इसी प्रकार सुमेरु पर्वत के बराबर लोहे का गोला ठण्डे बिल में फँका जाय तो वह मध्य में ही गलने लग जाता है ।

तो बन्धुओ, जहाँ इस प्रकार का असह्य शीत और भयंकर ताप हो वहाँ की वेदना का वर्णन क्या शब्दों में किया जा सकता है ? नहीं, पर नरकों में ऐसे ही शीत एवं ताप होते हैं, जिनके कारण जीव असह्य दुःख पाते हैं ।

फिर केवल इतने ही दुःख वहाँ नहीं, आगे भी बताते हैं कि नारकीय प्राणी सतत दुखी एवं पीड़ायुक्त रहने के कारण आपस में बुरी तरह से लड़ा करते हैं, एक दूसरे के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं । किन्तु एक बार ही मर जाने का कष्ट वहाँ नहीं है क्योंकि नारकीयों के शरीर जिस प्रकार पारा बिखर कर पुनः जुड़ जाता है, उसी प्रकार बार-बार बिखरते हैं और पुनः जुड़कर फिर उसी प्रकार के कष्ट पाते हैं । ऊपर से संक्लिष्ट परिणाम धाले असुर पहले, दूसरे और तीसरे नरक तक जाकर नारकीय जीवों को अपने-अपने पुराने वैरों को बताकर आपस में लड़ाते हैं तथा अपना मनोरंजन करते हैं । ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार प्राचीन राजा एवं नवाब आदि हाथियों को, मँसों को, बकरी को, साँड़ों को तथा ऐसे ही अन्य पशुओं को मदिरा आदि पिलाकर उत्तेजित करते थे तथा उन्हें आपस में इस प्रकार लड़ाते थे कि जब तक उनमें से एक मर नहीं जाता, उनकी लड़ाई समाप्त नहीं होती थी । ऐसी लड़ाइयों को लोग बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे होकर बड़ी रुचि के साथ देखते थे तथा आनन्दित होते थे । यही कार्य असुर नारकीयों के साथ करते हैं ।

महान् दुःख नरक में यह भी है कि उन निरीह जीवों को प्यास इतनी लगती है, मानो समुद्र का सारा पानी पी जाएँ और भूख इतनी सताती है कि तीनों लोकों का अनाज खा लें, किन्तु न एक बूँद पानी पीने को मिलता है और न ही अन्न का एक भी कण खाने को ।

ऐसा घोर कष्ट एवं भयंकर वेदनाएँ नरक में जीव को भोगनी पड़ती हैं । यही विचार संत-मुनिराज करते हैं कि हमारी आत्मा ने तो न जाने कितनी बार नरक के अवर्णनीय दुःख भोगे हैं, फिर उनके मुकाबले में इस पृथ्वी पर आने वाले परिषह किस गिनती में हैं ?

वस्तुतः व्यक्ति अगर नरक के दुःखों से अपने जीवन में आने वाले परिषहों की तुलना करता है, या अपने से अधिक दुखी व्यक्तियों को देखता है तो उसे अपने दुःख कम महसूस होते हैं । इसलिए साधक को परिषहों के सामने आने पर यही विचार करना चाहिए कि—'हे आत्मन् ! तूने नरक गति के भयंकर कष्ट अनेक बार सहे हैं, और अनेक बार तिर्यञ्च गति में भी नाना योनियों में जाकर असह्य वेदना भोगकर फिर यहाँ मनुष्य की गति में आया है, ऐसी स्थिति में तेरे समक्ष आने वाले कष्ट क्या उनसे अधिक हैं ? नहीं ।

कहते हैं कि शेखसादी जो बड़े भारी शायर और विद्वान थे, वे बहुत निर्धन थे। होता भी यही है। हम पढ़ते हैं, सुनते हैं और देखते भी हैं—‘पंडिते निर्धनत्वम्’ पंडित निर्धन होता है। दूसरे शब्दों में सरस्वती जहाँ निवास करती है वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती। दोनों में छत्तीस का आँकड़ा होता है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि धन व्यक्ति को अहंकारी तथा अविवेकी बनाता है तथा विद्या उसे बुद्धिमान तथा विवेकी बनाती है।

लक्ष्मी और सरस्वती के वाहन भी यही भाव प्रकट करते हैं। आप जानते हैं कि लक्ष्मी का वाहन उल्लू माना जाता है, जिसे दिन में कुछ दिखाई नहीं देता। लक्ष्मी भी मनुष्य को इसी प्रकार अन्धा बनाए रखती है, जिसे अपना हिताहित किसमें है, यह नहीं दिखता। अब आता है सरस्वती का वाहन हंस। हंस के लिए कहा जाता है कि वह मोती तो चुनता ही है, साथ ही दूध और जल अर्थात् क्षीर और नीर अगर इकट्ठे हों तो वह क्षीर और नीर अलग कर देता है। विद्वान पुरुष भी जो कुछ पढ़ते हैं, सुनते हैं और अपने अनुभवों से देखते हैं, उनमें से वे गुण ग्रहण करते हैं तथा वे बातें लेते हैं जो उनकी आत्मा को उन्नत बनाती हैं। अपने गुणग्राही स्वभाव एवं विद्वत्ता के बल पर ही विद्वान कीर्ति हासिल करता है तथा सभी जगह पूजनीय बनता है।

एक मनोरंजक रूपक है कि किसी व्यक्ति ने लक्ष्मी से पूछा—“तू प्रायः मूर्खों के पास ही रहती है, क्या पंडितों और विद्वत्जनों से तेरा मत्सर-भाव है ?”

इस पर लक्ष्मी ने उत्तर दिया—

पद्मे ! मूढजने ददासि द्रविणं  
विद्वत्सु किं मत्सरो ?  
नाहं मत्सरिणी न चापि चपला,  
नैवास्मि मूर्खे रता ।  
मूर्खेभ्यो द्रविणं ददामि नितरां  
तत्कारणं श्रूयतां ।  
विद्वान् सर्वजनेषु पूजिततनु—  
मूर्खस्य नान्यागतिः ॥

—सुभाषित रत्नमाण्डागार पृष्ठ ६६

लक्ष्मी कहती है—मैं न तो मत्सरिणी हूँ, न चंचल और मूर्खों में अनुरक्त ही हूँ। किन्तु मैं मूर्खों के पास रहती हूँ इसका केवल यही कारण है कि विद्वान तो विद्या के कारण सब लोगों का पूज्य हो जाता है पर मूर्खों को मेरे सिवाय कोई गति नहीं है। अर्थात् उनके पास धन न हो तो उन्हें कौन पूछे ?

मैं शेखसादी की बात बता रहा था कि वे बड़े काबिल विद्वान एवं प्रसिद्ध शायर थे, किन्तु निर्धन थे। अपनी निर्धनता पर उन्हें एक बार बड़ा खेद हुआ तो वे मसजिद में नमाज पढ़ते समय बोले—“हे परवरदिगार, मुझ पर तू इतना खफा क्यों है कि मैं आराम से खा-पीकर रह नहीं सकता? कम से कम इतनी मेहरबानी तो कर कि मैं जरा ढंग से रह सकूँ और अमन-चैन से जीवन बिता सकूँ।”

खुदा से ऐसी इबादत करके शेखसादी मसजिद से बाहर आए। पर बाहर आते ही उन्होंने भीख माँगने वाले अनेक फकीरों को देखा, जिनमें से किसी के आँखें नहीं थीं, कोई लँगड़ा था, कोई गूंगा और किसी के शरीर पर लज्जा ढकने के वस्त्र भी पूरे नहीं थे।

उन भिखारियों को देखते ही शेखसादी का विवेक जाग्रत हो गया और वे दोनों हाथ जोड़कर दुआ करते हुए बोले—“या खुदा! तू मुझपर कितना मेहरबान है कि तूने मुझे हाथ, पैर, आँखें आदि सभी कुछ दिये हैं। ये भिखारी माँगकर दूसरों का दिया खाते हैं पर मैं स्वयं कमाकर खा सकता हूँ। कितना बड़ा एहसान है मुझ पर तेरा?”

कहने का आशय यही है कि जो व्यक्ति अपने से निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को देखकर अपने आपसे संतुष्ट रहता है, वही लोभ एवं लालच का त्याग करके आत्मा को उन्नत बना सकता है। दूसरे शब्दों में संतोषी व्यक्ति ही परिषहों का सामना समभाव से कर सकता है और किसी भी प्रकार का कष्ट होने पर अन्य व्यक्तियों को या स्वयं ईश्वर को नहीं कोसता। उसके मन में सदा शांति और क्षमा की सरिता लहराती रहती है जो कि भवसागर से पार उतरने के लिये आत्मा को कषाय-रहित एवं सरल बनाती है।

इस विषय में एक हिंदी भाषा का कवि भी कहता है—

“क्यों डूबे मत्स्यधर ? क्षमा है तेरे तरने को।”

कहा गया है—अरे भोले मानव ! तू इस संसार-सागर में क्यों डूबता है ? जबकि क्षमा रूपी महान नौका तुझे इससे पार उतारने की क्षमता रखती है।

### क्षमा का अद्भुत उदाहरण

अरब देश की एक लघु कथा है कि एक बार किसी व्यक्ति ने एक अरब के पुत्र की हत्या कर दी। वह अरब पुत्र-शोक से अत्यन्त दुखी एवं क्रोधित होकर अपने पुत्र के घातक से बदला लेने के लिये उसकी खोज में घूमने लगा।

इधर संयोग ऐसा हुआ कि अरब के पुत्र का घातक जब एक दिन किसी दूसरे शहर में जाने के लिये रवाना हुआ तो उसे मार्ग में भयंकर गर्मी और प्रचण्ड हवा



के थपेड़ों से लू लग गई। लू बड़ी तेज थी अतः उसे तीव्र ज्वर हो आया। ज्वर की पीड़ा से बेचैन होकर उसने समीप ही कहीं आश्रय लेने का विचार किया और गिरता-पड़ता, किसी तरह मार्ग में स्थित एक तम्बू के द्वार पर पहुँचा। किन्तु वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह बेहोश हो गया।

कुछ ही समय पश्चात् तम्बू का मालिक बाहर आया और जब उसने देखा कि एक व्यक्ति ज्वराक्रान्त होकर उसके खेमे के दरवाजे पर पड़ा है तो उसने करुणा से भरकर अविलम्ब उसे उठाया और अन्दर ले जाकर लिटा दिया।

पर बड़े आश्चर्य की बात यह हुई कि तम्बू का मालिक वही अरब था जो अपने पुत्र के घातक को खोजते-खोजते उस जंगल में रात्रि-विश्राम के लिये खेमा तानकर ठहरा हुआ था, और उसके दरवाजे पर आकर बेहोश हो जाने वाला व्यक्ति उसी के पुत्र का हत्यारा था, जिसे खोजने में वह अनेक दिनों से बावला बना फिर रहा था।

अरब अपने पुत्र-घाती को अपने ही खेमे में देखकर खून का प्यासा बन गया और उसकी गर्दन उड़ा देने के लिए तलवार लेकर प्रहार करने के लिये तैयार हो गया। किन्तु उसी क्षण उसका विवेक जाग्रत हुआ और उसने विचार किया कि मेरे पुत्र का हत्यारा शस्त्र-रहित है, बेहोश है और मेरा अतिथि भी है। ऐसी स्थिति में चाहे यह दुश्मन ही है यह भेरा, इसे मार डालना उचित नहीं है। यह विचार मन में आते ही अरब ने अपनी तलवार पुनः म्यान में रख ली और रुग्ण पुत्र-घातक की सेवा में जुट गया।

कई दिनों तक रात-दिन जागकर उसने रोगी की सेवा की। पहले तो उसकी मूर्च्छा दूर होने में ही काफी समय लग गया और उसके बाद पूर्ण स्वस्थ होने में भी कई दिन लग गये। अरब ने घातक व्यक्ति की सेवाशुश्रुषा में कोई कमी नहीं रखी और उसे इतना स्वस्थ कर दिया कि वह मीलों लम्बी यात्रा करने में समर्थ बन गया। वह घातक अरब को पहचानता नहीं था।

पर एक दिन उस अरब ने कहा—“देखो ! तुम मेरे पुत्र के हत्यारे हो, और मैं चाहता तो कभी का तुम्हें यमलोक पहुँचा देता। किन्तु शरण में आए हुए व्यक्ति को और रुग्ण व्यक्ति को मारने की मेरी इच्छा नहीं हुई। अतः मैंने तुम्हें पूर्ण स्वस्थ कर दिया है। अब आज तुम मेरा यह सबसे बलवान एवं द्रुतगामी ऊँट ले जाओ और जितनी जल्दी और जितनी दूर भाग सको, भाग जाओ। मैंने अतिथि-सत्कार या सेवा का अपना एक कर्तव्य पूरा कर दिया है पर अपने पुत्र की मृत्यु का बदला लेना जो कि मेरा दूसरा कर्तव्य है, उसे पूरा करना शेष है। इसलिये अतिथि के नाते मैं तुम्हें यह उत्तम ऊँट देकर भागने का मौका देता हूँ, पर पुत्र की मृत्यु का बदला

लेने के लिये दो घंटे के बाद तुम्हारा पीछा करूँगा। अच्छा हो कि तुम मेरी पहुँच के बाहर चले जाओ, अन्यथा मैं तुम्हें पकड़ कर मार डालूँगा।”

अरब के यह वचन सुनकर और उसका परिचय जानकर घातक की बाखें आश्चर्य से मानों कपाल पर चढ़ गईं, किन्तु यह जानकर कि इस महान व्यक्ति ने अपने पुत्र का घातक जानकर भी मेरी इतनी लगन से और इतने दिन तक सेवा की है, उस पर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। अपने कुकृत्य का स्मरण करके उसे इतना पश्चात्ताप हुआ कि वह एक कदम भी वहाँ से नहीं उठा सका। उलटे रोते हुए उस अरब के पैरों पर गिर पड़ा और बोला—

“तुम मनुष्य नहीं, देवता हो ! पर मैं तुम्हारे पुत्र की हत्या जैसा पाप करके अब जो कित रहना भी नहीं चाहता। दो घंटे बाद तो क्या, इसी क्षण अपनी तलवार उठाओ और मेरा सिर घड़ से अलग कर दो। मैं महापापी हूँ और अपने पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये सहर्ष तैयार हूँ। माई ! तलवार उठाओ तथा इसी क्षण मेरा वध करके मुझे पाप से मुक्त करो।”

घातक के ऐसे वचन सुनने पर क्या वह अरब जिसने अपने महान् शत्रु की भी जी जान से सेवा की थी, उसे मार सकता था ? नहीं। अरब ने अपनी तलवार एक ओर फेंक दी और अत्यन्त उदारतापूर्वक अपने पुत्र के हत्यारे को क्षमा करते हुए हृदय से लगा लिया।

बंधुओ, क्षमा का कितना ऊँचा आदर्श इस कथा में निहित है ? क्या कोई साधारण व्यक्ति ऐसी क्षमा को अपने अन्तर में जगा सकता है ? नहीं, यह केवल महापुरुषों के वश की बात है। वे ही ऐसी उत्तम क्षमा को धारण करके भव-सागर पार कर जाते हैं।

विद्वद्वर्य पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने बारह भावनाओं को लेकर जो 'भावना' नामक पुस्तक लिखी है, उसमें एक स्थान पर आश्रव को रोकने की प्रेरणा देते हुए लिखा है—

होकर समर्थ जो क्षमा-भाव दिखलाते,  
अपराधी पर भी क्रोध न मन में लाते।  
समता के सागर में जो नित्य नहाते,  
भव-सागर को वे शीघ्र पार कर जाते।

उपशान्त भाव शाश्वत अनन्त सुखदायी,  
कर आश्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी।

कितना सुन्दर उद्बोधन है ? कहा है—“हे मुक्ति के इच्छुक प्राणी ! अगर तुझे शाश्वत एवं अनन्त सुख की प्राप्ति करनी है तो समभाव को धारण करके आश्रव को निर्मूल कर।

जो भव्य प्राणी बलवान एवं पूर्ण समर्थ होने पर भी अवराधी पर क्रोध न करके उसे क्षमा करते हैं तथा प्रति पल समता के सागर में अवगाहन करते रहते हैं, वे ही भव-सागर को शीघ्र पार कर सकते हैं ।”

इसीलिए हिन्दी के कवि ने कहा है कि—‘तू मज्जधार में क्यों डूबा जा रहा है, जबकि क्षमा के सहारे से इस भवसागर को सहज ही पार कर सकता है ।’ आगे भी अपने पद्य में कवि ने भव-समुद्र को पार करने के उपाय बताये हैं, और वे इस प्रकार हैं—

**कर मन धन से पर उपकारा, क्रोध, लोभ तज दे अहंकारा ।**

**धर्म पकड़ तलवार हाथ में, धम से लड़ने को—क्षमा है तेरे ॥**

कहा है—‘अगर मानव-जन्म प्राप्त कर लिया है और इसका लाभ उठाना है तो तन, मन और धन से परोपकार कर तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन कषायों का सर्वथा त्याग कर दे ।’

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि मानव का मन बड़ा चंचल एवं दुराग्रही होता है और ऐसी स्थिति में वह एकाएक संयमित नहीं हो पाता । हमारे पास ऐसे अनेकों व्यक्ति आते हैं जो कहते हैं—“महाराज ! क्या करें, मन को वश में करने की कोशिश करते हैं, किन्तु सफलता नहीं मिलती । कभी क्रोध न करने का नियम ले लेते हैं तो अभिमान आ जाता है और अभिमान को त्यागने जाते हैं तो लोभ मन पर आक्रमण कर देता है । इस प्रकार कोई न कोई कषाय तो हमेशा मन को घेरे ही रहता है । अब आप ही बताइये कि किस प्रकार इन कषायों का त्याग करें ? कभी कोई और कभी कोई प्रबल हो ही उठता है ।”

बंधुओ, मन की ऐसी स्थिति प्रायः सभी व्यक्तियों की होती है । यद्यपि वे मन के दुर्गुणों से पीछा छुड़ाना चाहते हैं, किन्तु वे दुर्गुण इतनी अधिक संख्या में होते हैं कि जब व्यक्ति एक दुर्गुण को भगाने जाता है तो दूसरी ओर से अन्य कोई दुर्गुण या कषाय मन पर कब्जा कर लेता है । यह समस्या सभी के लिए है । यद्यपि दृढ़ चित्त वाले साधक या मुनि तो आत्मा के इन सभी शत्रुओं को एक साथ परास्त कर देते हैं तथा अपने मन के दुर्ग-द्वार पर संयम का ऐसा मजबूत ताला जड़ देते हैं कि कोई भी दुर्गुण या कषाय लाख प्रयत्न करने पर भी उसमें प्रविष्ट नहीं हो पाता । किन्तु कमजोर मन वाले व्यक्ति के लिए ऐसा करना संभव नहीं होता । पर उसके लिए भी उपाय है, क्योंकि संसार की प्रत्येक समस्या का कोई न कोई हल तो होता ही है ।

तो कमजोर हृदय वाले व्यक्ति को कुछ विवेक एवं चतुराई से आत्मा के इन शत्रुओं को जीतना चाहिए । यह किस प्रकार संभव हो सकता है, इस विषय में मैं एक उदाहरण आपके सामने रखता हूँ ।

## जाट की बुद्धिमानी

कहा जाता है कि एक जाट के पास काफी जमीन थी और उसमें उसने ककड़ी और तरबूज बो रखे थे। उस वर्ष पानी अच्छा बरसा था तथा ककड़ियाँ और तरबूज भारी संख्या में हुए थे। जाट बड़ी सावधानी से अपने खेत की रक्षा करता था, क्योंकि उसके जीवन-यापन का तरबूज आदि की बिक्री से आया हुआ द्रव्य ही साधन था।

एक दिन वह जाट किसी काम से बाहर गया था, किन्तु जब लौटा तो देखता है कि एक ब्राह्मण, एक राजपूत और एक नाई बड़े आनन्द से ककड़ियाँ और तरबूज खा रहे हैं। वे लोग समीप के मार्ग से गुजर रहे थे और जब ककड़ियाँ और तरबूजों से लदा खेत देखा तो उनकी इच्छा उन्हें खाने की हो गई।

तीनों ने यह भी देखा था कि खेत का मालिक वहाँ नहीं है और खेत सूना है। बस, फिर क्या था? वे मौज से खाने में लग गये। पर संयोग वश जाट उसी समय वहाँ आ गया। जब उसने देखा कि वे तीन राहगीर मानों अपने बाप का खेत समझ कर निश्चिततापूर्वक ककड़ी-तरबूज खा रहे हैं, तो उसे बड़ा क्रोध आया। उसकी एक दम इच्छा हो गई कि वह उन्हें मार-मारकर खेत से निकाल दे। किन्तु जाट अकेला था और खाने वाले तीन। ऐसी स्थिति में उन्हें पीटने की बजाय वह स्वयं ही अधिक पिटा जाता।

पर इस समस्या को सुलझाना ही था अतः कुछ क्षण वह विचार करता रहा। अन्त में उसकी बुद्धि काम कर गई और उसने एक योजना बनाई। उसके अनुसार वह उन तीनों के पास आया। वेश-भूषा आदि से जाट समझ गया था कि इनमें एक ब्राह्मण है, दूसरा राजपूत और तीसरा नाई।

बड़े कौशलपूर्वक नम्रता सहित वह पहले ब्राह्मण के पास गया और उसके चरण छुए। यह देखकर ब्राह्मण देवता फूलकर कुम्पा हो गये। उसके बाद जाट राजपूत के पास गया और उसे मुस्कराते हुए हाथ जोड़े। राजपूत भी अपने स्वाभाविक गर्व से तन गया। अब नाई की बारी आई। पर जाट उसके पास जाकर बोला—

“ब्राह्मण, देवस्वरूप होते हैं अतः उन्होंने तरबूज खाये तो कुछ नहीं, और दूसरे ठाकुर साहब हैं, अतः मेरे मालिक हैं। ये भी इच्छानुसार जो चाहें खा सकते हैं। किन्तु तू तो जाति का नाई और कमीना है। फिर तूने मेरे तरबूज क्यों खाये?”

जाट के ऐसे वचन सुनकर तथा अपनी की गई प्रशंसा से खुश होकर ब्राह्मण और राजपूत नाई के पक्ष में कुछ नहीं बोले तथा आनन्द से तरबूज खाते रहे। पर

नाई घबरा गया और कुछ बोल नहीं सका। तब जाट ने उसे पकड़ लिया और एक वृक्ष से बाँध दिया। नाई के दोनों साथी तब भी कुछ नहीं बोले क्योंकि एक तो देवता का पद पा गया था और दूसरा स्वामी के समान समझा गया था।

पर जब जाट नाई से निबटा तो वह राजपूत के पास आया और उसे डाँटते हुए बोला—“ब्राह्मण मेरे गुरु हैं, वह चाहे जितने फल खा सकते हैं, पर तुम मेरे क्या लगते हो ? क्यों मेरे खेत में घुसे ?” राजपूत जाट की इस बात पर कुछ क्रोधित हुआ किन्तु चोरी करते रंगे हाथों पकड़ा गया था अतः अधिक विरोध करने का उसमें साहस नहीं रहा था। अवसर का लाभ उठाकर जाट ने उसे बलपूर्वक पकड़ लिया और खींच-खाँचकर उसे भी एक दूसरे वृक्ष के साथ बाँध दिया।

इधर ब्राह्मण तो ब्राह्मण ही था। दो-दो बार की प्रशंसा से वह खूब मगन हो रहा था अतः राजपूत के बांध दिये जाने पर भी कुछ न बोला और उसके भोटे दिमाग में जाट की चतुराई नहीं घुसी। वह पूरी निश्चिन्तता से तरवृज खाने में लगा रहा। उलटे सोचने लगा—“बाँध जाने दो सालों को, अब तो मैं और भी आदरपूर्वक जाट का सत्कार प्राप्त करूँगा। क्योंकि मैं मेहमानदारी के लिए अकेला ही बचा हूँ।”

पर ब्राह्मण-देवता के मन की मन में ही रह गई और जाट राजपूत को भी खूब कसकर बांध चुका तो ब्राह्मण के पास आया तथा आंखें निकालकर बोला—

“अब तू बता कि मेरे खेत में क्यों घुसा ? क्या यह खेत तेरे बाप का है, जो आनन्द से ककड़ी, तरवृज खाने बैठ गया ? खाना ही था तो मुझसे मांग लेता। तू तो दान लेता है, फिर मेरे खेत में चोरी क्यों की ?”

अब ब्राह्मण देवता क्या बोलते ? उनका देवत्व और गुरुत्व सब छिन गया, ऊपर से चोर की पदवी मिली। वैसे ही वे डरपोक थे और अब तो उनके दोनों साथी भी वृक्षों से बँधे हुए थे। किस बूते पर वे जबान खोलते ? जाट ने उन्हें भी तीसरे वृक्ष से बाँधा और उसके बाद तीनों मेहमानों की डण्डे से पूरी खातिरी की। पिटते-पिटते जब उनकी अकल ठिकाने आई और वे बार-बार क्षमा माँगने लगे तो जाट ने उन्हें छोड़ा और खेत से बाहर निकाल दिया।

तो बंधुओ, जाट के उदाहरण से मैं आपको यह बता रहा था कि उसने जिस प्रकार अपनी चतुराई और विवेक से स्वयं अकेले होते हुए भी तीन व्यक्तियों को परास्त कर दिया, उसी प्रकार आत्मार्थी साधक अपने साहस, बुद्धि और विवेक के द्वारा कषाय एवं राग-द्वेषादि आत्मा के समस्त शत्रुओं को जीत सकता है। पर इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है। अभ्यास करते-करते व्यक्ति अगर एक-एक दुर्गुण के पीछे पड़ जाय तो वह क्रमशः सभी को नियन्त्रण में रख सकता है।

कवि का इसीलिए कहना है कि—‘अगर तुझे भवसागर को पार करना है तो मन की कठोरता का त्याग करके परोपकार कर और क्रोध, लोभ तथा अहंकार आदि का त्याग करके यमराज से लड़ने के लिए धर्म-रूपी तलवार हाथ में पकड़ ले ।’

**यमराज का सामना कैसे किया जाय ?**

आप सोचेंगे कि तलवार के द्वारा क्या यमराज का मुकाबला किया जा सकता है ? और इस संसार में जो संत, महामुनि एवं धर्मात्मा व्यक्ति हैं, वे क्या यमराज को जीत लेते हैं ? इस विषय में हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए समझना चाहिए कि धर्म-रूपी तलवार से भले ही इस जन्म में यम को जीता नहीं जा सकता, क्योंकि जब जन्म लिया है तो मरना अवश्य पड़ेगा तथा उस समय कोई हथियार काम नहीं देगा । किन्तु मुमुक्षु सर्वान्तःकरण से इस जन्म में धर्म को अपना लेता है तथा उसकी सम्यक् प्रकार से आराधना करता है तो इस जन्म के बाद या अगले कुछ जन्मों के बाद ही सही, पर वह कर्मा से सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसके पश्चात् न उसे जन्म लेने की आवश्यकता होती है और न ही मरते समय यमराज से डरने की ही जरूरत पड़ती है । गजसुकुमाल मुनि ने तो अपनी शंशवावस्था में ही संयम ग्रहण कर लिया था और उसी दिन महाकाल श्मशान में जाकर ध्यानस्थ हो गये । जब सोमिल ब्राह्मण ने उन्हें देखा तो मारे क्रोध के मुनि के मस्तक पर मिट्टी की पाल बाँधकर समीप ही जलती हुई चिता के अंगारे सिर पर रख दिये । किन्तु बालमुनि गजसुकुमाल के हृदय में क्रोध का आना तो दूर, उनका ध्यान भी विचलित नहीं हुआ । खोपड़ी चटक कर फट गई और वे उसी समय केवलज्ञान एवं केवलदर्शन लेकर संसार से मुक्त हो गये । इस प्रकार अपने धर्म की उत्कृष्ट आराधना के फलस्वरूप उन्होंने न पुनः जन्म लिया और न ही यमराज की उपस्थिति का अनुभव किया । ऐसे भव्य प्राणी एक जन्म में भी यमराज को परास्त कर देते हैं ।

पर सभी की आत्मिक दृढ़ता समान नहीं होती और न ही सब लोग एक जन्म में ही धर्म की तलवार से यम को परास्त कर पाते हैं । किन्तु यह दृढ़ सत्य है कि जो साधक दृढ़ता से धर्म-रूपी तलवार को हाथ में ले लेता है अर्थात् धर्म को सच्चे मायने में ग्रहण कर लेता है वह जल्दी या देर से, कभी न कभी यमराज को परास्त अवश्य कर देता है अर्थात् मुक्त बन जाने के कारण फिर कभी उसका सामना करने की आवश्यकता नहीं रहती । जो साधक धर्म को आत्मा में रमा लेता है वह दृढ़तापूर्वक कह सकता है—

**गहिओ सुग्गइ मग्गो, नाहं मरणस्स बीहेमि**

यानी—मैंने सद्गति के मार्ग-धर्म को अपना लिया है अतः अब मैं मृत्यु से नहीं डरता ।

वस्तुतः धर्म में महान् शक्ति निहित है। धर्म के प्रकारों को बताते हुए योग-शास्त्र में पाँच प्रकार के मम बताए गये हैं—‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पंचयमाः।’

इन पाँचों यमों का पालन करने पर फिर एक यम का मुकाबला करना कौन-सा कठिन है? सच्चा साधक तो इनका पालन करने के लिए अपना सर्वस्व और प्राणों का भी त्याग कर देता है, किन्तु इस बलिदान का यानी धर्म के प्रकार, इन पाँचों यमों का पालन करने वाले का धर्म भी प्रतिदान देता है और वह है सदा के लिए यमराज के पाश से छुटकारा। इसीलिए धर्म की स्तुति करते हुए कहा भी है—

तेरे लिए प्राण तजे जिन्होंने,  
टूटा उन्हीं का यमराज-पाश।  
रक्षा सदा जो करता तिहारी,  
तू भी बचाता उनको दुखों से।

कहा गया है—‘हे धर्म ! जो भव्य प्राणी तेरी रक्षा करता है, तू भी उसे संसार के दुःखों से बचा देता है और तेरे लिए प्राण देने वाले के यमराज-पाश को तो तू सर्वथा नष्ट करता है।’

आगे भी कहा है—

आराधते निर्मल चित्त में जो,  
पाते वही जीवन लाभ पूरा।  
जो मूढ़ धी हैं करते विनाश,  
होता उन्हींका जग में विनाश।

—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल

पद्य में कितनी सुन्दर बात कही गई है कि जो साधक अपने हृदय को कषा-यादि की मलिनता से सर्वथा शुद्ध कर लेते हैं और अपने उस निर्मल एवं विशुद्ध चित्त में धर्म की विराजमान करके उसकी आराधना करते हैं वे अपने मानव-जन्म का पूरा लाभ उठा लेते हैं। किन्तु जो मूर्ख एवं अज्ञानी तेरे महत्व को नहीं समझते तथा संसार के नश्वर भोगों में लिप्त रहकर तेरा अस्तित्व मिटा देते हैं, उनका इस संसार के क्षणिक एवं निस्सार सुखों से तो नाता टूटता ही है, परलोक में भी कोई ठिकाना नहीं रहता तथा कुगतियों में भ्रमण करते हुए वे नाना प्रकार के घोर कष्ट पाते हैं। इस प्रकार उनका विनाश हो जाता है और यह असंख्य पुण्यों के संचय से मिला हुआ मनुष्य-जन्म सर्वथा निरर्थक जाता है।

मूर्ख और अज्ञानी पुरुष कूप-मण्डूक के समान होते हैं। उन्हें यह मान नहीं होता है कि संसार के इन भौतिक पदार्थों के सुख से परे भी और कोई सुख है जो सदा शाश्वत रहता है और जिसकी तुलना में सांसारिक सुख कुछ भी नहीं के समान है। वे सदा सांसारिक सफलताओं के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं। उनकी इच्छाएँ आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ केवल जगत के पदार्थों तक ही सीमित रहती हैं।

ऐसे व्यक्तियों के भावों को गीता में इस प्रकार चित्रित किया गया है—

आशापाशशतबंधाः कामक्रोधपरायणाः ।  
 ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ सञ्चयन् ॥  
 इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्त्ये मनोरथम् ।  
 इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

अर्थात्—सैकड़ों अभिलाषाओं के पाश में बंधे हुए, क्रोध में परायण, काम-भोगों की पूर्ति के लिए धन आदि भोगोपभोगों के पदार्थों का संचय करने की चेष्टा में रहते हैं। वे कहते हैं—‘आज मैंने यह पा लिया है और अब अमुक मनोरथ को पूर्ण करूँगा। इतना धन तो मैंने कमा लिया है तथा इतना अब और कमाऊँगा।’

ऐसे व्यक्ति भला धर्म के महत्व को कैसे समझ सकते हैं, और किस प्रकार अपने हृदय मन्दिर को कामभोगों एवं विषय-कषायों से रिक्त करके आत्मा के शुभ सिंहासन पर धर्म को आसीन कर सकते हैं। वे तो इन्द्रियो के दास बने रहते हैं और उन्हें तृप्त करना ही जीवन की सार्थकता मानते हैं।

किन्तु हमारे चालू भजन की अगली गाथा में स्पष्ट कहा गया है—

पाँच चोर बसते इस तन में, मिल कर लूटेंगे इक छिन में ।  
 मत धोखे में फँसो, मिले हैं गाँठ कतरने को—क्षमा है...॥

पद्य में शरीर को एक नगर की उपमा देते हुए कहा है कि इसमें पाँच बड़े जबर्दस्त चोर निवास करते हैं। वे हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय एवं रसना-इन्द्रिय।

मनुष्य अगर पूर्वकृत कुछ पुण्यों के द्वारा थोड़ा-सा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप-जप रूपी धन इकट्ठा कर भी लेता है तो पाँचों चोर भौका पाते ही उसे क्षण भर में लूट लेते हैं। मनुष्य की गाँठ कतरने के लिए और उसे धोखे में डालने के लिए इनकी साठ-गाँठ रहती है। जहाँ इनमें से एक भी स्थान बनाता है, अन्य चारों भी उसके साथ हो जाते हैं और व्यक्ति को सर्वथा दरिद्र बनाकर ही छोड़ते हैं।



इसीलिए कवि ने इनसे बचने के लिए कहा है और इनसे दूर रहने का उपाय केवल इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना यानी इन्हें अपने कब्जे में रहना है। ऐसा न करने पर ये कभी भी मनुष्य को अपनी संजिल तक जिसे हम मुक्ति कहते हैं, पहुँचने नहीं देंगी।

मुनि इन चोरों को पहचान लेते हैं और इसीलिए पाँचों इन्द्रियों की तरफ से सर्वथा विमुख होकर रूक्ष भाव अपनाते हैं। अपने रूखे स्वभाव के कारण ही वे शरीर की ममता त्याग देते हैं तथा स्पर्शोन्द्रिय की तनिक भी परवाह न करते हुए 'तृण-परिषह' को पूर्ण शांति एवं संतोष से समतापूर्वक सहन करते हैं।

इस विषय में कही हुई श्री उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा में बताया है कि आतप से होने वाली वेदना की तनिक भी परवाह न करके मुनि वस्त्रादि का सेवन नहीं करते। यहाँ आतप से तात्पर्य ग्रीष्म एवं शीत दोनों से लिया जा सकता है। संयमी मुनि ग्रीष्म एवं शीत, दोनों ही आतपों से व्याकुल नहीं होता तथा तृणादि के स्पर्श से होने वाले परिषह का पूर्ण दृढ़ता एवं समता से सामना करता है। यही संवर का मार्ग है और इस मार्ग पर चलने वाला अन्त में अजर-अमर पद प्राप्त करता है। ❀

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्त्व के पच्चीस भेदों का वर्णन किया जा चुका है। इनमें आए हैं—  
पाँच समिति, तीन गुप्त और सत्रह परिषद्। अब संवर के छत्तीसवें भेद या अठारहवें  
परिषद् के विषय में बताया जायेगा। इस परिषद् का नाम है—‘जल्ल परिषद्।’

इस विषय में ‘श्री उत्तराध्ययन सूत्र’ के दूसरे अध्याय में छत्तीसवीं गाथा दी  
गई है। गाथा इस प्रकार है—

किलिन्नगाए मेहावी, पकेण व रएण वा ।

धिसु वा परिधावेणं, सायं नो परिदेवए ॥

अर्थात्—प्रस्वेद के कारण शरीर गीला हो गया है अथवा कीचड़ रूप हो  
गया हो तथा रज से या प्रीष्म और शरद ऋतु के परिताप से शरीर पर मल जम  
गया हो तो भी बुद्धिमान साधु सुख की इच्छा न करे।

‘मेहावी’ मागधी भाषा का शब्द है और संस्कृत में मेघावी यानी ‘धीर  
धारणावती मेघा।’ तो मेघावी अर्थात् बुद्धिमान व्यक्ति को यह विचार नहीं करना  
चाहिये कि मेरे शरीर पर मल इकट्ठा हो गया है और तीव्र गरमी या धूप के कारण  
शरीर पर पसीना आ जाने से यह गीला तथा चिपचिपा हो रहा है। शरीर के प्रति  
ग्लानि की ऐसी भावना का आना संवर के मार्ग से विचलित होना है। धूप का पड़ना  
और उससे गर्मी पैदा होना प्राकृतिक है। इसलिए पूर्ण समभाव से उसे सहन करना  
चाहिये तथा पसीने से घबराकर आत्मा में खेद या दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिए।

संस्कृत के एक श्लोक में बताया गया है कि यह जीवात्मा पदार्थ को जिस  
रूप में लेने की इच्छा करे उसी रूप में ले सकता है। महापुरुष तो बुराई में से भी  
अच्छाई लेते हैं।

श्लोक इस प्रकार है—

गुणायन्ते दोषाः सुजन वदने वुर्जन मुखे,

गुणा दोषायन्ते तद्विदमपि नो विस्मयपदम् ।

महामेघः क्षारं पिबति कुरुते वारि मधुरम्,  
फणी क्षीरं पीत्वा वमति गरलं दुस्सहतरम् ॥

कहा गया है—सज्जन के मुँह में पहुँच कर दोष गुण बन जाते हैं तथा दुर्जन के मुँह में पहुँचने से गुण भी दोष बन जाते हैं, यह कोई विस्मयपूर्ण बात नहीं है। क्योंकि हम देखते हैं—मेघ समुद्र का खारा जल पीते हैं, किन्तु उसे मीठा बनाकर बरसाते हैं और इसके विपरीत सर्व दूध पीता है पर उसे विष बनाकर उगलता है।

इसी तरह के और भी अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। यथा—सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल को मरणान्तक कष्ट दिया, पर उन्होंने सोमिल को अपने समस्त कर्मों को नष्ट कराने वाला हितैषी समझा। महासती चन्दनबाला को सेठानी मूलाबाई ने हथकड़ियों और बेड़ियों से जकड़कर तलघर में डाल दिया, किन्तु भगवान को उहड़ के बाकुले आहार-दान के रूप में देने पर जब घर में सुवर्ण-वृष्टि हुई और मूलाबाई को पश्चात्ताप हुआ तो चंदनबाला ने यही कहा “माताजी ! आपकी कृपा से ही यह सब हुआ।” इसी प्रकार सेठ सुदर्शन को अमयारानी ने झूठा कलंक लगाकर सूली पर चढ़वाने का प्रबन्ध कर दिया किन्तु जब सूली टूटकर सिंहासन बन गई और देवों ने “अहो शीलम्” “अहो शीलम्” कहकर पुष्प वृष्टि की तो रानी, राजा एवं सभी ने अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगी, पर सुदर्शन सेठ ने किसी की भी गलती नहीं मानी अपितु सभी को अपना सहायक समझा।

कहने का आशय यही है कि सज्जन या महापुरुष औरों के दोषों को भी गुण के रूप में ग्रहण करते हैं किन्तु दुर्जन व्यक्ति गुणवानों के गुणों को भी दोष मानते हैं।

इस सम्बन्ध में एक श्लोक कहा गया है—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ—  
दम्भः शुचौ कृतवम् ।  
शूरे निर्घृणता मुनी विमतिता,  
दैन्यं प्रियालापिनि ॥  
तेजस्विन्यबलिप्तता मुखरता,  
वक्तुः न्यशक्ति स्थिरे ।  
तत्को नाम गुणो भवेत् स गुणिना,  
यो दुर्जनैः न लाङ्घितः ?

इस श्लोक में बताया गया है कि दुर्जन व्यक्ति किसे दोषी नहीं बताते ? अर्थात् वे प्रत्येक में अवगुण ही देखते हैं। जैसे समझदार एवं विवेकी पुरुष किसी की

कटु एवं अविवेकपूर्ण बात का उत्तर नहीं देता है तो दुष्ट व्यक्ति उसे जड़ या बुद्धिहीन कहते हैं। वे कह देते हैं—इसमें अकल ही कहाँ है उत्तर देने लायक।

इसी प्रकार अगर कोई धर्मप्रेमी और आत्मा का हितैषी व्यक्ति त्याग को अपनाता है या व्रत ग्रहण करता है, तो भी दुर्जन व्यक्ति उसे दम्भी या ढोंगी कहकर पुकारते हैं। ऐसे व्यक्तियों से पूछा जाय, कि औरों के त्याग-व्रतों से तुम्हें क्या कष्ट होता है और फिर तुम्हें उससे लेना-देना भी क्या है? व्यर्थ में निन्दा करने से आखिर मिलता ही क्या है? पर आदत जो ठहरी। दोष-दर्शन की लत भी और लतों के समान ही होती है, जिसके बिना उनका खाना पचना कठिन हो जाता है।

दुर्जन व्यक्ति शूरवीरों को निर्दयी एवं हत्यारा कहते हैं तथा मुनियों को कायर बताते हैं। उनका कथन यही होता है कि साधु बनने में क्या कष्ट है? न तो उन्हें कोई कार्य ही करना पड़ता है और न कमाई। दोनों जून तैयार और उत्तम भोजन सीधा मिल जाता है तथा पहनने के लिए वस्त्रों की सहज ही उपलब्धि हो जाती है। और इसके अलावा सेवा करने के लिए शिष्य होते हैं तथा पूजा-प्रतिष्ठा लोग करते ही हैं। फिर साधु बनने में तकलीफ ही क्या है?

तो दुर्जन व्यक्ति जिन्होंने साधु-मार्ग पर एक कदम भी नहीं रखा है वे ही ऐसा प्रलाप करते हैं। पर उस जीवन में कितनी गहराई है? कितना त्याग है? कितने परिषर्हों का कष्ट है एवं मन पर कितना नियंत्रण रखा जाता है, इसे वे नहीं समझते। ऐसे व्यक्तियों से अगर यह कह दिया जाय कि साधु-जीवन बड़ा आनन्दप्रद है तो आओ, तुम भी साधु बन जाओ। तो संभवतः वे उसी क्षण भाग खड़े होंगे। साधु बनना सहज नहीं है। वे कैसे होते हैं इस विषय में कहा गया है—

निम्नमो निरहंकारो, निस्संगो चतुर्गारवो ।

समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तथा ।

समो निन्दापसंसासु, तथा माणावमाणओ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—संत वही है जिसने ममता को मार डाला है, अहंकार को नष्ट कर दिया है, सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है, बड़प्पन को छोड़ दिया है, जो स्थावर एवं जंगम प्राणिमात्र के प्रति समान भाव रखता है, जो लाभ तथा हानि में, सुख और दुःख में, जीवन-मरण में तथा निन्दा-प्रशंसा, मान और अपमान में एक-सा रहता है।

इन बातों से स्पष्ट है कि साधु का जीवन कितना उत्कृष्ट एवं तप-त्यागमय होता है। क्या ऐसे संत कभी आजीविका के उपाजन से घबराकर अथवा अपनी

सांसारिक जिम्मेदारियों से ऊबकर संयम का ढोंग कर सकते हैं ? कभी नहीं, बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं तथा चक्रवर्तियों ने अपने असीम वैभव को ठोकर मारकर जो मुनिवृत्ति अपनाई, वह क्या किसी कायरपने की भावना से या सांसारिक झंझटों की चिन्ताओं से घबराकर अपनाई ? नहीं, मुनिवृत्ति का, संयम का मार्ग केवल विरक्ति से अपनाया है या कर्मों का नाश करके सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूटने की इच्छा से ।

लेकिन दुर्जनों में यह सब समझने का विवेक कहाँ होता है ? वे तो केवल दोष-दर्शन ही करते हैं तथा संतों को दंभी या पाखंडी मानते हैं । पवित्रता को वे कपट कहते हैं और प्रिय वचनों को दीनता । वे नहीं जानते कि मधुर भाषण करना स्नेह एवं विनय का सूचक होता है । हमारे 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा गया है—

**हिअ-मिअ अफरुसवाई, अणुवीइभासि वाहओ विणओ ।**

अर्थात्—हित, मित, मृदु एवं विचारपूर्वक बोलना वाणी का विनय है ।

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वाणी के द्वारा मनुष्य के उत्तम या जघन्य होने की पहचान होती है । वाणी एक ऐसी कसौटी है, जिस पर मनुष्य की कुलीनता और अकुलीनता की भी परख हो जाती है ।

कहते हैं कि एक बार एक राजा और उसके साथ रहने वाला नौकर दोनों घोर वन में भटक गए तथा बहुत खोजने पर भी उन्हें मार्ग नहीं मिला ।

किन्तु संयोग से एक स्थान पर छोटी-सी झोंपड़ी दिखाई दी, जिसके बाहर एक अन्धी वृद्धा बैठी हुई थी । उसे देखकर राजा ने नाई से कहा—'जाकर उस वृद्धा से मार्ग पूछ आओ कि हमें यहाँ से किस दिशा में जाना चाहिए ताकि नगर का मार्ग मिल जाय ।'

नाई महाराज की आज्ञानुसार झोंपड़ी के पास गया और वृद्धा को सम्बोधित कर बोला—“ए बुढ़िया ! बता कि यहाँ से शहर जाने के लिए किस दिशा में जाना चाहिए ?”

वृद्धा ने नाई की बात सुन ली पर उत्तर कुछ नहीं दिया । जब नाई ने राजा से यह बात बताई तो राजा स्वयं झोंपड़ी के पास गया और बोला—“माताजी ! हम लोग इस जंगल में भटक गये हैं, मेहरबानी करके हमें बताओ कि किस ओर जाने पर हमें नगर के लिए रास्ता मिल सकेगा ?”

वृद्धा यह सुनकर बोली—“महाराज ! अपने नाई से कहिये कि वह आपको मेरी झोंपड़ी के पिछवाड़े से होकर ले जाए । कुछ दूर जाने पर ही आपको शहर में पहुँचाने वाली पगडंडी मिल जाएगी ।”

राजा को मार्ग की जानकारी होने पर असीम प्रसन्नता हुई किन्तु महान् आश्चर्य इस बात से हुआ कि अन्धी वृद्धा ने मुझे राजा समझ कैसे लिया ? अतः वह पृच्छ बैठा—“माता ! तुम्हें दिखाई तो नहीं देता, फिर भी तुमने यह कैसे जान लिया कि मैं राजा हूँ और मेरे साथ नाई है ?”

वृद्धा ने उत्तर दिया—“हजूर ! आपका नाई मुझसे बड़ी अमदता से बोला था, इससे मैंने जान लिया कि यह अवश्य ही राजा का कोई नौकर या नाई होगा । किन्तु आपकी वाणी की मधुरता और सम्मानपूर्ण वचनों से मैंने समझ लिया कि आप निश्चय ही महाराज हैं । क्योंकि कुलीन एवं महापुरुष कभी तुच्छतापूर्ण वचनों का प्रयोग नहीं करते ।”

तो बन्धुओ, मैं आपको दुर्जन व्यक्तियों के विषय में बता रहा था कि वे प्रत्येक व्यक्ति में दोष ढूँढा करते हैं और इतना ही नहीं, वे तो गुणी पुरुष के गुणों को भी दोष मानते हैं । ऐसे व्यक्ति मधुरभाषी को दीन कहते हैं, साथ ही कायर कहने से भी नहीं चूकते । श्लोक में आगे कहा है—

‘मुखरता वक्तुः न्यशक्ति स्थिरे ।’

अर्थात्—अगर व्यक्ति अच्छा वक्ता होता है यानी किसी भी विषय को सुन्दर तरीके से समझा सकता है और भिन्न-भिन्न प्रकार से उसकी विवेचना करके श्रोता के दिमाग में विषय को स्पष्ट करके बैठाने की क्षमता रखता है तो दुष्ट व्यक्ति उसे वाचाल कहते हैं ।

अगर बोलना बुरा माना जाए तो संत-महापुरुष अपने संसर्ग में आने वाले प्राणियों को आत्म-शुद्धि का मार्ग अथवा भगवान की आज्ञाओं को किस प्रकार श्रोताओं को समझा सकते हैं ? हमारे गुरुजनों ने जिस प्रकार हमें जिनवाणी का रहस्य समझाया, हम भी उसी प्रकार अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार आपको समझाने का प्रयत्न करते हैं । वाचालता जिसे कहते हैं, उसका तो भगवान ने भी निषेध किया है ।

दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा गया है—

द्विठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं वि अंजियं ।

अयंपिरमणुव्विवागं, भासं निसिरअत्तवं ॥—५-४६

अर्थात्—आत्मार्थी साधक अनुभूत, परिमित, सन्देहरहित, परिपूर्ण एवं स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे पर सदा यह ध्यान रखे कि वह वाचालता से रहित तथा औरों को उद्विग्न करने वाली वाणी न हो ।

कहने का अभिप्राय यही है कि वक्ता को वाचाल कहना दुर्जन या निन्दक का ही कार्य है। वह वक्ता को वाचाल कहता है और जो अधिक नहीं बोलता तथा चल-विचल न होता हुआ अपनी साधना में स्थिर रहता है, उसे अशक्त कहता है। उसे स्थिरता गुण न दिखाई देकर दोष मालूम देता है।

श्लोक का सारांश यही है कि दुर्जन व्यक्ति गुणियों के किस गुण को लांछित नहीं करता? यानी प्रत्येक गुण को वह दोष मानता है तथा उसको लांछित करता है। किन्तु संत-महापुरुष ऐसे व्यक्तियों के कथन की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक गमन करते रहते हैं। जिस प्रकार हाथी कुत्तों के भौंकने की परवाह न करता हुआ धीरे गति से अपने गन्तव्य की ओर बढ़ता रहता है, तनिक भी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार साधु-पुरुष निन्दकों की परवाह न करता हुआ सुमार्ग पर या साधना के मार्ग पर बढ़ता चला जाता है।

जो साधक सच्चे अर्थों में संयम रूपी रस का आस्वादन कर लेता है, वह निन्दा को भी परिषह मानकर उस पर विजय प्राप्त करता है। हमारा आज का विषय भी परिषह पर ही चल रहा है। इसमें अठारहवें "जल्ल परिषह" का वर्णन है। बताया गया है कि भयानक ग्रीष्म ऋतु में होने वाले परिताप के कारण भले ही साधु के शरीर पर अत्यधिक प्रस्वेद आ जाय और उस पर रज के जम जाने से वह कीचड़ के समान असह्य महसूस होने लगे, तब भी आत्मार्थी साधु यह विचार न करे कि कब यह कीचड़ रूपी मल दूर होगा और मुझे सुख की प्राप्ति हो सकेगी? ऐसी भावना उसे व्यक्त या अव्यक्त रूप में इसलिए नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह अपने शरीर का ममत्व सर्वथा त्याग देता है तथा केवल आत्मिक सुख की ओर ही अपना लक्ष्य बनाए रहता है। ऐसी स्थिति में शरीर पर शृंगार हो तो क्या और न हो तो क्या? शरीर स्वच्छ हो तो क्या और उस पर प्रस्वेद तथा धूल के जम जाने से वह मलयुक्त हो तो क्या?

सच्चे सयमी या मुनि तो संसार से सर्वथा विरक्त रहते हैं तथा भयानक से भयानक परिषहों के आ उपस्थित होने पर भी अपने साधना-मार्ग से विचलित न होते हुए प्राणों का परित्याग करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। उनके लिए प्रस्वेद या उस पर जमी हुई रज से होने वाला कीचड़ रूपी मल क्या चीज है? वे तो शरीर से सर्वथा उदासीन रहते हुए केवल आत्मा पर जमे हुए कर्म-रूपी को मल हटाने का प्रयत्न करते हैं, ताकि उनकी आत्मा को पुनः-पुनः जन्म-मरण न करना पड़े और न ही पुनः-पुनः शरीर धारण करके आत्मा को इस शरीर-रूपी कारागार में कैद रहना पड़े। ऐसे विवेकशील विचारों के कारण ही वे इस जड़ शरीर की स्वच्छता का ध्यान न रखते हुए आत्मा की स्वच्छता में लगे रहते हैं। कहा भी है—

सागर का सारा जल लेकर, धो डालो यह देह,  
फिर भी बना रहेगा ज्यों का त्यों अशुद्धि का गेह ।  
न शुचि होगा यह किसी प्रकार, हंस का जीवित कारागार ।

‘जल परिषह’ का सामना करने के लिए कवि शोभाचन्द्र मारिल्ल ने कितनी सुन्दर प्रेरणा देते हुए कहा है—यह शरीर जोकि आत्मा रूपी हंस के लिए कारागार के समान है, जब तक विद्यमान रहेगा, सदा अशुद्ध ही बना रहेगा । भले ही किसी समुद्र का सम्पूर्ण जल लेकर इसे निरन्तर धोया जाय, पर यह अशुद्धि का घर तो किसी भी प्रकार और कभी भी शुद्ध नहीं होगा ।

जो विचारशील संत इस बात को भली-भाँति समझ लेंगे वे ही इस परिषह का पूर्ण समभाव पूर्वक सहन करते हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे । ❀



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल से हमारा विषय 'जल्ल-परिषह' को लेकर चल रहा है। यह संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों में से अठारहवाँ परिषह है। इस विषय में कल 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' की छत्तीसवीं गाथा कही गई थी और आज सैंतीसवीं गाथा को लेकर अपने विचार आपके सामने रखा रहा हूँ। गाथा इस प्रकार है—

वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्ममणुत्तरं ।

जाव सरीरभेओत्ति, जल्लं काएण धारए ॥

—अध्ययन २, गा. ३७

अर्थात्—कर्मों की निर्जरा का इच्छुक साधु मल परिषह को शांतिपूर्वक भोगे और जब उसने आर्य धर्म का पूर्ण रूप से अनुसरण किया है तो जब तक शरीर का भेद यानी इसकी स्थिति है, तब तक प्रस्वेद जन्य मल को समभाव पूर्वक धारण किय रहे।

इस गाथा में बड़ा गम्भीर रहस्य छिपा हुआ है और वह इन शब्दों में है— 'आरियं धम्मणुत्तरं।' अर्थात् जब साधु ने श्रुत और चारित्र्य रूप प्रधान आर्य धर्म का अनुसरण किया है तो उसे सम्यक् ज्ञान पूर्वक सकाम निर्जरा करनी चाहिए। अगर उसमें सम्यक् ज्ञान का अभाव है तो वह भले ही अपने शरीर को रज और मल से लिप्त रहने दे तथा वर्षों तक पंचाग्नि तप करे किन्तु आत्मा को संसार-मुक्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह अज्ञान तप कहलाता है और ऐसे तप को जैनागम महत्त्व नहीं देते।

शास्त्रों की तो स्पष्ट घोषणा है—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाहिं वास कोडिंहि ।

तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेई उसासमित्तेणं ॥

—मग० ३।१।११।६

अर्थात्—हजारों वर्षों तक तप करने पर भी अज्ञानी जितने कर्मों का क्षय नहीं कर पाता, उतने कर्मों को ज्ञानी एक श्वास मात्र में ही नष्ट कर देता है ।

इसलिये जो साधु समभाव एवं ज्ञानपूर्वक सम्पूर्ण परिषर्हों को सहन करते हुए शरीर के ममत्व का त्याग कर अपने शरीर की प्रस्वेदजन्य मल सहित स्थिति बना लेते हैं वे निस्संदेह महान कर्मों का नाश करके उस उत्कृष्ट स्थिति पर जा पहुँचते हैं जो मोक्ष में सहायक बनती है । उनकी कर्म-निर्जरा सकाम-निर्जरा कहलाती है, अकाम-निर्जरा नहीं । अकाम निर्जरा करने से भले ही जीव को स्वर्ग-सुख हासिल हो जाय, किन्तु न उसे वहाँ सच्चा सुख मिलता है और न ही जन्म-मरण से मुक्ति की संभावना ही रहती है । कहा भी है—

कभी अकाम निर्जरा करे, भवनत्रिक में सुरतन धरे ।

विषय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत बुख सह्यो ।

पद्य से स्पष्ट है कि अगर जीव कभी अकाम निर्जरा करता है तो उस निर्जरा के प्रभाव से भवनवासी, व्यन्तर अथवा ज्योतिषी देवों में से कोई देव बन जाता है । किन्तु वहाँ उसका हाल क्या होता है ? यही कि वहाँ भी वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूपी अग्नि में झुलसता रहता है और जब वहाँ का आयुष्य पूरा होने को होता है यानी उसकी मंदारमाला मुरझाने लगती है तथा शरीर एवं आभूषणों की कान्ति मलिन होने लगती है तो वह अपने अवधिज्ञान के द्वारा मृत्यु काल निकट समझ कर अत्यन्त दुःखी होता है और नाना प्रकार से विलाप करता हुआ कर्मों का भार बढ़ा लेता ।

इसी कारण भगवान का आदेश है कि साधु कभी शीतोष्ण आतापादि से खिन्न न हो, भूख और प्यास के परिषर्हों से विचलित न हो तथा शरीर चाहे प्रस्वेद, रज एवं मल आदि से कितना भी लिप्त क्यों न हो जाय, उसे धोकर स्वच्छ करने की अभिलाषा न करे । वह सदा यही चिन्तन करे कि इस शरीर के नव द्वार तो सदा चलते रहते हैं अतः हजार बार धोने पर भी इसे शुद्ध नहीं किया जा सकता । शरीर का तो निर्माण ही कैसी अशुद्ध वस्तुओं से हुआ है, इस विषय में कहा गया है—

हृदिर, मांस, चर्बी पुरीष की है थैली अलबेली,  
चमड़े की चादर ढकने को सब शरीर पर फैली,  
प्रवाहित होते हैं नव द्वार, हंस का जीवित कारागार ॥

कल भी मैंने कवि के कथाननुसार कहा था कि आत्मा रूपी हंस के लिए कारागार के समान जो शरीर है, वह समुद्र का सम्पूर्ण जल लेकर धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं हो सकता ।

शुद्ध हो भी कैसे ? जिसे हम शरीर कहते हैं तथा बड़ा सुन्दर मानते हैं, यह चमड़े की एक थैली ही तो है जिसमें रक्त, मांस, चर्बी और पुरीष भरा हुआ है तथा नौ द्वार भी निरन्तर अशुद्ध चीजों को बहाते रहते हैं। मला यह पुनः पुनः या असंख्य बार धोने पर भी शुद्ध हो सकता है क्या ? फिर घृणित वस्तुओं से भरे हुए ऐसे शरीर को साधु ऊपर से मल लग जाने पर उसे धोने की आकांक्षा किसलिये करे ? उसे तो इसका यथार्थ रूप समझकर इससे सर्वथा उदासीन रहना चाहिए।

तो बन्धुओ, कहने का अभिप्राय यही है कि जो साधु आत्मार्थी होते हैं वे शरीर को शुद्ध बनाने की अपेक्षा आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। शरीर-शुद्धि की अपेक्षा उन्हें आत्म-शुद्धि अनन्त गुनी लाभदायक महसूस होती है। आप लोग व्यापारी हैं और प्रत्येक व्यापारी ऐसी ही वस्तु का व्यापार करना पसन्द करता है, जिसमें अधिक लाभ की सम्भावना हो। मुनि भी आध्यात्मिक दृष्टि से व्यापारी कहला सकते हैं अतः वे भी जो कुछ करते हैं अधिक लाभ की आकांक्षा को लेकर करते हैं। आप सांसारिक पदार्थों का व्यापार करके अधिक धन का लाभ चाहते हैं और सन्त अपनी साधना, ध्यान, चिन्तन एवं मनन आदि के द्वारा अधिकाधिक कर्म-निर्जरा का लाभ उठाने के प्रयत्न में रहते हैं। वे श्रुत और चारित्र्य रूप प्रधान आर्य-धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् घाटे में रहना पसंद नहीं करते। ऐसी स्थिति में अगर शरीर के क्षणिक सुख की ओर उनका ध्यान रहे तो निश्चय ही उन्हें घाटा या हानि होती है अतः इसकी ओर से वे विरक्त या उदासीन रहकर आत्मा के सुख रूपी अक्षय लाभ की ओर दृष्टि रखते हैं। आप व्यापारियों का लक्ष्य धन है और मुनियों का लक्ष्य मोक्ष। मुनिराज आर्य धर्म को अपनाने के पश्चात् अनार्य वृत्ति की ओर दृष्टिपात नहीं करते।

**आर्यत्व कैसे स्थिर रहे ?**

ठाणांग सूत्र में जालि, कुल, ज्ञान, मन, वचन, काया, एवं चरित्र आदि नौ प्रकार के आर्य बताए गए हैं। इस दृष्टि से मन, वचन एवं शरीर की वृत्ति को सन्हालना भी आर्यत्व को स्थिर रखने के लिये आवश्यक है। इन्हें काबू में रखने पर ही साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

सन्त तुलसीदासजी ने शरीर को खेत एवं मन, वचन तथा कर्म को किसान बताते हुए कहा है—

**तुलसी ये तनु खेत है, मन, वचन कर्म किसान ।**

**पाप पुण्य दोऊ बीज हैं, बने सो लवे सुजान ॥**

दोहा सीधी और सरल भाषा में कहा गया है, किन्तु इसके द्वारा शिक्षा बड़ी गम्भीर एवं आत्म-हित को लक्ष्य में रखते हुए दी गई है। तुलसीदासजी का कथन है

कि मानव शरीर एक खेत के समान है अतः इसे बंजर न रखकर इससे लाभ उठाना चाहिये। उन्होंने कहा है—इस शरीर रूपी खेत के किसान मन, वचन एवं कर्म हैं तथा इसमें बोये जाने वाले दो प्रकार के बीज हैं, पाप और पुण्य। सरल भाषा में कही गई इस बात में उन्होंने सहज ही बता दिया है कि मन, वचन और कर्म रूपी तीनों किसान अपने शरीर रूप खेत में चाहें तो पाप के बीज बोकर अपने संसार को बढ़ा सकते हैं और चाहें तो पुण्य रूपी बीज वपन करके संसार को कम कर सकते हैं।

एक किसान अपने खेत में जिन बीजों को डालता है उसी की फसल प्राप्त करता है। वह बाजरी बोकर गेहूँ नहीं पा सकता और चने बोकर चावल हासिल नहीं कर सकता। इसी प्रकार मन, वचन एवं कर्म रूपी किसान पाप के बीज डालकर पुण्य रूपी फसल प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् पाप-पूर्ण कार्य करके स्वर्ग और मोक्ष हासिल नहीं किया जा सकता है। अगर हमें जन्म-मरण से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना है तो अनिवार्य रूप से मन, वचन एवं क्रिया के द्वारा इस शरीर की सहायता से पुण्य एवं निर्जरा के कार्यों को करना पड़ेगा। जैसे भी कर्म किये जाएँगे, वैसा ही फल प्राप्त होगा, इसमें फर्क नहीं हो सकता। हमारा आर्य होना भी तभी सार्थक होगा जबकि हम दानवी वृत्ति का त्याग करके ब्रह्मवृत्ति को अपनाएँगे तथा अपनी आत्मा को परमात्मा बना लेंगे।

### मनुष्य की वृत्तियाँ

आप विचार करेंगे कि जब हम मनुष्य हैं तो हमारी वृत्ति मनुष्य-वृत्ति के अलावा और कौन-सी हो सकती है? पर ऐसी बात नहीं है। मले ही मनुष्य, मनुष्य है पर उसमें वृत्तियाँ तो अनेक प्रकार की होती हैं और वे वृत्तियाँ ही उसके परलोक का निर्माण करती हैं। अगर मनुष्य की वृत्तियाँ एक जैसी ही हों तो सारे ही मनुष्य मरकर एक ही स्थान पर यानी नरक में, स्वर्ग में या मोक्ष में चले जाँय। पर क्या ऐसा होना संभव है? नहीं, मन बढ़ा चंचल और विलक्षण होता है तथा उसे अंकुश में न रख पाने पर या अंकुश में रखने पर मानव की वृत्तियों में अन्तर आ जाता है। ये वृत्तियाँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं, किन्तु आज मैं मुख्य रूप से चार वृत्तियों के बारे में आपको बताता हूँ। इन चार वृत्तियाँ में पहली है दानवी, दूसरी मानवी, तीसरी दैवी और चौथी ब्रह्मवृत्ति है।

एक पद्य में इनके विषय में कहा गया है—

दानवी वृत्ति का है यह लक्षण मेरा सो मेरा है तेरा भी मेरा है।  
मानवी वृत्ति का है यह लक्षण, मेरा सो मेरा है तेरा सो तेरा है ॥  
दैवी वृत्ति का है यह लक्षण, तेरा तो तेरा है मेरा भी तेरा है।  
ब्रह्मवृत्ति में अंधेरा मिटा सब, झूठा बखेड़ा न तेरा न मेरा है ॥

## (१) दानवी वृत्ति

अभी बताई हुई चारों वृत्तियों में से दानवी वृत्ति सबसे निकृष्ट एवं वैर को जन्म देने वाली है। जिन व्यक्तियों के हृदय में यह वृत्ति पनप जाती है वे न स्वयं चैन लेते हैं और न दूसरों को ही चैन लेने देते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने धन की तो सर्प के समान चौकसी करते ही हैं, सदा दूसरों का धन हड़पने की कोशिश में भी लगे रहते हैं। दानवी वृत्ति के कारण ही संसार में सदा से झगड़े-फसाद एवं भयानक युद्ध होते चले आए हैं। एक व्यक्ति दूसरे के धन को भी अपने कब्जे में लेने का प्रयत्न करता रहा है और एक राजा दूसरे के राज्य को छीनने की कोशिश में लगा रहा है। इस दानवी वृत्ति ने ही सदा से यहाँ भयानक रक्तपात किया है और खून की नदियाँ बहाई हैं। दुर्योधन में दानवी वृत्ति थी इसीलिए उसने अपना राज्य तो अपने पास रखा ही, पांडवों का भी हड़पने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न किये। प्रथम तो सरल-हृदयी युधिष्ठिर को जुआ खिलाया और उसमें भी धोखेबाजी से उनका सब कुछ छीन लिया। इतने पर भी सन्तोष न होने पर उनकी पत्नी द्रौपदी को दाव पर रखवाकर उसका भरे दरबार में अपमान किया। तत्पश्चात् उन्हें एक वर्ष तक अज्ञात-वास करने की और पता लग जाने पर पुनः वैंसा ही करने की शर्त रखी पर अज्ञात-वास पाण्डवों के सौभाग्य से सफल रहा और दुर्योधन लाख प्रयत्न करके भी उनका पता न लगा सका। किन्तु अज्ञातवास के पश्चात् भी दुर्योधन अपने वादे से मुकर गया और उसने स्पष्ट कह दिया—“एक सुई के अग्रभाग जितनी जमीन भी पांडवों को नहीं दूंगा।” परिणाम यह हुआ कि महाभारत प्रारम्भ हुआ और लाखों व्यक्तियों के नाश के साथ ही दुर्योधन भी अपने कुल सहित मृत्यु को प्राप्त हुआ।

दानवी वृत्ति ऐसी ही होती है, जिसके मस्तक पर सवार हो जाने के पश्चात् मनुष्यों को हिताहित का भी भ्रान नहीं रहता। व्यक्ति एक-दूसरे के खून का प्यासा बन जाता है तथा जन्म-जन्मान्तर के लिए वैर बाँध लेता है। आज भी दानवी वृत्ति वाले व्यक्तियों की कमी नहीं है। बड़े-बड़े पदाधिकारी भी गरीबों की रोटी छीनते हुए अपना घर मरने के प्रयत्न में रहते हैं। इसी के कारण देश की स्थिति डारवाँडोल ही नहीं अपितु अत्यन्त भयंकर हो रही है। बेचारे मूखे व्यक्ति जब उदर भी नहीं भर पाते हैं तो चोरियाँ करते हैं, अकेली-दुकेली बहू-बेटियों को लूट ले जाते हैं और बच्चों को चुराकर उनके बदले में पैसों की मांग करते हैं। आए दिन ऐसी दिल दहला देने वाली घटनायें सुनने को और पढ़ने को मिलती हैं। अनेक व्यक्ति तो मूख से तंग आकर अपने बच्चों को, बीबी को जहर दे देते हैं और स्वयं भी वही खाकर सदा के लिए सो जाते हैं। यह सब क्यों होता है? केवल इसीलिए कि लोगों में दानवी वृत्ति घर कर गई है। पैसे वाले व्यक्ति जब जरूरत से अधिक इकट्ठा कर लेते हैं तो अन्य व्यक्तियों को भोजन और वस्त्र मिलना भी दुर्लभ हो जाता है। दानवी वृत्ति के कारण

ही कुछ व्यक्ति लक्षपति या करोड़पति बनते हैं और अन्य व्यक्ति दरिद्र रहकर नंगे, भूखे रहकर बड़ी कठिनाइयों से जीवन गुजारते हैं ।

### (२) मानवी वृत्ति

मानवी वृत्ति जिन मनुष्यों में पायी जाती है वे जो कुछ उपाजर्जन करते हैं या उनके पास जो कुछ होता है, उससे सन्तुष्ट रहते हैं । उनकी भावना यही होती है कि मेरे पास जितना है वही मेरा है और काफी भी है । अनीति तथा अन्यायपूर्वक वे औरों का धन या औरों का हक छीनने का प्रयत्न नहीं करते । उदाहरणस्वरूप पांडवों ने मानवी वृत्ति या मानवीय भावनाओं के अनुसार कौरवों से या दुर्योधन से यही कहा था—“हमें केवल हमारे हक की जमीन या राज्य दे दो, हम उतने से ही सन्तुष्ट रहेंगे ।” पर जब दुर्योधन इसके लिए तैयार नहीं हुआ तो उन्होंने केवल पाँच गाँव ही माँगे और कहा—“पूरा हक नहीं देना चाहते हो तो सिर्फ पाँच गाँव दे दो । हम उनसे ही अपना काम चला लेंगे ।”

उनकी ऐसी वृत्ति मानवी वृत्ति कहलाती है । इस वृत्ति के धारक व्यर्थ में झगड़े-झंझट करना पसन्द नहीं करते । वे अपने को अपना और दूसरों का जो कुछ होता है, उसे उनका समझते हैं । ऐसी वृत्ति भी अगर सब मनुष्यों में आ जाय तो संसार के सब व्यक्ति अपना भरण-पोषण शान्तिपूर्वक कर सकते हैं ।

### (३) दैवी वृत्ति

दैवी वृत्ति बहुत कम मनुष्यों में पाई जाती है । जो व्यक्ति संसार की असा-रता को समझ लेते हैं तथा सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता के कारण उनसे उदासीन हो जाते हैं, वे अपने धन, मकान, जमीन या अपने अधिकार में रही हुई वस्तुओं पर आसक्ति नहीं रखते । समय आने पर ऐसे व्यक्ति अपना सब कुछ भी अग्न्य जहूरतमन्दों को सहज ही दे दिया करते हैं । ऐसे महापुरुषों को आप कहते भी हैं—“यह देवता पुरुष हैं ।”

अकेली गाय क्या ले जा रहा है ?

कहा जाता है कि एक बार संत तुकाराम के यहाँ एक चोर चोरी करने के इरादे से आया । तुकाराम उस समय जाग रहे थे, किन्तु वे कुछ नहीं बोले, चुपचाप नींद का बहाना किये पड़े रहे । उन्होंने सोचा—“बेचारा बड़ी आशा से आधी रात में कष्ट करके आया है तो अच्छा है, इसे जो कुछ पसन्द आए वह ले जाय ।”

चोर ने चुपचाप सारे घर को देखा और बर्तन वगैरह टटोल डाले । किन्तु तुकाराम के यहाँ था ही क्या जो चोर चुराता । धन के नाम से उनके पास कुछ भी

तो नहीं था। पर आंगन में एक गाय अपने बछड़े के साथ बंधी थी। चोर ने सोचा—“और कुछ नहीं है तो चलो गाय ही ले जाऊँ।” संस्कृत में कहते भी हैं—

“पलायमान चोरस्य कथा एव लाभः।”

भागते हुए चोर को अगर कचड़ी भी मिल जाय तो उसे वह लाभ मानता है। फिर तुकाराम के यहाँ तो गाय थी। अतः चोर बड़ी सावधानी से उसे खूँटे से खोलकर ले चला। बछड़ा वहीं बंधा था। अतः अब तुकाराम से नहीं रहा गया और वे चोर को सम्बोधित करते हुए बोल पड़े—

“अरे भाई ! अकेली गाय क्या लिये जा रहा है ? इसके साथ बछड़ा भी ले जा।”

चोर ने ज्योंही संत के वचन सुने, वह पानी-पानी हो गया। सोचने लगा—“क्या संसार में ऐसे देव-पुरुष भी होते हैं, जो एक चीज ले जाने पर कहें कि दूसरी भी ले जा ?” अत्यन्त शर्मिन्दा होकर उसने संत तुकाराम से अपनी चौर्यवृत्ति के लिये क्षमा मांगी। किन्तु तुकाराम ने जबरन वह गाय और बछड़ा उसके साथ कर दिया।

दैवी वृत्ति को बताने वाला एक और भी बड़ा सुन्दर उदाहरण है। वह इस प्रकार है—

अपनी दुर्गति की चिन्ता नहीं है

संत रामानुज जब अपने गुरु से अध्ययन समाप्त कर चुके तो अन्त में उनके गुरु ने उन्हें एक मन्त्र और दिया तथा कहा—“इस मन्त्र का रहस्य किसी और को कभी मत बताना।”

पर रामानुज बड़े उदार एवं संसार के समस्त प्राणियों के हित-चिन्तक थे। उन्होंने मन्त्र की महत्ता का ध्यान तो रखा पर अपने योग्य भक्तों को यंज-दीक्षा देकर मन्त्र का रहस्य बता दिया।

जब रामानुज के गुरुजी को इस बात का पता चला तो वे अत्यन्त कुपित हुए और उन्हें बुरी तरह से फटकारते हुए बोले—“तुमने आखिर मेरा कहना नहीं माना ? परिणामस्वरूप तुम्हें दुर्गति में जाना पड़ेगा और वहाँ की यातनाएँ भोगनी होंगी।”

रामानुज पर तो मानो पाला ही पड़ गया। गुरु के क्रोधित हो जाने पर उन्हें अपार व्यथा हुई और वे अत्यन्त बुझे हुए स्वर में बोले—“भगवन् ! मेरी बड़ी भारी मूल हुई कि मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सका। किन्तु कृपया आप मुझे यह बताइये कि मैंने जिन व्यक्तियों को उस मन्त्र की दीक्षा दी है और उसका रहस्य समझाया है, क्या वे भी दुर्गति को प्राप्त होंगे ?”

गुरुजी ने कुछ क्षण विचार किया और फिर उत्तर दिया—“यह मन्त्र ब्रह्मण

करने वालों पर निर्भर है। अगर उन्होंने पूर्ण श्रद्धा से मन्त्र ग्रहण किया है तो वे तुम्हारे मक्त सद्गति को प्राप्त कर सकेंगे।”

यह बात सुनकर तो रामानुज का चेहरा पुनः प्रफुल्लित हो गया और वे अपने गुरु के समक्ष हाथ जोड़कर बोले—“गुरुदेव ! तब तो मुझे आपके द्वारा प्रदत्त मन्त्र का रहस्य औरों को बताने का कोई दुःख नहीं है। मेरे बताए हुए मंत्र से अगर उन सबकी सद्गति होगी तो केवल मेरी दुर्गति के लिए मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है।”

गुरुजी अपने शिष्य की बात सुनकर अवाक् रह गए और उन्होंने हृदय से अपने देवता स्वरूप शिष्य को धन्य-धन्य कहा।

वे उदाहरण मनुष्य में रहने वाली दैवी वृत्ति के परिचायक हैं और ये बताते हैं कि इस वृत्ति वाले पुरुष किस प्रकार अपना अहित करके भी औरों का हित-चिन्तन करते हैं। रामानुज जैसे संत ने अपने भक्तों की सद्गति की खुशी में जब अपनी स्वयं की दुर्गति की भी परवाह नहीं की, जिसके कारण न जाने कितने काल तक नाना कष्ट उठाने पड़ते हैं तो फिर धन की तो बात ही क्या है? जिसके लिए वे मेरा-मेरा कहकर औरों के पेट पर लात मारें। दैवीवृत्ति वाले महामानव तो अपना सर्वस्व ही औरों को देने के लिए तैयार रहते हैं। उनके हृदय में अपनी अधिकृत किसी भी वस्तु के लिए ममत्व नहीं होता और इसीलिए वे—‘तेरा सो तेरा मेरा भी तेरा’—यह कहते हैं।

#### (४) ब्रह्मवृत्ति

बन्धुओं, ध्यान में रखने की बात है कि दैवी वृत्ति वाले मनुष्य अपना भी औरों को देते हैं, किन्तु इतना जरूर कहते हैं कि ‘मेरा सो भी तेरा है।’ अर्थात्—वे मेरे और तेरे में अन्तर जरूर समझते हैं पर ब्रह्मवृत्ति वाले व्यक्ति में तो मेरे और तेरे की भावना ही नहीं रहती। उसके पवित्र मानस में ज्ञान की दिव्य ज्योति जल जाती है तथा उसके प्रकाश में उसे कोई पराया नहीं दिखाई देता। वह सभी की आत्मा में परमात्मा का अंश देखता है, दूसरे शब्दों में सभी आत्माओं को परमात्मा का ही रूप मानता है।

कहा जाता है कि संत एकनाथ जी ऐसी ही ब्रह्मवृत्ति के स्वामी थे। एक बार वे अपने लिए रोटियाँ सेक रहे थे कि एक कुत्ता उनकी कुछ रोटियाँ मुंह में लेकर भागने लगा।

जब एकनाथ जी ने यह देखा तो वे घी की कटोरी लेकर उस कुत्ते के पीछे दौड़ते हुए बोले—

“अरे मगवन् ! रूखी रोटियाँ लेकर मत जाइये, उन्हें चुपड़ तो देने दीजिये।”



कई बार एकनाथ जी के साथ कुत्ते खाने के लिए भी बैठ जाते थे क्योंकि वे उन्हें भगाते नहीं थे। लोग जब इस दृश्य को देखते तो हँस पड़ते थे। यह देखकर एकनाथ जी चकित होते और लोगों से कहते—“भगवन् ! हँसते क्यों हैं ? भगवान्, भगवान् के साथ खा रहा है, इसमें भला हँसने की कौनसी बात है ?”

तो ब्रह्मवृत्ति वाले महापुरुष किसी को भी अपने से हीन नहीं समझते। वे मानते हैं कि कीड़ी से लेकर कुंजर यानी हाथी के अन्दर तक भी एक ही अनन्त शक्तिशाली आत्माएँ हैं। कोई भी आत्मा कम या अधिक महत्व नहीं रखती। केवल पूर्व कर्मों के कारण ही उन्हें भिन्न-भिन्न योनियों में जाना पड़ता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के आकारों में कैद रहना पड़ता है। इसलिए वे किसी प्राणी का अपमान नहीं करते तथा सभी पर समान प्रेम एवं करुणा का भाव रखते हैं। वे सदा यही भावना अपने अन्तर में बनाये रखते हैं कि अगर आत्मा का कल्याण करना है तो भगवान् के आदेशों का पालन करना पड़ेगा और श्रेष्ठ आर्य धर्म को स्वीकार करके जीवन के अन्त तक उसे हड़तापूर्वक निभाना पड़ेगा।

यद्यपि धर्म का पालन करने में अनेकों बाधाएँ, विघ्न और परिषह आते हैं किन्तु जब शरीर पर से भ्रमत्व हटा लिया जाता है तो उन्हें सहन करना कठिन नहीं होता। सारे परिषह शरीर को ही कष्ट पहुँचाते हैं, आत्मा को उनसे कोई हानि नहीं होती। उल्टे परिषहों को समतापूर्वक सहन करने से आत्मा की शक्ति जाग्रत होती है।

हमारे प्रवचन में भी 'जल्ल परिषह' का वर्णन चल रहा है। इसके लिए विवेकी और शक्तिशाली संत सोचते हैं कि जब साधना को समीचीन रूप से चलाने के लिए गजसुकुमाल जैसे बाल मुनि कुछ क्षणों में ही यह देह त्याग देने की हृदयता रखते हैं तो शरीर पर पसीने का आ जाना और उस पर मल का जम जाना क्या महत्व रखता है ? यह शरीर तो एक दिन जाना ही है चाहे इसे धो-धोकर साफ करते रहो या फिर जैसी भी स्थिति में रहता है, रहने दो।

दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्याय में कहा गया है—

तन्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिपेण वा ।

जावज्जीव वयं घोरं असिणाणमहिदुठया ॥

गाथा में संत-मुनिराजों के लिए कहा गया है कि वे कभी भी उष्ण या शीतल जल से स्नान नहीं करते तथा जीवनभर इस घोर व्रत का पालन करते हैं।

यद्यपि शरीर पर पानी का पड़ जाना या न पड़ना महत्व नहीं रखता, महत्व मन की वृत्ति का होता है। हम देखते हैं कि किसी पतिव्रता स्त्री का पति अगर परदेश में चला जाता है तो उसे अच्छे वस्त्र पहनना, आभूषण धारण करना या इत्र-फुलेल आदि लगाना अच्छा नहीं लगता। यानी शरीर का श्रृंगार करना उसे प्रिय नहीं लगता।

तो हाड़-मांस के एक व्यक्ति के लिए भी जब स्त्री अपने शरीर के सजाने का मोह छोड़ देती है तो फिर मुनि तो अपनी आत्मा को परमात्मा के रूप में लाने का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य अपने सामने रखता है और उसे पूरा करने के उद्देश्य में जब जुट जाता है तो फिर शरीर को नहलाने, धुलाने और सजाने में वह कब अपने मन को लगा सकता है ? शरीर की शुश्रूषा करने पर मन की वृत्ति में फर्क आ जाता है। हमारे बुजुर्ग तो यह कहते रहे हैं कि अगर कपड़ा फट जाय और नया पहनना पड़े तो शरीर पर पहने जाने वाले सभी वस्त्र नये नहीं होने चाहिए। एक कपड़ा नया हो तो अन्य पुराने होने चाहिए। इस प्रकार शरीर को आकर्षक बनाने का प्रयत्न न करके इन्द्रियों पर संयम रखने से संवर के मार्ग पर चला जा सकता है।

साधक को तो दृढ़ संकल्प के साथ अपनी आत्म-शुद्धि करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर की शुद्धि में लगा रहने से उसे क्या हासिल हो सकता है ? कुछ भी नहीं, यह शरीर तो चाहे मलिन रहने दिया जाय या सजाकर रखा जाय एक दिन निश्चय ही नष्ट हो जायगा। किन्तु अगर आत्मा को शुद्ध कर लिया जाएगा तो सदा के लिए शाश्वत सुख की प्राप्ति हो जाएगी और फिर शरीर धारण करने की जरूरत ही नहीं रहेगी। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपनी आत्म-शक्ति पर दृढ़ विश्वास रखता हुआ यह चिन्तन करे—

ऐ जजबाए दिल ! गर मैं चाहूँ,  
हर चीज मुकाबिल आ जाए।  
मंजिल के लिए दो गाम चरूँ,  
सामने मंजिल आ जाए ॥

इस उर्दू भाषा के पद्य में गाम का अर्थ है कदम। आप विचार करेंगे कि क्या दो कदम चलने का निश्चय कर लेने पर ही मंजिल मिल सकती है ? अवश्य मिल सकती है। यद्यपि मोक्ष की मंजिल जीव को कई-कई जन्म तक चलने पर प्राप्त होती है, किन्तु गजसुकुमाल मुनि उस मंजिल को प्राप्त करने के लिए कितना चले थे ? केवल एक रात्रि, संभवतः वह भी पूरी नहीं निकल सकी थी। अपनी माता के हाथ से खाये हुए अन्न के पश्चात् संयमी जीवन में संभवतः उन्होंने पुनः अन्न भी ग्रहण नहीं किया था। साधना के जीवन में एक दिन चलकर ही उन्होंने शिवपुर की लम्बी मंजिल हासिल करके अक्षय सुख और शांति प्राप्त कर ली थी।

तो बंधुओ, परिषद्दयुक्त साधना का मार्ग कठिन अवश्य है किन्तु आत्म-शक्ति की दृढ़ता उसे अवश्यमेव पार लगा देती है। इसीलिए भगवान का कथन है कि परिषद्दों के कारण तनिक भी विचलित न होते हुए साधक को संवर के मार्ग पर बढ़ना चाहिए और ऐसा करने पर ही मुक्ति रूपी मंजिल प्राप्त हो सकती है।

धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों !

बहुत दिनों से हमारा संवर तत्व पर विवेचन चल रहा है। संवर के सत्तावन प्रकार होते हैं और उसके छब्बीसवें भेद यानी अठारहवें 'जल्ल परिषह' का वर्णन पिछले दो दिनों से किया जा रहा है।

कल श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्याय की सैतीसवीं गाथा मैंने आपके सामने रखी थी। जिसमें मगवान महावीर ने मुमुक्षु प्राणियों को उपदेश दिया है कि अगर कर्मों की निर्जरा करनी है तो आर्य धर्म का शरीर रहते पालन करो। आर्य धर्म मी कैसा ? अनुत्तरम् अर्थात् जिससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। ऐसे धर्म की महत्ता का वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता। शास्त्र कहते हैं—

दिव्यं च गहं गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारियं ।

—उत्तराध्ययन सूत्र

आर्य धर्म का आचरण करके महापुरुष दिव्य गति को प्राप्त होते हैं।

तो धर्म से बढ़कर इस संसार में और कुछ नहीं है, जो आत्मा का भला करने में समर्थ हो सके। इसीलिए कहते हैं—'लोकस्स धम्मो सारो।' इस संसार में अगर कोई सारभूत पदार्थ है तो वह एकमात्र धर्म ही है। वैसे भी कीमत सारभूत वस्तु की होती है। अनाज की कीमत होती है भूसे की नहीं; क्योंकि वह सारहीन होता है। इसी प्रकार विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों में सारभूत केवल धर्म है और अन्य सब सारहीन। इसीलिए प्रत्येक प्राणी को सच्चे धर्म का अनुसरण करना चाहिए।

धर्म के तीन प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र ज्ञान से समझा, दर्शन से उस पर श्रद्धा रखी और चारित्र के द्वारा अमल में लाया गया तो धर्म सच्चे अर्थों में ग्रहण किया गया है, ऐसा कहा जा सकता है।

ज्ञान का साहाय्य

अभी मैंने बताया कि लोक में सारभूत पदार्थ क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि लोक में सारभूत पदार्थ केवल धर्म है। अब दूसरा प्रश्न होता है

कि धर्म का सार क्या है ? उत्तर में कहा गया है धर्म का सार ज्ञान है । जब तक तत्वों का ज्ञान नहीं होगा तब तक धर्म को आचरण में नहीं लाया जा सकेगा । ज्ञान के द्वारा ही व्यक्ति जीव, अजीव, आश्रम, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्षादि का ज्ञान करता है और इन सबका ज्ञान होने पर ही वह हेय, ज्येय एवं उपादेय को पहचान कर कर्मों की निर्जरा करता हुआ संवर के मार्ग पर बढ़ता है ।

ज्ञान की महिमा बताते हुए कहा भी है—

तमो धुनीते कुस्ते प्रकाशं,  
शामं विधत्ते विनिहन्ति कोपम् ।  
तनोति धमं निधुनोति पापं,  
ज्ञानं न किं किं कुस्ते नराणाम् ॥

अर्थात्—ज्ञान अज्ञानरूपी तम यानी अन्धकार को दूर करता है, प्रकाश फैलाता है, शान्ति प्रदान करता है, क्रोध विनष्ट करता है, धर्म को विस्तृत बनाता है तथा पाप को धुनकर रख देता है । और इस प्रकार यह ज्ञान मनुष्य का क्या-क्या इष्ट-साधन नहीं करता ? यानी सभी कुछ करता है ।

अभिप्राय यही है कि मानव सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने पर ही धर्म का यथार्थ रूप से पालन कर सकता है तथा अपनी साधना पर दृढ़ता से बढ़ता हुआ कर्मों से मुक्त हो सकता है । इस संसार में सम्यक् ज्ञान के अलावा और कोई भी वस्तु आत्मा का शाश्वत सुख प्रदान करने में समर्थ नहीं है ।

अध्यात्म प्रेमी पं. दौलतराम जी ने अपनी 'छहडाला' नामक पुस्तक में ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मनाश के विषय में अन्तर बताते हुए लिखा है—

कोटिजन्म तप तपं, ज्ञान बिन कर्म झरं जे;  
ज्ञानी के छिन माहिं त्रिगुप्ति तें सहज टरं ते ।  
मुनिव्रत धार अनन्तबार प्रीवक उपजायो;  
पै निज आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥

ज्ञानी और अज्ञानी में कितना मारी अन्तर बताया गया है ? कहा है—मिथ्या-दृष्टि जीव सम्यक् ज्ञान के अभाव में करोड़ों जन्मों तक तपश्चर्या करके जितने कर्मों का नाश कर पाता है, उतने कर्मों का नाश सम्यक्ज्ञानी साधक अपने मन, वचन एवं काया की प्रवृत्ति को रोककर शुद्ध स्वानुभव से क्षण मात्र में ही नष्ट कर देता है ।

आगे कहते हैं कि यह जीव मुनियों के महाव्रतों को धारण करके उनके प्रभाव से अनन्त बार नवमें ग्रैबेयक तक के विमानों में भी उत्पन्न हो चुका है, किन्तु आत्मा

के भेद विज्ञान या सम्यक् ज्ञान के बिना वहाँ भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं कर सका है ।

इसलिए कवि पुनः-पुनः मुमुक्षु प्राणी को उद्बोधन देता हुआ कहता है—

तातें जिनवर-कथित तत्व अभ्यास करीजे ;  
संशय, विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे ।  
यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिर्वा जिनवानी ;  
इह विधि गए न मिलै, सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥

कवि का कथन है—“अरे मानव ! सम्यक् ज्ञान के बिना कोई भी व्यक्ति अपने निर्दिष्ट लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति नहीं करता, इसलिए तू जिन भगवान द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्वों का पठन-पाठन एवं उन पर चिन्तन-मनन कर, ताकि स्व और पर के भेद-विज्ञान को समझ सके । साथ ही अपने अन्दर रहे हुए संशय, विपर्यय एवं मोहादि का त्याग करके अपनी आत्मा की पहचान कर । ऐसा करने पर ही उसमें रही हुई अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान एवं अनन्त सुख को तू पा सकेगा ।”

“भोले प्राणी ! तू यह कभी मत भूल कि यह मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, उच्च जाति, आर्य क्षेत्र, आर्य धर्म तथा जिनवाणी सुनने का अवसर तेरे लिये सदा ही बना रहेगा या कि पुनः-पुनः प्राप्त होगा । ये सब सुयोग अगर निरर्थक चले गये तो फिर अनन्त काल तक भी इनका फिर से प्राप्त करना दुर्लभ हो जाएगा, जिस प्रकार अमूल्य रत्न समुद्र में खो जाने पर मिलना कठिन हो जाता है ।”

बन्धुओ ! ज्ञान का माहात्म्य अवर्णनीय है । इसके बिना मनुष्य पथभ्रष्ट होकर सन्देह और भ्रम के कंटकाकीर्ण मार्ग पर भटक जाता है । परिणाम यह होता है कि वह धर्म के नाम पर पूजा, पाठ, जप एवं तपादि अनेकानेक क्रियायें करता भी है किन्तु उनसे कोई लाभ हासिल नहीं कर पाता । उसकी वे समस्त क्रियायें मक्खन के लिए पानी को बिलौने के समान और बालू रेत को पीलकर तेल निकालने के समान व्यर्थ चली जाती हैं । किन्तु इसके विपरीत अगर वह एक बार सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है तो विभिन्न परिस्थितियों के समक्ष आने पर भी और विभिन्न परिषदों के द्वारा मुकाबला किये जाने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता तथा मंजिल को प्राप्त कर ही लेता है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही बताते हुए एक बड़ी सुन्दर गाथा कही गई है । जिसमें ज्ञानी आत्मा के विषय में कहा है—

जहा सूई ससुत्ता पडियावि न विणस्सइ ।  
एवं जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ ॥

जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी धागे से युक्त आत्मा संसार में नहीं मटकती ।

कहने का आशय यही है कि साधक को सर्वप्रथम धर्म के सारभूत सम्यक् ज्ञान को हासिल करना चाहिए । अन्यथा उसकी वही गति होगी जो तैरने की कला जाने बिना सागर में छलांग लगा देने वाले व्यक्ति की होती है । ध्यान से समझने की बात है कि जो व्यक्ति तैरने की कला नहीं सीख लेता है, और फिर भी सागर में कूद जाता है वह यद्यपि हाथ-पैर हिलाने की क्रिया तो बहुत करता है किन्तु वे ठीक नहीं होती अतः वह पुनः किनारे पर नहीं आ पाता और उसके अतल में समा जाता है ।

ठीक इसी प्रकार अज्ञानी साधक की स्थिति होती है । वह भी जीवन और जगत का रहस्य न जानने के कारण तथा तत्वों की जानकारी न कर पाने के कारण संवर और निर्जरा की कला यानी ज्ञान को नहीं जान पाता है । परिणाम यह होता है कि वह इस संसार-सागर को पार करने का प्रयत्न तो करता है और नाना क्रियाएँ धर्म के नाम पर किये जाता है । किन्तु वे सही नहीं होतीं, इसलिए वह संसार-समुद्र से पार नहीं हो पाता, उसी में गोते लगाता रहता है ।

### सम्यक् चारित्र

अभी हमने ज्ञान के महत्व पर विचार किया है तथा यह जाना है कि धर्म का सारभूत ज्ञान है । अब दूसरा प्रश्न हमारे सामने आता है कि ज्ञान का सार क्या है ? इसके उत्तर में निःसंकोच कहा जा सकता है कि ज्ञान का सार चारित्र या क्रिया है । ज्ञान तो हमने बहुत कर लिया पर अगर उसे अपने आचरण में नहीं उतारा यानी उसके अनुसार क्रिया नहीं की तो फिर उससे क्या लाभ होना है ? कोई व्यक्ति बाजार में घूमने निकलता है और पूरे दिन घूम-धूमकर प्रत्येक खाद्य पदार्थ की जानकारी कर लेता है । हर तरह की मिठाई एवं नमकीन कैसे बनता है तथा उसमें क्या-क्या डाला जाता है, यह भी जान लेता है । किन्तु अगर उन पदार्थों में से वह कुछ खाता नहीं है तो भला उसका पेट कैसे भर सकता है ? कभी नहीं भर सकता । खाद्यपदार्थों के ज्ञान के साथ ही उसे खाने की क्रिया भी तो करनी पड़ेगी । अन्यथा उनका कोरा ज्ञान ही उसकी उदर पूर्ति कैसे कर सकेगा ?

यही हाल ज्ञान के पश्चात् चारित्र का है । यह सही है कि ज्ञान एवं दर्शन साधना की प्रथम दो सीढ़ियाँ हैं और वे भी मोक्ष के हेतु हैं किन्तु चारित्र तो मोक्ष का साक्षात् कारण है । साधक भले ही कोटी का ज्ञान कर ले, अनेकों शास्त्र कंठस्थ कर ले, अध्ययन एवं चिंतन-मनन भी करे, पर अगर वह इन सबको अपने आचरण में न उतारे अर्थात् क्रियान्वित न करे तो वह ज्ञान और चिंतन-मनन उसे मोक्ष के

समीप भी नहीं फटकने देगा। जीव के अनादिकालीन दुःख, संताप और पीड़ा को सम्यक् चारित्र के माध्यम से ही समाप्त किया जा सकता है। सब कुछ व्यक्ति ने जान लिया और मान भी लिया, किन्तु पालन अगर नहीं किया तो वह जानना और मानना नहीं के समान है। रोगी डॉक्टर से अपने रोग का निदान करवा लेता है तथा औषधि भी लिखवा लेता है। किन्तु घर पर आकर अगर वह सारे दिन केवल तुसखा पड़ता रहे और दवा का सेवन न करे तो क्या उसका रोग दूर हो सकता है? नहीं, केवल औषधि का नाम जान लेने से वह कभी स्वस्थ नहीं हो सकता।

कहने का अभिप्राय यही है कि ज्ञान के साथ-साथ अगर आचरण उसके अनुसार न किया तो ज्ञान व्यर्थ है। इन दोनों के संयोग से ही मनुष्य संसार-सागर को पार कर सकता है, अन्यथा नहीं। कहा भी है—

**चरणगुणविष्पहीयो, बुद्धइ सुबहुं पि जागंतो ।**

अर्थात्—जो साधक चारित्र के गुण से रहित है, वह अनेक शास्त्र पढ़ लेने पर भी संसार-समुद्र में डूब जाता है।

**अभी पाठ याद नहीं हुआ**

गुरु द्रोणाचार्य कौरवों तथा पांडवों को शस्त्र कला तथा शास्त्र कला, सभी का अध्ययन कराया करते थे। एक बार उन्होंने शिष्यों को पाठ देते समय तीन सूत्र याद करने के लिए दिये। वे थे—“सत्यं वद ।” “क्षमां चर ।” “विनयं आचर ।”

सब शिष्यों ने उन्हें याद कर लिया और अगले दिन गुरुजी को तीनों बातें सुना दीं। केवल युधिष्ठिर चुप रहे और उन्होंने पाठ नहीं सुनाया।

इस पर गुरु ने पूछा—“युधिष्ठिर ! तुम सब छात्रों से बड़े हो और तुम्हीं ने पाठ याद नहीं किया ?”

“नहीं आचार्य, अभी मुझे पाठ याद नहीं हो सका।” युधिष्ठिर ने बड़ी शान्ति और विनयपूर्वक उत्तर दिया। इसके पश्चात् कई दिन व्यतीत हो गये और प्रतिदिन गुरु के द्वारा पूछे जाने पर युधिष्ठिर कहते रहे—“अभी तक मुझे पाठ याद नहीं हो सका।”

एक दिन युधिष्ठिर के इस उत्तर पर द्रोणाचार्य का क्रोध सीमा पार कर चुका और उन्होंने क्रुपित होकर युधिष्ठिर के गाल पर बड़े जोर से चाँटा लगा दिया। युधिष्ठिर ने बड़ी शान्ति से चाँटा खा लिया और अपने स्थान पर जा बैठे।

इसके कुछ दिन पश्चात् एक बार धृतराष्ट्र बच्चों की परीक्षा लेने के लिए पाठशाला में आए। उन्होंने छात्रों से पाठ सुनने चाहे और इस पर सभी ने अपने-

अपने पाठ मली-भाँति सुना दिये । पर युधिष्ठिर चुपचाप अपने स्थान पर बैठे रहे । इस पर धृतराष्ट्र ने पूछा—“तुम सबमें मुझे युधिष्ठिर की आवाज सुनाई नहीं दी, क्या वह यहाँ नहीं है ?”

इस पर युधिष्ठिर तुरन्त धृतराष्ट्र के समीप आये और लज्जित होते हुए बोले—“मुझे तो अभी पहला पाठ ही आधा याद हुआ है ।”

इस पर धृतराष्ट्र बड़ी खिन्नतापूर्वक उपासम्भ देते हुए बोले—“तुम अपने सब भाइयों में बड़े हो पर अभी तक तुमने पहला पाठ भी पूरा याद नहीं किया । बड़े आश्चर्य की बात है । क्या तुम्हें पाठ याद नहीं होता ?”

अब युधिष्ठिर ने कहा—“मुझे जबान से तो पाठ कभी का याद हो गया है किन्तु उसे मैं याद हुआ नहीं मानता क्यों कि मैं उसे आचरण में लाकर पक्का करना चाहता हूँ । कुछ दिन पहले जब गुरुदेव ने पाठ न सुनाने पर मुझे चांटा मारा था तब उसके कारण मुझे तनिक भी रोष नहीं आया और न ही मन खिन्न हुआ । तब मैंने समझा था कि मुझे आधा पाठ तो याद हो गया है । इसी प्रकार जब मैं सत्य को पूर्णतया अपना लूँगा, तब समझूँगा कि मुझे पूरा पाठ याद हुआ है ।”

युधिष्ठिर की बात सुनकर उनके गुरु द्रोणाचार्य तथा धृतराष्ट्र अवाक् रह गये और समझ गये कि वास्तव में ही जबान से याद किया हुआ ज्ञान अधूरा रहता है और वह तभी पूरा माना जा सकता है, जबकि उसे जीवन में भी उतार लिया जाय ।

तो बंधुओं, ज्ञान के साथ ही चारित्र्य का होना आवश्यक है । ध्यान में रखने की बात है कि ज्ञान तो धर्म-ग्रन्थों के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा और गुरुओं के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है । किन्तु उसे आचरण में लाना स्वयं ज्ञानी के प्रयत्न से ही संभव होता है । चारित्र्य या आचरण किसी और से नहीं लिया जा सकता अपितु स्वयं के अभ्यास से बनता है । आलस्य या प्रमाद चारित्र्य के शत्रु हैं और वे मनुष्य को निकम्मा बना देते हैं ।

कहा जाता है कि एक सेठ बड़े सम्पत्तिशाली थे । उनके पूर्वज बड़े प्रयत्न से धन इकट्ठा कर गये थे और बड़ी भारी दुकान उनके लिये छोड़ गये थे । किन्तु सेठजी महान् प्रमादी थे । वे दुकान पर जाना और हिसाब-किताब देखना बड़ा कष्टकर मानते थे अतः मुनीम-गुमास्तों पर ही सारा काम छोड़ बैठे थे । खाना, आराम करना और सोना, इसके अलावा उनसे कुछ भी कार्य नहीं होता था ।

सेठानी बड़ी पतिपरायणा एवं साध्वी स्त्री थी । उसने अनेक बार सेठजी को समझाया कि अगर आप स्वयं अपने व्यवसाय की देख-रेख नहीं करेंगे तो हम कभी



भारी संकट में पड़ जाएँगे। पर सेठजी पत्नी की बात को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते थे। वे इतने प्रमादी हो गए थे कि भोजन करते समय ग्रस भी उनके मुँह में सेठानी ही देती थी।

एक बार सेठानी ने हलुआ बनाया और लाकर सेठजी को खिलाया। पर हलुआ खाते-खाते सेठजी को पसीना हो आया। सेठानी कुछ घबराकर बोली—“आपको तो पसीना-पसीना हो रहा है। कुछ तकलीफ है क्या?”

सेठजी ने उत्तर दिया—“तुमने हलुआ बनाया, परोसकर लाईं और मेरे मुँह में खिलाया। रोज इसी प्रकार भोजन कराती भी हो, किन्तु चबाना तो आखिर मुझे ही पड़ता है न?”

सेठानी बेचारी क्या बोलती? यही कह सकी—“अब इतना तो आपको करना ही पड़ेगा। पर मुझे बहुत दुःख है कि आपसे इतना परिश्रम भी नहीं हो पाता है।”

तो बंधुओ! संत महात्मा भी आपको धर्म का स्वरूप समझा देते हैं तथा धर्म के सार ज्ञान को और ज्ञान के सार चारित्र्य को भी विभिन्न प्रकार से विवेचना करके बता देते हैं। मोक्ष की प्राप्ति में सहायक साधना की विधियाँ और मन को काबू में रखने के उपाय भी आपके सामने रख देते हैं। किन्तु इन सबको जीवन में उतारना तो आपको स्वयं ही पड़ेगा। महापुरुष आपको मार्ग बता सकते हैं किन्तु उठाकर मोक्ष में नहीं बैठा सकते। इसलिये आपको संत-महात्माओं के अथवा गुरुओं के भरोसे पर नहीं रहना चाहिये। आप सोचें कि हमने सामायिक कर ली, और दो घंटे बैठकर महाराज का उपदेश सुन लिया तो अब और कुछ करने को नहीं रहा, यह विचार सर्वथा गलत है। महाराज आपको मार्ग बताते हैं, परंतु चलना तो आपको ही पड़ेगा अन्यथा साधना-मार्ग पर आप एक कदम भी नहीं बढ़ सकेंगे। आप अपनी प्रशंसा करते हुए प्रायः कहते हैं—“महाराज! हमने जीवन में बड़े-बड़े संतों के उपदेश सुने हैं और हमारे गुरु बहुत ही विद्वान एवं चारित्रशील हैं।”

पर मेरे भाइयो! आपके गुरु के विद्वान, चारित्रशील या सच्चे साधक होने से आपको क्या लाभ होगा? उनके गुणों का और उनकी साधना का लाभ तो उन्हें ही मिलेगा। आपको उसमें रत्ती मात्र भी हिस्सा नहीं मिल सकेगा। आपको केवल वही मिलेगा जो आप अपने प्रयत्न से उर्पाजित करेंगे। इसलिये अपने बुजुर्गों की या अपने गुरुओं की प्रशंसा करके अपने को गौरवान्वित करना व्यर्थ है। अगर आपको गौरवशाली बनना है तो आप स्वयं प्रयत्न करो। भले ही आप थोड़ा पढ़ो, थोड़ा सुनो और निरंतर संतों के दर्शन में न पड़ो। किन्तु थोड़ा सुना और पढ़ा हुआ भी जीवन में लाने का प्रयत्न करो। इसके बिना आत्म-कल्याण संभव नहीं है। अनेकों व्यक्ति भगवान से प्रार्थना करते हैं—“हे प्रभो! मुझे इस संसार-सागर से पार उतार दो।”

किन्तु क्या भगवान आपको इस प्रकार पार करेंगे ? नहीं, संसार-सागर को पार करने के लिये तो आपको स्वयं ही हाथ-पैर मारने पड़ेंगे, स्वयं ही पुरुषार्थ करना पड़ेगा। स्वयं तीर्थंकरों को भी संसार के संपूर्ण सुखों को त्याग करके साधना करनी पड़ी थी और वर्षों तक तपस्या में रत रहता पड़ा था। फिर आप और हम तो क्या चीज हैं ? अपने कर्मों को नष्ट करने के लिये जब उन्हें भी घोर प्रयत्न करना पड़ा तो फिर हमारे पूर्वकृत कर्मों को कोई अन्य कैसे काट सकता है। उन्हें तो हमें भोगना ही पड़ेगा।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

सकम्मुणा किञ्चिद् पावकारी—

कडाण कम्माण न मोक्ख अस्सिय।

— पापात्मा अपने ही कर्मों से पीड़ित होता है क्योंकि कृत-कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

तो बंधुओ, जो विचारशील साधक होता है वह अपने ऊपर आए हुए परिषहों को पूर्व कर्मों का परिणाम समझ कर सभता से सहन करता है और संवर के मार्ग पर चलकर नवीन कर्मों से बचता है। ऐसा साधक ज्ञान हासिल करता है और उसे अपने जीवन में भी उतारता है। वह भली-भांति समझ लेता है कि कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये मुझे अपनी आत्मा को ही सशक्त बनाना होगा तथा इसे अपने शुद्ध स्वरूप में लाने के लिये प्रयत्न भी स्वयं ही करना पड़ेगा। वह विचार करता है कि मुक्ति के लिये बाहर के साधनों को उपयोग में लाना या बाहर भटकते फिरना वृथा है। समभाव, शांति, शक्ति एवं सुख का अथाह सागर तो मेरी आत्मा के अंदर ही है।

पूज्यपाद श्री अमीश्रृषि जी म० ने भी मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहा है—

घट ही में तेरे धन भरयो है अखूट नर,  
ताकू नहीं खोजे शठ बाहिर फिरत है।  
दही दूर तजी भरी पानी को मथाए अति,  
होवे देह बुख पण काज न सरत है ॥  
भोजन को थाल छोड़, मांगे भीख घर-घर,  
ऐसो भूढ़ भूल भ्रम मन में धरत है।  
अमीरिख कहे मृग नाभि में सुवास होय,  
ताही न लखत वन दौड़ के मरत है ॥

कवि का कथन है—अरे मूर्ख व्यक्ति ! तू धन के लिये बाहर दौड़ता फिरता है, यह नहीं जानता कि अक्षय धन का कोश तो तेरे अन्तर में ही भरा हुआ है।

वस्तुतः बाहर का धन क्षणमंगुर है तथा किसी भी समय छूटने वाला है। आज हम देखते हैं कि संसार के अधिकांश व्यक्ति आत्मा के संतोष, शांति एवं शक्ति रूपी धन की उपेक्षा करते हुए बाह्य धन जो जड़ द्रव्य है, उसके संग्रह में बावले बने रहते हैं। वे धन के लिये बेईमानी करते हैं, अनीति पर उतर आते हैं और सगे पिता, माई या अन्य किसी को भी धोखा देने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। उनका सारा पुरुषार्थ ही धन-संचय में लग जाता है। पर वह धन आखिर उनके क्या काम आता है? केवल पेट भरने और लज्जा ढकने के लिये वस्त्र पहनने में खर्च होने वाला ही तो उनके उपयोग में आता है। उससे अधिक अगर होता है तो वह या तो किसी के द्वारा छीन लिया जाता है और नहीं तो भरने पर स्वयं ही यहीं छूट जाता है। धन जाने के इस संसार में अनेक बहाने होते हैं और किसी भी बहाने को लेकर वह व्यक्ति से पृथक् हो सकता है।

इसीलिए संत-पुरुष धन की निन्दा करते हुए कहते हैं—

दायादाः स्पृहयन्ति तस्करगणा मृष्णन्ति भूमिभुजो,  
गृह्णन्तिच्छलमाकलय्य हुतभृग् भस्मीकरोति अणात् ।  
अम्भः प्लावयति क्षितौ विनिहतं यथा हरन्ते हठाद्,  
दुर्बत्तास्तनया नयन्ति निधनं धिग् बहुधीनं धनम् ॥

— सिन्दूर प्रकरण ७४

कहा गया है कि—इस धन की जाति वाले स्पृहा करते हैं, चोर चुरा लेते हैं, छल के द्वारा राज छीन लेते हैं, अग्नि भस्म कर देती है, पानी बहा देता है, जमीन में गाड़कर रखने से यक्ष हर लेते हैं तथा इन सबसे बचा तो दुराचारी पुत्र इसे उड़ा देते हैं। अतः बहुती के अधीन रहने वाले इस धन को धिक्कार है।

वस्तुतः इस जड़ द्रव्य से मानव को कोई लाभ नहीं हो पाता। इसके द्वारा भौतिक सुख प्राप्त किया जा सकता है पर आत्मिक सुख हासिल नहीं होता। धन से से मनुष्य मन्दिर, मसजिद एवं गिरजाघर बनवा सकता है, पर भगवान को नहीं पा सकता, सुन्दर नर्म शैल्या का निर्माण करा सकता है किन्तु सुख-निद्रा नहीं खरीद सकता, खुशामदी एवं चापलूस व्यक्तियों की मण्डली जुटा सकता है पर हितैषी नहीं खोज सकता, मान प्राप्त कर सकता है पर आदर और श्रद्धा का अनुभव नहीं कर सकता। अनेक शास्त्र मंडार एवं पुस्तकालय भर सकता है किन्तु ज्ञान का अर्जन नहीं कर सकता। इस धन के कारण केवल लड़ाई-झगड़ा और वैमनस्य ही होता है संतोष-लाभ नहीं।

इसीलिए कविश्री ने अपने पद्य में कहा है कि मानव मूर्ख के समान बाह्य-धन की प्राप्ति और उसके संग्रह में जुटा रहता है, पर अपनी आत्मा में रहे हुए ज्ञान,

दर्शन, चारित्र्य, शांति, संतोष एवं शक्ति रूपी अक्षय धन में मंडार की खोज नहीं करता और उसको उपयोग में नहीं लाता। परिणाम यह होता है कि वह दही का त्याग कर पानी को मथने वाले के समान, आँखों के समक्ष सुस्वादु व्यंजनों से भरे हुए थाल को छोड़कर भीख माँगने वाले के समान और नाभि में कस्तूरी रहने पर भी वन में चारों ओर उसकी सुगंध को प्राप्त करने के लिए दौड़ते रहने वाले हिरण के समान सदा निरर्थक प्रयत्न करता रहता है और अन्त में घोर पश्चात्ताप करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है।

तो बंधुओ, अगर हमें संसार से मुक्त होना है तो धर्म के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूपी तीनों प्रकारों को अपनाना होगा। ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में हमारी क्रियाएँ निरर्थक हो जाएँगी और ज्ञान प्राप्त करने पर उसे जीवन में भी उतरना होगा, अन्यथा ज्ञान व्यर्थ चला जाएगा। कहा भी जाता है—“ज्ञानं मारः क्रियां बिना।”

जीव की मुक्ति तभी हो सकती है जबकि ज्ञान और क्रिया का वह अपने जीवन में समन्वय करेगा। केवल ज्ञान ही आत्मा को मोक्ष में पहुँचा दे यह कभी सम्भव नहीं है। मनुष्य की कथनी और करनी एक होनी चाहिए। इनका सुमेल ही आत्मा को भव-बन्धनों से छुटकारा दिला सकता है। चारित्र्य का महत्व बताते हुए कहते हैं—“हृद्यं णाणं क्रिया हीणं।”

क्रियाहीन व्यक्ति का ज्ञान नष्ट हुआ ही समझना चाहिए। वस्तुतः ज्ञान के द्वारा संसार-सागर को पार करने के उपाय तो जाने जा सकते हैं किन्तु उससे पार होना चारित्र्य के द्वारा ही सम्भव है। यह दृढ़ सत्य है कि चारित्र्य के बिना आज तक न कोई जीव मोक्ष में गया है और न ही कभी जाएगा।

हमारा जैनदर्शन रूप, रंग, जाति, कुल, धन, बल आदि किसी भी चीज को महत्व नहीं देता : वह केवल चारित्र्य की महानता स्वीकार करता है। उदाहरण स्वरूप—हरिकेशी मुनि का जन्म निम्न कुल में हुआ था। न उनके पास शारीरिक सौन्दर्य था और न ही धन, मकान या किसी प्रकार का आदर-सम्मान। वे अपने जीवन में सदा लोगों से तिरस्कार ही पाते रहे और तंग आकर आत्महत्या करने पर उतारू हो गए।

किन्तु उस विकट समय में उन्हें पंच महाव्रतधारी संत का सुयोग प्राप्त हुआ और उनकी वाणी के प्रभाव से मरने का विचार छोड़कर वे संयमी बन गये। उनका शुद्ध चारित्र्य एवं घोर साधना उनके लिए नाना लब्धियाँ प्राप्त करने में सहायक बने। देवता भी जिनके अधीन हो गया ऐसे चारित्र्यचूड़ामणि हरिकेशी मुनि के विषय में ‘श्री उत्तराध्ययन सूत्र’ के बारहवें अध्याय में विस्तृत वर्णन किया गया है।

बंधुओ, हमारा मूल विषय संवर को लेकर चल रहा है। संवर क्या है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद एवं कषायादि के निमित्त से आत्मा पर आगत नवीन कर्मों को रोकने वाला संवर चारित्र धर्म है। इसके सत्तावन प्रकार हैं और वे इस प्रकार हैं—पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस यति-धर्म, बाईस परिषह, बारह भावनाएँ एवं पाँच चारित्र।

जो साधक इनका भली-भाँति ध्यान रखता है वही संवर के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढ़ता है। जब तक नवीन कर्मों का आगमन अवरुद्ध नहीं होता तब तक मुक्ति प्राप्ति की अभिलाषा भी पूर्ण नहीं होती। सच्चा भुभुक्षु एक तरफ तो नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है और दूसरी तरफ आत्मा से आवद्ध पूर्व कर्मों की भी बारह प्रकार के तपाराधन द्वारा निर्जरा करता है; इसीलिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग माना गया है।

इस मार्ग पर जो साधक दृढ़ कदमों से चल पड़ता है वही अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत्य से सत्य की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर बढ़ता है। ऐसा साधक ही अपनी आत्मा में झाँकता है तथा उसे आत्मा से परमात्मा बनाने के प्रयत्न में रहता है।

उर्दू भाषा के शायर जोक ने कहा है—

देख, गर देखना है 'जोक' कि वह परदानशी ।  
दीक्षये रौशने-दिल से है दिखाई देता ॥

अगर तू उस पर्दानशीन ईश्वर को देखना चाहता है तो उसे मानस-चक्षुओं से देखने की कोशिश कर, क्योंकि चर्म-चक्षुओं से वह दिखाई नहीं दे सकता।

कहने का अभिप्राय यही है कि साधक को बाह्य संसार की उपेक्षा करके अपनी आत्मा के सद्गुणों को विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा उसमें रहे हुए समस्त दोषों को कचरा मानकर अविलम्ब बाहर फेंक देना चाहिए। ऐसा करने पर ही आत्मा अपने शुद्ध एवं परम ज्योतिर्मानि स्वरूप को प्राप्त कर सकती है तथा परमात्म पद पर आसीन हो सकती है। पर यह हो तभी सकता है जबकि आत्मिक दोषों को साधक विष समझकर उनका त्याग कर दे।

आप अपने घर में अगर साँप-बिच्छू को आया हुआ देखते हैं तो अविलम्ब उसे पकड़कर बाहर छोड़ आते हैं। ऐसा क्यों ? इसलिए कि उनके कारण आपको अपने शरीर-नाश का भय मालूम देता है। किन्तु क्रोध, मान, माया एवं लोभादि कषाय क्या एक जन्म के शरीर को नष्ट करने वाले जहरीले जन्तुओं से कम हैं ? नहीं, कषाय-रूप विषधर तो आपके अनेक जन्म-मरण के कारण बनते हैं। उनके

कारण एक बार नहीं अपितु जीव को अनेक बार नाना प्रकार की देह धारण करनी पड़ती हैं और उन्हें छोड़ना पड़ता है ।

इसलिये भगवान महावीर साधक को आदेश देते हैं कि वह संवर के मार्ग पर चले तथा उसमें आने वाले समस्त परिस्थितियों को समभाव पूर्वक सहन करते हुए कर्मों की निर्जरा करे । ऐसा करने पर ही मानव-जन्म सार्थक हो सकता है । अन्यथा तो यह दुर्लभ जीवन मिला न मिला समान हो जाता है । अगर साधक इस जीवन में अपने लक्ष्य से चूक जाता है तो फिर न जाने कितने समय तक और चौरासी लाख योनियों में से कितनी योनियों में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता हुआ असह्य यातनाएँ भोगता रहता है । मनुष्य जन्म ही वह द्वार है जिसमें प्रवेश करके आत्मा शिवपुर पहुँच सकती है पर यह द्वार अगर हमने अपने विवेक के नेत्रों को बन्द करके छोड़ दिया तथा आगे बढ़ गये तो पुनः इसका मिलना कठिन हो जाता है । भले ही जीव यहाँ से स्वर्ग में क्यों न पहुँच जाय और वहाँ इन्द्रपद को भी क्यों न प्राप्त कर ले पर वह आत्मिक सुख को प्राप्त नहीं कर सकता तथा आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं ला सकता । क्योंकि वहाँ पर केवल पूर्व-पुण्यों के फलस्वरूप वह इन्द्रियों के सुखों को प्राप्त करता है तथा अपार वैभव के बीच में रहकर अपने दिन व्यतीत करता है । पर स्वर्ग में वह आत्मा के लिए कुछ भी नहीं कर सकता । न वह वहाँ पर त्याग को अपना सकता है और न तप या साधना के द्वारा कर्मों को भण्ट ही कर पाता है । वहाँ का आयुष्य पूरा होते ही उसे पुनः चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ता है । इसलिए स्वर्ग की अपेक्षा मानव-जीवन अधिक लाभकारी है और देवताओं की अपेक्षा साधना के मार्ग पर चलने वाला साधक अधिक सुखी है ।

श्री शुकदेव जी ने तो यहाँ तक कहा है—

इन्द्रोपि न सुखी तादृग्यादृग्भिक्षुस्तु निःस्पृहः ।

कोज्यः स्याद्विह संसारे त्रिलोकी विभवे सति ॥

आशय यह है कि इस पृथ्वी पर निस्पृह एवं इच्छारहित भिक्षु जितना सुखी है, उतना इन्द्र भी सुखी नहीं है । प्रश्न होता है कि जब त्रिलोकी वैभव होने पर भी इन्द्र सुखी नहीं है तब और कौन हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं—कामना और वासनारहित भिक्षु देवराज इन्द्र से भी बड़ा है क्योंकि वह सन्तुष्ट और सुखी है ।

आशा है आप समझ गये होंगे कि मानव-जीवन कितना अमूल्य है और अगर व्यक्ति चाहे तो इससे कितना लाभ उठा सकता है । जिस मोक्ष को स्वर्ग के देवता या इन्द्र भी प्राप्त नहीं कर पाते, उसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है बशर्ते कि वह ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य-रूप धर्म की सम्यक् आराधना करे, संवर मार्ग पर चले तथा कर्मों की निर्जरा के प्रयत्न में लगा रहे । जो भव्य प्राणी ऐसा करेगा उसे अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य होगी ।



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने जिससे बढ़कर और कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है ऐसे आर्य धर्म के विषय में विचार किया था। प्रत्येक मुमुक्षु को अपने शरीर के रहते समय मात्र का भी प्रमाद किये बिना धर्म-साधन कर लेना चाहिए। यह शरीर मोक्ष-प्राप्ति की साधना में माध्यम है। इसके अभाव में जप, तप, ध्यान, साधना आदि कुछ भी नहीं हो सकता। संस्कृत में कहा भी है—

“शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।”

धर्म साधना के लिए शरीर ही पहला कारण है।

अतएव जब तक शरीर में शक्ति है तथा इन्द्रियाँ सजग हैं तब तक मनुष्य को इसका धर्म-साधन के रूप में पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। क्योंकि कोई यह नहीं जान सकता कि यह शरीर कब नष्ट हो जाएगा, यानी मृत्यु किस समय आक्रमण कर बैठेगी।

भगवान महावीर ने इसीलिए गौतमस्वामी को चेतावनी दी थी—

कुसगो जह ओसर्बिदुए,  
थोवं चिदुठइ लंबमाणए।  
एवं मणुघाण जीविअं,  
समयं गोयम ! पा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, १०-२

अर्थात्—हे गौतम ! जिस प्रकार कुश के अग्र भाग पर पड़ा हुआ ओस का बिन्दु अत्यल्प समय तक ठहरता है, किसी भी समय उसका पतन हो सकता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है, अतः क्षण भर भी प्रमाद न करो।

बन्धुओ, भगवान की यह चेतावनी केवल गौतम स्वामी के लिए ही नहीं थी, अपितु प्रत्येक मानव के लिए है। हमारा जीवन भी क्षण-भंगुर है और कोई यह नहीं कह सकता कि मुझे इतने काल तक जीवित रहना ही है। हमारे देखते-देखते बाल, युवा या वृद्ध कोई भी और कभी भी काल का ग्रास बन जाता है।

इसीलिए ज्ञानी पुरुष अज्ञानी प्राणियों की मोहनिद्रा भंग करने के लिए बार-बार प्रयास करते हुए कहते हैं कि आत्म-साधना के लिए कल और परसों मत करो। अनेक व्यक्ति तो धर्म-कार्य वृद्धावस्था के लिए भी रख छोड़ते हैं। वे कहते हैं अभी तो हमारे खाने-पहनने और जीवन का आनन्द उठाने के दिन हैं। जब बुढ़ापा आ जाएगा तब धर्म-ध्यान कर लेंगे। पर क्या व्यक्ति इस बात की गारन्टी ले सकता है कि वृद्धावस्था आएगी ही? और मग्न लो तब तक जीवित रह भी गये तो क्या शरीर और इन्द्रियाँ धर्म-साधना कर सकेंगी? कभी नहीं, वृद्धावस्था के आ जाने पर धर्मासाधन करने की कल्पना करना ही महामूर्खता है।

### शुभस्य शीघ्रम्

किसी कवि ने तो स्पष्ट कहा है—  
 जो लौं बेह तेरी काहू रोग सों न घेरी,  
 जो लौं जरा नाहिं नेरी जासों पराधीन परिहै ।  
 जो लौं जम नामा बंरी देथ न दमाना—  
 जो लौं मानै कान रामा बुद्धि जाइ न बिगारी है ।  
 तो लौं मित्र मेरे ! निज कारज संवारि लं रे ।  
 पौरुष थकेंगे फेरि पीछे कहा करि है ?  
 कहो आग आए जब झोंपरी जरनि लागी  
 कुआ के खुदाए तब कौन काम सरि है ?

कवि का कहना है—अरे मित्र ! जब तक इस शरीर को व्याधि ने नहीं घेरा है, जब तक वृद्धावस्था निकट नहीं आई है तथा यम नामक घोर दुश्मन ने अपना कूच का नगाड़ा नहीं बजाया है और जब तक बुद्धि सठिया नहीं गई है, तब तक अपनी आत्मा का हित करने वाले कार्यों को सम्पन्न कर लो, यानी जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य जो कि आत्म-कल्याण है, उसे पूरा करने का प्रयत्न कर लो। अन्यथा जब बुढ़ापा आ जाएगा तब पुरुषार्थ थक जाएगा और उस स्थिति में फिर तुम क्या कर सकोगे ?

दोस्त ! तुम जानते ही हो कि झोंपड़ी में आग लग जाने पर अगर कोई कुआ खुदवाना प्रारम्भ करे तो उससे बढ़कर मूर्खता और क्या होगी ? क्या कुए को खुदने तक झोंपड़ी जल से बची होगी ? नहीं ! इसी प्रकार जब वृद्धावस्था



आ जाएगी और मस्तक पर काल मँडराने लगेगा, तब फिर तुम धर्म-साधना जैसा महान कार्य किस प्रकार कर सकोगे। यानी नहीं कर सकोगे। केवल पश्चात्ताप ही उस समय तुम्हारे हाथ आएगा।

तात्पर्य यही है कि अज्ञानी पुरुष तो यह विचार करते हैं कि जब वृद्धावस्था आएगी तब धर्माचरण कर लेंगे; किन्तु ज्ञानी पुरुष एवं संत-महात्मा इसके विपरीत यह चेतावनी देते हैं कि जब तक शरीर में शक्ति है तथा इन्द्रियाँ अपना कार्य बराबर कर रही हैं, तब तक धर्म की साधना कर लो। कौन जाने वृद्धावस्था आएगी भी या नहीं? क्योंकि बाल्यावस्था और युवावस्था में भी अनेकों व्यक्ति काल-कवलित हो जाते हैं और कदाचित् वृद्धावस्था आ भी गई तो वह मनुष्य को अर्ध-मृतक के समान बना देती है। विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ और नाना प्रकार की पीड़ाएँ बुद्धापे में व्यक्ति को अशांत एवं अशक्त बनाती हैं तथा उसके चित्त की समाधि को सर्वथा नष्ट कर देती हैं। उस अवस्था में भला फिर धर्मारोधन किस प्रकार संभव हो सकता है? अतएव शरीर के स्वस्थ एवं सशक्त रहते ही व्यक्ति को धर्म की विशिष्ट प्रतिपालना करनी चाहिये।

एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि मान लो व्यक्ति बाल्यावस्था या वृद्धावस्था में मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ और उसने पूर्ण आयु प्राप्त कर ली, तो भी उसे कितना कम समय धर्मारोधन के लिए मिलता है। इस वर्तमान समय में अधिक से अधिक सौ वर्ष की उम्र मानी जा सकती है पर उसका हिसाब लगाते हुए भर्तृहरि ने कहा है—

आयुर्बर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदद्भ गतं;  
तस्यार्धस्य परस्य चद्धमंपरं बालत्व वृद्धत्वयोः।  
शेषं व्याधि-वियोग दुःख सहितं सेवादिभिर्नोयते;  
जीवे वारितरंगचंचलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ?

अर्थात्—मनुष्य की उम्र औसत सौ की मानी गई है। उसमें आधी रात तो सोने में गुजर जाती है। बाकी में से एक भाग बचपन में और एक भाग बुद्धापे में व्यतीत होता है। शेष में से जो एक भाग बचता है वह रोग, वियोग, शोक, चाकरी एवं नाना प्रकार के क्लेशों में बीत जाता है। अतः जल की तरंग के समान इस चंचल जीवन में प्राणियों को सुख कहाँ है ?

भर्तृहरि की बात को और भी स्पष्ट इस प्रकार समझा जा सकता है कि सौ वर्ष की आयु में से मनुष्य के पचास वर्ष तो रात्रि के समय सोने में व्यतीत हो जाते हैं। बाकी पचास के तीन भाग करने पर सत्रह वर्ष उसकी बाल्यावस्था में जाते हैं। शैशवावस्था में तो वह पूर्णतया पराधीन रहता है, जन्म से लेकर चार छः साल

तक तो माता के खिलाने पर खा पाता है, उसी के नहलाने-धुलाने पर शरीर की श्रद्धि रहती है। तत्पश्चात् वह स्कूल में भेजा जाता है और उस समय पढ़ने-लिखने में तथा खेल-कूद में अपना समय व्यतीत करता है।

इसके पश्चात् सत्रह वर्ष युवावस्था में वह संसार के सुखों का उपयोग करना चाहता है। विवाह होता है और पत्नी के घर में आने पर संतान का जन्म होता है। उस स्थिति में अगर वह कुछ कमाये नहीं तो माता-पिता कह देते हैं—“हमने तुम्हें पाल-पोसकर बड़ा किया और विवाह कर दिया, अब अपने पत्नी और बच्चों का भरण-पोषण स्वयं करो।” अब उस स्थिति में मनुष्य कोलू के बैल की तरह खाने-कमाने में लगा रहता है और युवावस्था भी आकर चली जाती है। फिर आती है वृद्धावस्था। वृद्धावस्था के सोलह वर्ष मनुष्य के किस तरह व्यतीत होते हैं यह आँखों से देखते हैं। उस अवस्था में अनेक रोग शरीर में घर कर जाते हैं, शरीर में शक्ति नहीं रहती और ऊपर से घर के व्यक्ति अपमान तथा अनादर करते हैं। तो बुढ़ापे में जबकि शरीर ही नहीं संभलता, तो क्या धर्म-साधना हो सकती है? नहीं, उस समय तो धर्मारोधन के स्थान पर पश्चात्ताप ही हाथ आता है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि लोग वृद्धावस्था के दुखों को अपनी आँखों से देखते हैं और मलीभाँति जानते हैं कि एक दिन हमें भी इसका शिकार होना पड़ेगा, फिर भी वे जो कुछ करना है, अपने शरीर के स्वस्थ रहते नहीं करते। उन्हें धर्म-साधना की फिक्र नहीं होती। फिक्र अगर होती है तो अधिक से अधिक जीने की।

एक उर्दू के शायर ने कहा भी है—

हो उम्र खिन्न भी तो कहेंगे बवर्त मर्ग,  
क्या हम रहे यहाँ अभी आये अभी चले ॥

यानी मानव हजारों वर्ष की उम्र प्राप्त कर ले, पर मरते समय यही कहेगा कि इस संसार में हम कुछ भी नहीं कर सके। वह जीने की अभिलाषा रखेगा और संसार के सुखों की हविस लिए रहेगा, किन्तु जीवन में धर्म-साधना कितनी की, इसकी चिन्ता नहीं करेगा।

पर ऐसे विचार रखना और सांसारिक सुखोपभोगों में ही जीवन व्यतीत कर देना आत्मा को धोखा देना और उसके साथ महान् अन्याय करना है। मानव-जन्म मनुष्य को इसीलिए मिला है कि इस जीवन के द्वारा वह अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करे। चौरासी लाख योनियों में से मनुष्य योनि के अलावा और कोई भी योनि ऐसी नहीं है, जिसमें जीव को विशिष्ट विवेक और बुद्धि हासिल होती हो। ऐसी स्थिति में यदि मानव-योनि में आत्मा को जन्म-मरण के कष्टों से छड़ाने का प्रयत्न

न किया जाय तो फिर किस जन्म में और किस योनि में उसके उद्धार का उपाय किया जा सकेगा ? किसी में भी नहीं, इसलिए जो मनुष्य अपने इस जीवन में आत्मा का हित नहीं करता यानि उसे संसार से मुक्त करने का प्रयत्न नहीं करता वह सचमुच ही अपनी आत्मा के साथ गद्दारी करता है । किन्तु परिणाम यह होता है कि महान पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ यह दुर्लभ जीवन समाप्त हो जाता है और फिर पुनः मिलना कठिन हो जाता है ।

इसीलिए भगवान महावीर ने फरमाया है—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे,  
चिरकालेण कि सच्चपाणिणं ।  
गाढा य विवाग कम्मणो,  
समयं गोयम ! मा पभायए ॥

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—हे गौतम ! सब प्राणियों के लिए मनुष्य भव चिरकाल तक दुर्लभ है । दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसकी प्राप्ति होना कठिन है; क्योंकि कर्मों के फल बहुत गाढ़े होते हैं । अतः समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

वस्तुतः यह कौन जानता है कि जीव को अगला भव मनुष्य का ही मिलेगा ? विशेषकर उन व्यक्तियों को, जो कि अपना सम्पूर्ण जीवन विषय-वासनाओं के सेवन में और धन-संचय के लिये हाय-हाय करने में ही व्यतीत कर देते हैं । ऐसे व्यक्ति कभी पुनः मानव-जीवन नहीं पा सकते और किसी न किसी हीन योनि में जा पहुँचते हैं । मराठी भाषा में एक स्थान पर कहा गया है ।

“मनारे कांही करी सुविचार, काया माया व्यर्थ चियामधे ।”

हे मन ! कुछ तो विचार कर । अगर मोहमाया में और दुनियादारी में पड़ा रहकर तू व्यर्थ ही जन्म गँवा देगा तो भविष्य में निश्चय ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा । यह काया और माया अर्थात् शरीर और धन दोनों ही क्षणभंगुर हैं । अतः तू इन दोनों की प्राप्ति को बड़ा सुन्दर सुयोग मानकर धन से दान-पुण्य कर और शरीर से जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन आदि शुभ क्रियाएँ करके इनका लाभ उठा ले । अन्यथा ये दोनों ही नष्ट हो जाएँगे और सर्प की तरह रक्षा करते हुए भी एक दिन तुझे इन्हें छोड़ना पड़ेगा । उस समय न यह शरीर तेरे पास रह सकेगा और न धन ही किसी काम आएगा । उलटे जीवन भर धन के लिए अनैति, धोखेबाजी एवं झूठ-कपट करते रहने के कारण मरने के पश्चात् भी तुझे सुख हासिल नहीं हो सकता । किसी ने सत्य ही कहा है—

“सूई के छेद में से ऊँट निकल सकता है, किन्तु धनिकों को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती।” इस विषय में एक बड़ी सुन्दर एवं व्यंग्यात्मक लघु कथा कही जाती है।

**स्वर्ग में भी पक्षपात होता है क्या ?**

एक किसान था। वह बड़ा भोला-भाला एवं गरीब था। अपनी थोड़ी-सी जमीन में वह खेती करता और उसके द्वारा जो उपज होती थी, उससे अपनी तथा अपने परिवार की उदर-पूर्ति करता था। जीवन में वह कभी झूठ नहीं बोला, किसी का दिल नहीं दुखाया।

इसके परिणामस्वरूप मरने के पश्चात् वह स्वर्ग में जा पहुँचा। जब वह स्वर्ग के दरवाजे के समीप पहुँचा तो उसने देखा कि एक धनी व्यक्ति भी वहाँ उससे पहले पहुँच चुका है और उसका वहाँ बड़े बाजे-गाजे से स्वागत किया जा रहा है। धनिक व्यक्ति जब अन्दर चला गया तो कुछ समय के लिए स्वर्ग का दरवाजा बन्द हो गया। पर कुछ ही देर बाद दरवाजा पुनः खुला और उस किसान को अन्दर बुलाया गया।

किसान सोच रहा था कि स्वर्ग में आने वाले वाले प्रत्येक व्यक्ति का उस धनिक के समान ही स्वागत होता है तथा बाजे बजते हैं। किन्तु जब उसे अन्दर बुलाया गया तो वह बड़े आश्चर्य में पड़ गया कि वहाँ चारों ओर पूर्ण रूप से सन्नाटा छाया हुआ था।

यह देखकर उस भोले किसान ने स्वर्ग के द्वारपाल से डरते हुए पूछा—  
“माई ! यह क्या बात है ? इस स्वर्ग में वह धनी व्यक्ति आया था तो बाजों-गाजों से अन्दर ले जाया गया और मैं भी जबकि इसी स्वर्ग में आया हूँ तो मेरा किसी ने स्वागत नहीं किया। क्या मेरा आना यहाँ किसी को अच्छा नहीं लगा ?”

द्वारपाल किसान की बात सुनकर बड़े स्नेह से बोला—“नहीं माई ! यहाँ स्वर्ग में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होता। यहाँ पर तुम भी अपार सुख प्राप्त करोगे जैसा कि वह धनिक व्यक्ति पाएगा। पर स्वागत के विषय में बात यह है कि तुम्हारे जैसे निष्कपट, ईमानदार और सरल व्यक्ति तो यहाँ सहज ही आ सकते हैं। अतः प्रतिदिम अनेक आते हैं। किन्तु उस धनवान जैसे व्यक्ति तो अनेक वर्षों बाद ही कभी दिखाई पड़ते हैं। अतः स्वर्ग के प्राणियों को खुशी होती है कि वर्षों बाद ही सही पर एक धनी व्यक्ति तो कुछ शुभ कर्म करके यहाँ आया। इसलिए उसके स्वागत में बाजे बजते हैं।”

किसान द्वारपाल की यह बात सुनकर बड़ा चकित हुआ पर उसे सब बात समझ आ जाने से बड़ा संतोष भी हुआ।

बंधुओ, यह एक रूपक है पर यथार्थ को प्रकट करता है । हम देखते हैं कि संसार में अधिक पाप धन के लिए किये जाते हैं और धन प्राप्त होने के पश्चात् उससे भी ज्यादा पाप व्यक्ति करता है । इसलिए ऐसे धनवानों का स्वर्ग या मोक्ष में पहुँचना बड़ी कठिन बात होती है ।

इसीलिए भगवान से पुनः-पुनः कहा है और आज संत-महापुरुष भी उनके वचनानुसार व्यक्तियों को यही उपदेश देते हैं कि उस दुर्लभ मानव-जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो । जो विवेकी एवं बुद्धिमान व्यक्ति होते हैं वे अपने जीवन को अंधाधुंध व्यतीत नहीं करते, अपितु बड़ी सावधानी और समझदारी से जीव एवं जगत के रहस्य को समझकर अपना वास्तविक उद्देश्य निश्चित करते हैं । मनुष्य-मात्र का कर्तव्य भी यही है कि वह ज्ञानीजनों की वाणी के प्रकाश में जीवन की सफलता किसमें है, यह समझें और उसके अनुसार अपने जीवन को शुद्ध, निष्कलंक एवं साधनामय बनाएँ ।

एक कवि ने बड़ा मार्मिक शेर कहा है—

जिदगी एक तीर है, जाने न पाए रायगां ।

बेलखो पहले निशाना, बाव में खींचो कमां ॥

कवि का कथन है कि—“यह जीवन एक तीर के समान है । अतः खूब सोच-विचार कर पहले अपना लक्ष्य निर्धारित करो और तब इसे छोड़ो ताकि यह निष्फल न जाने पाये ।” अगर व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा तो जिस प्रकार लक्ष्य स्थिर किया बिना छोड़ा हुआ तीर निरर्थक जाता है, उसी प्रकार जीवन के लक्ष्य को जाने बिना ही जीवन व्यतीत करने से वह व्यर्थ हो जाता है । मानव की छोटी सी असावधानी भी कभी-कभी दुर्गति का कारण बन जाती है । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार डॉक्टर की जरा सी भूल रोगी की मृत्यु का कारण बनती है । एक उदाहरण है—

**तनिक-सी भूल का दुष्परिणाम**

एक बार एक वैद्यराज अपने छात्रों की परीक्षा ले रहे थे, प्रश्न बड़े कठिन थे और होने भी चाहिए थे, क्योंकि डॉक्टर या वैद्य के ऊपर मरीजों के प्राणों की जिम्मेदारी होती है । तनिक भी कहीं गड़बड़ी हो जाय तो बेचारा रोगी मारी कठिनाई में और कष्ट में पड़ सकता है ।

तो परीक्षा के समय वैद्यजी के सभी छात्र बड़े चिंतित और मयमीत थे पर एक शिष्य उनके सभी प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त संतोषजनक दे रहा था । अन्त में वैद्यजी ने उससे एक प्रश्न और पूछा—“बताओ अमुक प्रकार के रोगी को तुम अमुक औषधि कितनी मात्रा में दोगे ?”

छात्र ने उत्तर दिया—“एक चम्मच ।”

इस पर वैद्यजी ने कहा—“अब तुम जा सकते हो ।”

शिष्य गुरु के आदेशानुसार वहाँ से चल दिया, किन्तु उसके हृदय में अपने अन्तिम उत्तर के विषय में सन्देह बना रहा । वह विचार करने लगा कि ‘एक चम्मच औषधि तो बहुत अधिक होती है और अमुक रोगी उसे सह नहीं सकता ।’ यह आते ही वह पुनः लौटकर परीक्षा भवन में आया और बोला—

“गुरुजी ! मुझसे बड़ी भूल हो गई है । आपने जैसे रोगी के लिये पूछा था, वैसे रोगी को वह औषधि एक चम्मच नहीं वरन् केवल दो रत्ती देनी चाहिए ।”

वैद्यजी छात्र की बात सुनकर बोले—“अब तुम्हारे मूल सुधारने से क्या होता है ? वह रोगी एक चम्मच औषधि खाकर अब तो मर चुका है ।”

वैद्यजी के कहने का अभिप्राय यही था कि वैद्य को औषधि देने से पहले खूब सोच-विचारकर ही मरीज को दवा देनी चाहिए । अन्यथा थोड़ी सी भूल या असावधानी रोगी का प्राण ले सकती है ।

ठीक यही हाल हमारे जीवन का भी है । अगर हमें अपने जीवन को सार्थक बनाना है और अपनी आत्मा को इसके शुद्ध स्वरूप में लाना है तो बड़ी सतर्कता और सावधानी से अपने लक्ष्य को बनाकर उसके अनुसार करना है । अगर इसमें कहीं भूल हो गई यानि कोई दुर्गुण हृदय में घर कर गया या साधना-पथ पर चलती हुई आत्मा चूक गई तो फिर क्षण भर में ही सारे किये-कराये पर पानी फिर जाएगा ।

कहा भी है—

**मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते ।**

**यः सप्तर्षी क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ॥**

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मत में मनोयोग को इतना बलवान बताया गया है कि वह आधे क्षण में सातवें नरक में और आधे ही क्षण में मोक्ष में पहुँचा देता है ।

यह गाथा भी यही बताती है कि अगर मन के भाव उत्कृष्ट हो जाते हैं तो वह आधे क्षण में ही समस्त गुणस्थानों को पार करता हुआ आत्मा को मोक्ष में पहुँचा देता है और कहीं वह पतित हो जाता है तो चाहे व्यक्ति श्रावक हो या साधु, आधे क्षण में सातवें नरक का बंध भी कर लेता है ।

साधारणतया सबकी यह धारणा होती है कि जिस व्यक्ति ने संयम ग्रहण कर लिया या साधु का बाना पहन लिया, वह स्वर्ग ही जाता है, उसकी आत्मा किसी

हीन गति में नहीं जा सकती । पर यह धारणा सही नहीं है । भले ही व्यक्ति साधु का बाना पहन ले और सबकी नजरों में पूजनीय बन जाय, किन्तु अगर वह भगवान के आदेशानुसार संयम का पालन नहीं करता है तो ऐसे विराधक साधु के लिए किसी भी गति में रोक नहीं है । अर्थात् साधु के लिए चारों गतियाँ खुली रहती हैं । यह उसकी उत्कृष्ट या निकृष्ट करनी पर निर्भर रहता है कि वह मोक्ष में जाता है या तरक में ।

भगवान ने फरमाया भी है—

एयारिसे पंचकुसलीसंबु डे, रूबंधरे मुनिपवराण हेटिठमे ।

अयंसि लोए विसमेव गरहिये, न से इहं नेत्र परस्थ लोए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १७-२०

अर्थात्—जो श्रमण पाँच प्रकार के कुशीलों से युक्त एवं संवर से रहित केवल वेशधारी साधु होता है वह महान् और श्रेष्ठ श्रमणों से नीच मुनि कहलाता है तथा ऐसा मुनि इस लोक में विष के समान निन्दनीय तथा त्याज्य होता है । उसका न तो यह लोक सुधरता है और न परलोक ही सुधर पाता है ।

तो भले ही कोई व्यक्ति संयम ग्रहण करके साधु बन जाय और पाँच महाव्रत अंगीकार करके साधु के बाने में रहे, किन्तु इन पाँच महाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन न करने के कारण और साधु की मर्यादा तथा आचार-विचार में स्थिर न रहने के कारण वह पापी श्रमण कहलाता है और इस लोक में निन्दनीय बनता हुआ अपना परलोक भी बिगाड़ कर निम्न गतियों में जाता है । दुर्वासा ऋषि धीर तपस्वी थे किन्तु अपने असीम क्रोधी स्वभाव के कारण आज तक भी लोगों के द्वारा निंदात्मक शब्दों से स्मरण किये जाते हैं । लोग किसी भी क्रोधी व्यक्ति के लिए दुर्वासा ऋषि की उपमा दिया करते हैं ।

आशय यही है कि मात्र साधु का वेश पहन लेने से ही व्यक्ति साधु नहीं कहलाता, अपितु साधु के योग्य आचरण का पालन करने पर तथा संवर की सम्यक् आराधना करने पर ही वह सच्चा साधु कहलाता सकता है । कीमत वेश की नहीं है वरन् करनी की है ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार म्यान की कीमत न होकर तलवार की कीमत होती है । म्यान बहुत सुन्दर और मजबूत हो पर अगर उस में रही हुई तलवार तीक्ष्ण धार वाली न हो या जंग खाई हुई हो तो उस तलवार से शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती । इसी प्रकार साधु का वेश उत्तम और साधु के योग्य हो, किन्तु उसका मानस उत्तम आचरण एवं उत्तम भावनाओं से युक्त न हो तो वह अष्ट कर्मरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, साथ ही इस लोक में भी प्रशंसा का पात्र नहीं बनता ।

पर सच्चे श्रमण के लिए कहीं भी कोई कठिनाई नहीं है। अगर उसका चारित्र्य उसके वेश के अनुकूल है तथा वह सम्यक् रूप से ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य एवं तप की आराधना करता है तो संसार के बन्धन उसे जकड़े नहीं रह सकते, स्वयं ही टूट जाते हैं।

इस विषय में भी भगवान ने स्पष्ट कहा है—

जे बज्जए एए सया उ दोसे, से सुव्वए होइ मुणीण मज्जे ।

अयंसि लोए अमयं व पुइए, आराहए लोगमिणं तथा परं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, १७-२१

जो मुनि समस्त दोषों को सदा के लिए त्याग देता है, वह मुनियों में श्रेष्ठ एवं सुव्रती कहलाता है। ऐसा मुनि इस लोक में अमृत के समान आदरणीय बनता हुआ अपने परलोक की भी उत्तम आराधना कर लेता है।

भगवान के इस कथन से स्पष्ट है कि भले ही व्यक्ति साधु वेशधारी मुनि हो या सम्यक् व्रतधारी श्रावक हो, वही भव्य जीव इस संसार से मुक्त हो सकता है जो कि सम्यक् धर्म का पालन करे, अपने ज्ञान के अनुसार आचरण पर दृढ़ रहे और समस्त विघ्न-बाधाओं एवं परिषहों का मुकाबला समभाव पूर्वक करते हुए संवर के मार्ग पर दृढ़ता से बढ़ता रहे। वह भव्य प्राणी ही अपने इस लोक एवं परलोक को सुधार सकता है जो समयमात्र का भी प्रमाद न करता हुआ शरीर एवं इन्द्रियों के सशक्त रहते हुए धर्मसाधना कर लेता है तथा आज के कार्य को कल के लिए नहीं छोड़ता।





धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवरतत्व पर हमारा विवेचन चल रहा है। यह जीवन के लिए महान कल्याणकारी और आत्म-हितकर है। हमें अन्य वस्तुएँ तो प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु संवर और निर्जरा, इन दो तत्वों का चिन्तन, मनन एवं आचरण करना बहुत कठिन है। पर जिन भव्य प्राणियों ने संवर तत्व को अपनाया तथा दान, शील, तप और भाव-रूप धर्म को जीवन में उतारा, वे संसार-सागर से पार हो गये। आज भी ऐसे प्राणी इस प्रयत्न में हैं और भविष्य में भी आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति ऐसा करेंगे।

एक गाथा में कहा गया है—

दानं दरिद्रैस्स पशुस्स खन्ति, इच्छानिरोहो य सुहोइयस्स ।  
तारुण्ये इदिय निग्गहो य, चत्तारि एयाणि सुदुक्कराणि ॥

इस सुन्दर गाथा में मनुष्य के लिए चार चीजें बहुत कठिन बताई गई हैं। ध्यान में रखने की बात है कि मानव के लिए इन चार वस्तुओं को दुष्कर अवश्य बताया गया है, किन्तु असम्भव या अशक्य नहीं कहा है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को तनिक भी निराश न होते हुए इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा अपनी बुद्धि, विवेक एवं आत्म-शक्ति के बल पर इन्हें अपनाना चाहिए। अब हम गाथा में बताई हुई पहली बात पर आते हैं।

**दरिद्र के द्वारा दान कैसे दिया जाय ?**

गाथा में सर्वप्रथम कहा गया है कि दरिद्र के द्वारा दान दिया जाना कठिन है। इसका कारण यही है कि दरिद्र व्यक्ति के पास देने के लिए कुछ नहीं होता तो वह देगा कैसे ?

पर बन्धुओ, मैंने पहले ही आपको बताया है कि गाथा में बताई हुई चारों बातें कठिन अवश्य हैं पर अशक्य या असम्भव नहीं हैं। इस आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि दरिद्र व्यक्ति भी दान अवश्य दे सकता है और

वह जितना भी देता है उसका लाभ औरों के अनेक गुना अधिक दिये जाने पर जितना अधिक उठाया जा सकता है उतना ही वह भी प्राप्त कर सकता है ।

आप विचार करेंगे कि ऐसा कैसे हो सकता है ? धनी व्यक्ति तो सहज ही एक हजार रुपये एक बार में दान देने योग्य होता है और दरिद्र व्यक्ति मुश्किल से आधी रोटी दे सकता है, फिर दोनों ही बराबर कैसे लाभ प्राप्त कर सकते हैं ? इस विषय में आपको भली-भाँति समझना चाहिए कि दानदाता के लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि उसके द्वारा दिया गया धन प्रचुर मात्रा में है या दिया जाने वाला खाद्य पदार्थ स्वादिष्ट, सरस अथवा बहुमूल्य है । देखना यह चाहिए कि देने वाले की भावना प्रशस्त है या नहीं ?

‘संयुक्तनिकाय’ में कहा भी है—

‘अल्पमा दक्खिणा दिन्ना, सहस्सेन समं चिन्तं ।’

यानी थोड़े में से भी जो दान प्रशस्त भावना पूर्वक दिया जाता है वह हजारों, लाखों के दान की बराबरी करता है ।

संगम वाले ने बड़ी कठिनाई से प्राप्त खीर को भी मासखमण का पारणा करने वाले मुनिराज को अति उत्कृष्ट भावना पूर्वक दान में दे दी और इसके फल-स्वरूप अगले जन्म में राजगृह नगर के गोभद्र श्रेष्ठि का पुत्र शालिभद्र हुआ, जिसने मगध सम्राट को भी चकित कर दिया ।

चन्दनवाला ने भी भगवान महावीर को कौनसी अमूल्य वस्तु दान में दी थी ? सूखे उड़द के बाकुले ही तो दिये थे । किन्तु उन बाकुलों के द्वारा ही उसने अपने संसार को सीमित कर लिया था ।

आज हम देखते हैं कि दान देने वाले व्यक्ति अपनी प्रशंसा के लिए तथा दान-दाताओं की सूचि में अपना नाम सदा के लिए लिखवा देने की इच्छा से दान देते हैं । दान देते समय जो उत्कृष्ट भावना उनमें होनी चाहिए, उसका तो एक अंश भी वहाँ दिखाई नहीं देता । क्योंकि हम घर-घर में जाते हैं और देखते हैं कि धनी व्यक्ति सन्त-मुनिराज को अपने हाथ से देने का समय भी नहीं निकाल पाते । वे देते हैं केवल मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए । पर ऐसा हजारों रुपयों का दान भी वह सुफल नहीं देता, जितना एक गरीब व्यक्ति अपनी थाली में से द्वार पर आए हुए साधु को भावनापूर्वक आधी रोटी देकर प्राप्त कर लेता है । जिस व्यक्ति का हृदय उदार होता है वही दान का सच्चा लाभ हासिल कर सकता है ।

**सच्ची ईद मनाई है**

कहा जाता है कि किसी शहर का एक वोहरा ईद के दिन कीमती वस्त्र पहन कर बाजार में घूम रहा था । घूमते-घामते वह एक पान वाले की दुकान पर जा

पहुँचा। तम्बोली से एक पान लगाने के लिए कहते समय बोहरे की दृष्टि उस दुकान के पास ही खड़े फकीर पर पड़ी। फकीर अपने शरीर पर एक मैली-कुचैली तहमद पहने हुए था।

बोहरे ने तम्बोली से पान लेकर खाया और रुपये में से बचे हुए कुछ पैसे फकीर की ओर बढ़ाते हुए बोला—“ईद मुबारिक हो मियां ! लो यह पैसे लो।”

फकीर ने बोहरे की उदारता पर कुछ व्यंग करते हुए कहा—“इतने से पैसों से आप ईद मना रहे हैं क्या ? अगर सच्ची ईद मनाना है तो इस फकीर को पूरी तरह प्रसन्न करो।”

बोहरे ने यह सुनकर ध्यान से फकीर को देखा और कहा—“भाई जान ! तुम्हारी बात सही है। इतने पैसों से मेरा ईद मनाना व्यर्थ है। बोलो, आज तुम्हें किस प्रकार खुश करूँ ?”

फकीर ने उत्तर दिया—“भेहरबान ! इस फटी तहमद को पहनते हुए मुझे कई वर्ष हो गये हैं, अतः सच्ची ईद मनाना है तो मुझे अपने पहने हुए ये कपड़े दे दो और मेरी तहमद तुम ले लो।”

बोहरे ने यह सुनते ही अपने कपड़े उतारने शुरू कर दिये तथा वह बढ़िया पोशाक फकीर को देकर स्वयं ने फकीर की कई स्थानों से फटी हुई मैली-कुचैली तहमद स्वयं पहन ली। तत्पश्चात् उसी वेप में वह बीच बाजार में होता हुआ अपने घर की ओर चल दिया। मार्ग में उसके कई दोस्त मिले और उसके उस वेप को देखकर हैरान होते हुए पूछने लगे—

“आज ईद के दिन यह क्या हो गया है आपको ? ऐसी गन्दी और फटी तहमद पहने क्यों घूम रहे हैं ?”

बोहरे ने उत्तर में केवल यही कहा—“दोस्तो ! आज मैंने सच्ची ईद मनाई है।”

कहने का आशय यही है कि प्रत्येक मनुष्य में चाहे वह अमीर हो या गरीब, सहज उदारता एवं प्राणियों के प्रति सहानुभूति की भावना होनी चाहिए। दान का महत्व दी गई वस्तु के मूल्य से नहीं माना जाता अपितु देने वाले की भावना पर निर्भर होता है।

महाराज भोज बड़े दानवीर थे। वे किसी के भी द्वारा सुन्दर श्लोकों की रचना करने पर एक-एक श्लोक के लिए एक-एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएँ दान में दे दिया करते थे। श्लोक की रचना के लिए एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ बहुत अधिक होती थीं, पर भोज इस बहाने से दीन-दरिद्र या सरस्वती के उपासकों की सहायता करने की

भावना रखते थे। रचनाओं के उपलक्ष में इस प्रकार भेंट देने पर श्लोकों की रचनाएँ करने वालों का गौरव भी बढ़ता था तथा उस अर्थ से वे जीवनमर के लिए निश्चित भी हो जाया करते थे।

पर राजा भोज का मन्त्री उनके ऐसे दान के कारण कुछ दुःख रहता था। उसने एक बार भोज के दान को कुछ कम करने की दृष्टि से उनके शयनगृह की दीवार पर कुछ लिख दिया किन्तु भोज ने भी उसका उत्तर बड़े विवेक एवं बुद्धिपूर्वक वहीं लिखवा दिया। मन्त्री ने क्या लिखा और राजा ने क्या उत्तर दिया, यह जानने की आपको उत्सुकता होगी। अतः वह भी कह देता हूँ—

मन्त्री ने लिखवाया—“आपदर्थे धनं रक्षेत् ।” उसके उत्तर में राजा ने लिखवा दिया—“श्रीमतामापदः कृतः ?” मन्त्री ने पुनः लिखा—“साचेदपगता लक्ष्मीः ।” इसका राजा ने उत्तर दिया—“संचितार्थो विनश्यति ।”

वस्तुतः संचित किया हुआ धन समय पाकर नाश को प्राप्त होता है। विद्वानों ने धन की तीन गतियाँ बताते हुए कहा है—

इस धन की गति तीन हैं, दान, भोग अरु नाश।

दान भोग में ना लगे, तो निश्चय होय धिनास ॥

अगर कृपण व्यक्ति धन का दान नहीं करता और उसका उपभोग भी नहीं करता तो वह धन निश्चय ही नष्ट होता है। साथ ही धन पर उसकी घोर आसक्ति जीवन मर बनी रहती है अतः संसार-सागर में वह अनन्त काल तक डूबा रहता है।

किसी कवि ने दाता और कृपण की बड़ी बुद्धिमानी से तुलना करते हुए कहा है—

संघर्षकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातलम् ।

दाता तु जलदः पश्य, भुवनोपरि गर्जति ॥

कहा गया है कि धन का दान न करने वाला और उसका उपभोग भी न करने वाला कृपण व्यक्ति संसार-सागर के रसातल में जा पहुँचता है, किन्तु धन का दान करते रहने वाला दाता सबसे ऊपर पहुँचकर भेष के समान गर्जना करता है।

कहने का आशय यही है कि दानी व्यक्ति अपनी उदारता और निस्पृहता के कारण उच्च गति को प्राप्त कर लेता है जबकि कृपण व्यक्ति धन में सदा आसक्त और गूढ़ रहने के कारण निम्न गतियों में भटकता रहता है। मुम्मन सेठ ने कृपणतापूर्वक छप्पन करोड़ रुपया इकट्ठा कर लिया था, किन्तु वह उसके क्या काम आया? आज लोग उसके विषय में यही कहते हैं—

मम्मन सेठ धन संचियो पूरो छप्पन क्रोड़ ।

नाहँ खायो नाहँ खरच्चियो, सूयो मायो फोड़ ॥

तो बंधुओ, विवेकी एवं बुद्धिमान पुरुष का यही कर्तव्य है कि वह जितना भी बन सके सदा दान करता रहे। दान, शील, तप एवं भाव में दान प्रथम और सर्वश्रेष्ठ है। इतना ही नहीं, दान धर्म का प्रवेश-द्वार है। इसमें प्रवेश किये बिना शिवपुर में नहीं पहुँचा जा सकता। जीवन को धर्ममय बनाने के लिए शुभारम्भ दान से ही किया जा सकता है। स्वयं तीर्थंकर भी प्रव्रज्या ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक निरन्तर दान देते हैं। उनका यह कार्य मानव मात्र को प्रेरणा देता है कि धर्म-साधना करनी है तो पहले दान करो। दान करने में गरीबी तनिक भी बाधक नहीं होती। व्यक्ति कितना भी दरिद्र क्यों न हो, अगर वह अपनी स्थिति के अनुसार दो पैसे या दो रोटी भी उत्तम भावना से किसी को देता है तो वह धर्म के क्षेत्र में अपना ऊँचा स्थान बनाती है।

यद्यपि गाथा में कहा गया है कि दरिद्र के लिए दान देना कठिन है। वह केवल इसीलिए कि उसके पास देने को हजारों रुपये, वस्त्र या अन्न नहीं होते। किन्तु भावना तो उत्तमोत्तम हो सकती है? बस, वह भावना ही दान के लाभ का हेतु बनती है। आप प्रायः यह सुनते और पढ़ते भी हैं—

**“यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।”**

इस पद्य में यह नहीं कहा गया है कि जो अधिक दान देता है या अधिक धर्म-क्रियाएँ करता है, उसे ही सिद्धि हासिल होती है। अपितु स्पष्ट और सत्य कहा है कि जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त हो जाया करती है। क्रिया कोई भी क्यों न हो, पर उसके साथ भावना उत्तम होनी आवश्यक है। व्यक्ति चाहे जप करे, तप करे, शील पाले या दान देवे, अगर उसके पीछे भावना शुद्ध नहीं है तो उसके लिए इन शुभ क्रियाओं का कोई फल नहीं होता। दान भी अगर किसी प्रकार की स्वार्थ-भावना से यानी बदले में लाभ की इच्छा से या यश बढ़ाने की दृष्टि से दिया जाय तो लाखों रुपये देने पर भी निष्फल है, और निःस्वार्थ भाव से, दया, करुणा या सहानुभूति की दृष्टि से दिया गया थोड़ा-सा दान भी प्रशंसनीय एवं सुफल प्रदान करने वाला होता है। इसलिए भले ही दरिद्रता के कारण दरिद्र व्यक्ति के लिए इच्छानुसार अधिक दान देना दुष्कर यानी कठिन अवश्य होता है, पर वह दान देने की उत्तम भावनापूर्वक यत्किञ्चित् भी देता है तो अपनी भावना के कारण उत्तम लाभ हासिल कर लेता है।

**समर्थ के लिए क्षमा कठिन है**

गाथा में दरिद्र के लिए दान देना और उसके पश्चात् ‘पहु’ यानी प्रभु अथवा समर्थ के लिए क्षमा करना कठिन है, ऐसा कहा गया है।

साधारणतया हम देखते हैं कि दीन-दरिद्र, भजदूर, भिखारी या सेवक आदि धन एवं अन्य प्रकार के बलों से रहित होने के कारण अमीरों की तथा सत्ताधारियों की गालियाँ, कटु वचन एवं मार-पीट आदि भी मन मार कर सह लेते हैं, बदले में उनकी कुछ भी कहने या करने की हिम्मत नहीं होती। वे सत्ता और प्रभुता के अभाव में अपना आत्मिक बल भी खो बैठते हैं।

किन्तु जो प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति होते हैं वे कभी किसी के दुर्वचन या अपने गौरव को ठेस लगाने वाले शब्द सुनकर चुप नहीं रह सकते। वे ईंट का जबाब पत्थर से देने के लिए तैयार रहते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे व्यक्ति साधारण या न कुछ सी बात पर भी उबल पड़ते हैं। अगर हम इतिहास को उठाकर देखें तो पता चल सकता है कि प्राचीनकाल में तो राजा लोग कटु वचन कहने वाले की जीभ ही कटवा देते थे या चोरी करने वाले के हाथ कटवा डालते थे। वे लोग तनिक से अपराध का भी बड़ा कठिन दण्ड अपने सत्ताधीश होने के कारण अपराधी को दिया करते थे।  
बादशाह को समझ कैसे आई ?

मैंने कहीं पढ़ा था कि एक बार किसी बादशाह की दासी ने उनके शयन करने के लिए जैसा कि वह प्रतिदिन किया करती थी, फूलों की कलियाँ चुन-चुनकर शय्या बिछाई। बादशाह के आने में तो काफी समय था अतः उस दिन दासी की बड़ी प्रबल इच्छा हुई कि ऐसी सुकोमल शय्या पर कितना आराम शरीर को मिलता होगा, जरा मैं भी अनुभव करूँ।

अपनी आकांक्षा को न दबा पाने के कारण दासी केवल दो-चार मिनट के लिए शय्या पर कौसा आराम मिलता है यह अनुभव करने के लिए लेट गई। पर बेचारी सेविका, जिसे नर्म, सुकोमल तथा सुगन्धित शय्या तो क्या धरती पर बिछाने के लिए पूरा बिछौना भी नहीं मिलता था, दुर्भाग्यवश जो उस शय्या पर लेटी तो दो-चार मिनट में ही गहरी निद्रा में निमग्न हो गई।

इधर बादशाह समय होते ही अपने शयनगृह में आए, पर यह देखते ही कि दासी उनकी शय्या पर सोई हुई है, वे आगबबूला हो गये और आपे में न रहे। उसी क्षण हन्टर उठाकर उन्होंने दासी पर बरसाने प्रारम्भ कर दिये। प्रभुता-सम्पन्न एवं सत्ताधारी होने के कारण उनके हृदय में तनिक भी विचार नहीं आया कि इस दीन सेविका की इच्छा फूलों से सुवासित इस शय्या पर सोने की आज हो भी गई तो क्या हो गया ? प्रत्येक मनुष्य के हृदय में नाना प्रकार की इच्छाएँ तो होती ही हैं, यह भी मानव है और आज यह अपनी इच्छा को न दबा पाने के कारण ही इस शय्या पर लेट गई है। हन्टर बरसते रहे और दासी अपने तनिक से अपराध के कारण मार खाती रही।

पर बन्धुओ, धन-वैभव की दृष्टि से मानव दरिद्र अवश्य हो सकता है, किन्तु आत्मिक गुणों की दृष्टि से तो कोई भी दरिद्र नहीं होता। केवल उन गुणों के या आत्म-बल के जाग जाने की ही आवश्यकता होती है। दासी भी मनुष्य थी और उसकी आत्मा में भी बुद्धि एवं विवेकादि गुण निहित थे। सौभाग्यवश हन्टरों की मार खाते समय उसकी बुद्धि जाग्रत हुई और उस स्थिति में वह जोर से हँस पड़ी।

उसको हँसते देख बादशाह एक दम आश्चर्य से अवाक रह गया और उसका हन्टर रुक गया। मार खाकर रोने वालों को तो वह सदा देखा। करता था पर मार खाकर हँसने वाले को उसने उसी दिन देखा। परिणामस्वरूप बड़े आश्चर्य के साथ उसने सेविका से पूछ लिया—“वेवकूफ ! एक तो भेरी शैथ्या पर सो जाने का तूने अपराध किया और ऊपर से हँस रही है ? किसलिए हँस रही है तू ?”

दासी बड़ी शान्ति से बोली—“जहाँपनाह ! मुझे यह विचार कर हँसी आ गई कि मैं जीवन में केवल एक बार ही आपकी इस शैथ्या पर सोई हूँ पर इतने से ही मुझे आपके द्वारा इस प्रकार हन्टर की मार खानी पड़ी। तो फिर हुजूर तो प्रति-दिन इस पर शयन करते हैं अतः आपको न जाने कितनी मार इसके लिए कमी न कमी खानी पड़ेगी।”

दासी की बात सुनते ही बादशाह की बुद्धि ठिकाने पर आ गई। उसकी अत्यन्त सारगर्भित बात सुनकर उसे केवल दासी पर अत्याचार करने की बात का ही पश्चात्ताप नहीं हुआ, अपितु तब तक के जीवन में निरीह प्राणियों पर किये गये सम्पूर्ण अत्याचार चल-चित्र की भाँति मानस-चक्षुओं के सामने आने लगे। उसी क्षण हन्टर पृथ्वी पर गिर पड़ा और बादशाह ने अपने हृदय में क्षमाभाव को स्थान दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि समर्थ व्यक्ति के लिए भी क्षमा-भाव धारण करना कठिन अवश्य होता है, किन्तु असंभव नहीं होता। बादशाह प्रमुतासम्पन्न था और क्षमा क्या वस्तु होती है ? इसे कमी समझ नहीं पाया था। पर दासी की भर्मस्पर्शी एवं बुद्धिमानीपूर्ण बात सुनकर उसका विवेक जाग गया और क्षण भर में ही उसका अन्तर्मानस क्षमा से ओत-प्रोत हो गया।

आज भी अनेक समर्थ एवं शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति अपनी प्रमुता के कारण अभिमान में चूर रहते हैं और अपने अधीनस्थ या दीन व्यक्तियों को तिरस्कृत या अपमानित करते रहते हैं। किसी एक व्यक्ति के द्वारा कोई मन को चुभने वाली बात अगर सुनने को मिल जाय तो हजारों रुपये खर्च करके भी वे उसका मान-मर्दन करने से नहीं चूकते।

किन्तु वे यह नहीं समझ पाते कि वैर-भाव, क्रोध या बदले की भावना आत्मा की विभाव अवस्था है और आत्मा को कालान्तर में दुःख पहुँचाती है। आत्मा

की स्वभाव अवस्था तो क्षमा-भाव है और जो इमको धारण कर लेता है, वह न जाने कितने कर्मों की निर्जरा केवल इस गुण के कारण ही कर लेता है। वह मूल जाता है कि वीरों का हथियार दण्ड देना या अपमान का बदला लेना ही नहीं है, अपितु क्षमा करना भी है। कहा भी जाता है—“क्षमा वीरस्य भूषणम्।”

मनुष्य चाहे कर्मवीर हो या धर्मवीर, उसे क्षमा धारण करनी चाहिए। क्षमा के द्वारा ही वह अपने शत्रुओं को सच्चे अर्थों में जीत सकता है। कर्म-क्षेत्र में अगर व्यक्ति सामने वाले के कटु-शब्दों को शांतिपूर्वक सहन करके उनका मधुरता पूर्वक उत्तर देता है तो कौन ऐसा क्रूर हृदय वाला व्यक्ति होगा जो कि पानी-पानी नहीं हो जाता? और इसी प्रकार धर्म-क्षेत्र में उतरने वाला व्यक्ति भी अपना अहित करने वाले पर अगर क्षमा रखता है तो समय आने पर वह व्यक्ति तो पश्चात्ताप करता ही है साथ ही धर्मपरायण एवं क्षमाधारी व्यक्ति के कर्म-रूपी दुश्मन भी परास्त हो जाते हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ एवं महावीर जैसे भव्य प्राणियों को भी समय-समय पर अनेकों व्यक्तियों ने कष्ट दिये। उन अवतारी पुरुषों में क्या आतताइयों से बदला लेने जैसी सिद्धि नहीं थी? अवश्य थी। किन्तु उन्हें तो अपने अष्ट-कर्मों को निर्मूल करना था और यह कार्य केवल क्षमा के द्वारा ही संभव था। अतः उन्होंने खन्ति-धर्म को अपनाया। क्रोध को जीतने वाला व्यक्ति ही क्षमा-भाव को धारण करके कर्मों का सामना कर सकता है तथा उन्हें जीत सकता है।

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से एक बार पूछा—“कोहविजएणं भन्ते जीवे किं जणयः ?” यानी क्रोध-विजय करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—

“कोहविजएणं खन्ति जणयइ, कोहवेयणिज्जं  
कम्मं न बन्धइ, पुब्बबद्धं च निज्जरेइ।”

अर्थात्—क्रोध-विजय से क्षमा गुण की प्राप्ति होती है, क्रोधजन्य कर्मों का नवीन बन्ध नहीं होता तथा पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते हैं।

इसलिए बन्धुओ, प्रत्येक व्यक्ति को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि क्षमा-धर्म महान् तप है, जिसके द्वारा असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है। पर वह क्षामाभाव भी कैसा हो? वह क्षमा, क्षमा नहीं कहलाती जो दीन-हीन एवं दुर्बल व्यक्ति के पास होती है। उसकी क्षमा तो इसलिए होती है, वह प्रतिकार की शक्ति ही नहीं रखता। सच्ची क्षमा वह कहलाती है जब कि व्यक्ति बदला लेने की पूर्ण शक्ति



रखता हुआ भी अपने शत्रु को क्षमा कर देता है। प्रभुता-सम्पन्न, शक्तिशाली और वीर पुरुष ही क्षमावान कहलाते हैं। संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली तीर्थंकर होते हैं, अतः वे सबसे अधिक क्षमावान भी होते हैं।

अभिप्राय यही है कि गाथा के अनुसार प्रभुता-सम्पन्न व्यक्तियों के लिए क्षमा-धर्म अपनाना दुष्कर होता है, किन्तु अमंभव कदापि नहीं होता, अन्यथा बड़े-बड़े राजा, चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर किस प्रकार क्षमा को धारण करके संसार-मुक्त होते ? अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को सर्वप्रथम क्षमाधर्म अपनाना चाहिए तथा उसे अपनी अन्तरात्मा में रमाकर कर्मों की निर्जरा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

### सुखोपभोगों के होते हुए भी इच्छाओं का निरोध—

अभी हमने जिस गाथा को लिया है, उसमें तीसरी बात आई है कि घर में सुखोपभोगों के प्रचुर साधनों के होते हुए इच्छाओं का रोकना अति दुष्कर है।

यह बात सत्य है। किसी दरिद्र व्यक्ति के पास तो भोग-सामग्री, उत्तम वस्त्रामूषण एवं सुस्वादु भोजन आदि पदार्थ न होने पर उसे विवश होकर अपनी इच्छाओं का निरोध करना ही पड़ता है, किन्तु जिसे ये सब उपलब्ध होते हैं, वह व्यक्ति अगर इनके प्रति निरासक्त रहता है तो उसका 'इच्छा-निरोध' यथार्थ कहलाता है।

शास्त्रों में दृढ़प्रतिज्ञ कुमार के विषय में वर्णन आता है कि वह अपार ऐश्वर्य के बीच में रहते हुए भी पूर्णतया विरक्त रहता था। उसके माता-पिता बहुत समझाते थे कि जब घर में सब वैभव-सामग्री मौजूद है तो फिर तू इनका उपभोग क्यों नहीं करता ? पर कुमार का हृदय वैराग्य-भावना से परिपूर्ण था अतः उसकी इच्छाएँ संयमित हो चुकी थीं। साधन होते हुए भी उनके प्रति आसक्ति न रखना भी बड़ा भारी तप है। शास्त्रकार कहते भी हैं—“इच्छानिराधस्तपः।”

अपनी इच्छाओं पर अंकुश रखना ही तप-मार्ग है। जो प्राणी ऐसा करता है वह सच्चे अर्थों में धर्मात्मा पुरुष कहला सकता है। रानी कलावती के विषय में भी एक कथा आती है, वह इस प्रकार है—

### धर्म ने रक्षा की

रानी कलावती के चार सौतें थीं। सबसे छोटी कलावती और सबसे बड़ी का नाम था लीलावती। राजा के लिए बड़े दुःख की बात थी कि पाँच रानियों के होते हुए भी उन्हें सन्तान की प्राप्ति नहीं हुई थी। सन्तान का न होना सांसारिक व्यक्तियों के लिए बड़े दुःख का कारण बनता है। कहते भी हैं—

अपुत्रस्य गृहम् शून्यम्, दिशा शून्याः अबांधवाः ।  
मूर्खस्य हृदयं शून्यम्, सबशून्यम् दरिद्रता ॥

अर्थात्—पुत्र के अभाव में घर सूना लगता है और भाई के अभाव में सारी दिशाएँ सूनी दिखाई देती हैं। आगे कहा है—जिस व्यक्ति को दिमाग नहीं होता अर्थात् मले-बुरे का जिसे ज्ञान नहीं होता, ऐसे मूर्ख का हृदय ही मानों शून्य होता है और उस व्यक्ति के लिए तो सभी कुछ सूना होता है, जिसके यहाँ घोर दरिद्रता निवास करती है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि राजा की पाँचों रानियों में से किसी के भी सन्तान नहीं थी अतः राजा बड़े दुखी रहते थे। किन्तु कुछ समय पश्चात् धर्म-परायणा छोटी रानी कलावती गर्भवती हुई और राजा की खुशी का पारावार ही नहीं रहा।

पर इधर जब अन्य रानियों को कलावती के गर्भवती होने का समाचार मिला तो उनके कलेजे पर मानों साँप लोट गया। लीलावती ईर्ष्या के मारे अंधी हो गई और हिताहितशून्य होकर उसने कलावती को मार डालने का निश्चय कर लिया। वह सोचने लगी—‘राजा पहले ही हमें कम पूछते हैं और कलावती के जब सन्तान हो जायेगी तो फिर हम तो धी में पड़ी हुई मक्खी के समान त्याज्या-सी हो जायेंगी।

लीलावती ने नाना प्रकार के षड्यंत्र रचने शुरू कर दिये तथा तंत्र-मंत्र आदि के द्वारा कलावती को मार डालने का प्रयत्न किया किन्तु जो प्राणी धर्म का आधार ग्रहण करता है, धर्म उसकी रक्षा अवश्य करता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

एको हि धम्मो नरदेव ताणं ।  
न विज्जइ अन्नमिहेह किंचि ॥

—अध्ययन १४-४०

अर्थात्—‘राजन् ! एक धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवाय विश्व में मनुष्य का अन्य कोई त्राता नहीं है।’

तो कलावती भी अपने धर्म के प्रभाव से बच गई और लाख मंत्र-तंत्र करने पर भी उसका बाल-बर्बाक नहीं हो सका। फिर भी लीलावती ने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और अन्त में कालकूट विष देकर अपनी सौत को समाप्त करने का विचार किया।

उसने एक मधुर आम भँगवाया और उसमें विष डालकर दासी के साथ कलावती को भेजकर कहलवाया—‘आप इस समय गर्भवती हैं और ऐसे समय में नित्य नवीन चीजों को खाने की इच्छा होती है, अतः यह आम खाकर अपनी बहन की इच्छा का आदर करना।’

कलावती बड़ी सरल हृदया नारी थी, वह न किसी से द्वेष करती थी और न ही यह कल्पना ही करती थी कि उससे उसकी सौतेली इर्ष्या करती है। उसने बड़े प्रेम से अपनी सौतेली के द्वारा भेजा हुआ आम्रफल स्वीकार किया और खाने के लिए तैयार हुई। किन्तु उसी समय उसे ध्यान आया कि आज हरी सब्जी खाने का मेरा नियम है। इसलिए यह आम कल खा लूंगी, ऐसा विचार कर उसने दीवाल में बने हुए एक आले में रख दिया। तत्पश्चात् वह मनोरंजन के लिए झूले पर बैठ गई और धीरे-धीरे झूलने लगी।

पर इधर बड़ी रानी लीलावती को चैन कहाँ? जब काफी देर हो गई और आम ले जाने वाली दासी नहीं लौटी तो उसने दूसरी दासी को कहा—“जाकर छोटी रानी के कुशल समाचार ले आ। उनके दिन भरे हैं, अतः मुझे चिन्ता होती रहती है।” ‘दिन भरे’ से उसका अर्थ दुहरा था, एक तो गर्भवती होने का, दूसरा दिन पूरे हो गये हैं, यह भी छिपा हुआ भाव था। खैर दासी गई, पर तुरन्त ही लौटकर बोली—“महारानी जी ! वे तो झूले पर बैठी हुई झूल रही हैं।”

लीलावती बड़ी हैरान हुई और इधर-उधर बेचैनी से टहलने लगी। जब चैन नहीं पड़ा तो उसने तीसरी दासी को फिर भेज दिया। वह दासी जरा स्वादलोलुप थी अतः जब उसने कलावती के महल के आले में रखा हुआ आम देखा तो सोचा—“राजाओं के यहाँ फलों की क्या कमी? इन्हें तो और भी बहुत मिल जाएँगे अतः मैं ही यह आम खा लूँ।” यह सोचते हुए उसने चुपचाप आम उठा लिया और सबकी निगाहें बचाकर खा गई। पर कहते हैं न कि ‘चोर का मुँह कोठी में रहता है’, वह दासी आम खाते ही चुपचाप वहाँ से भागी और महल की सीढ़ियों उतरने लगी। किन्तु कालकूट विष ने उसे उतरने नहीं दिया। वह तो तालू में लगते ही असर कर गया और दासी समाप्त हो गई।

इधर चौथी दासी जब लीलावती के द्वारा भेजी गई तो उसने जलते पैरों लौटकर बताया कि रानी कलावती तो आनन्द से झूले पर झूल रही हैं और आपकी दासी मरी पड़ी है। लीलावती दासी के मरने का रहस्य समझ गई और अपनी योजना के निष्फल हो जाने के कारण सिर पकड़ कर बैठ गई।

पर कुछ देर बाद जब वह प्रकृतिस्थ हुई तो फिर कुछ सोचा-विचार और राजा के पास यह समाचार भेज दिया कि—“रानी कलावती बड़ी सती, दयालु एवं धर्मात्मा बनती हैं पर उन्होंने मेरी गरीब दासी को मार डाला।” राजा लोग वैसे ही कान के कच्चे होते हैं, अतः उन्होंने तुरन्त पता करवाया कि बात क्या है? यद्यपि उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि कलावती ऐसा कर सकती है, पर जब वास्तव में ही दासी की लाश उसके महल की सीढ़ियों पर पाई गई तो उन्होंने कलावती से इस विषय में पूछ लिया।

कलावती स्वयं ही परेशान थी, पर उसने कहा -

“मैंने तो दासी को देखा भी नहीं, हाँ यहाँ, आले में एक आम अवश्य रखा था, शायद उसे ही खाकर वह मर गई होगी। उसके ओठों पर आम का रस लगा हुआ है तथा गुठली भी पड़ी है।”

लीलावती बोली—“आम खाने से भी कोई मरता है क्या? इसे जरूर कलावती ने किसी प्रकार मारा है।” इस तरह यहाँ बातचीत हो ही रही थी कि इतने में राजवैद्य ने राजा को चुपचाप सूचना भेजी कि आज बड़ी महारानी लीलावती ने मुझसे कालकूट विष मँगवाया था, वह क्यों मँगवाया गया था? कलावती ने भी कहा कि आम मेरे पास नहीं था, वह बड़ी रानी लीलावती ने मुझे खाने के लिए भेजा था।

इस प्रकार सारी बात स्पष्ट हो गई और राजा ने लीलावती की मर्त्सना करते हुए कलावती के सतीत्व एवं धर्म की प्रशंसा की तथा कहा—“धर्म के प्रताप से ही तुम बाल-बाल बच गई हो। अगर आज तुम्हारे नियम न होता और तुम लीलावती के द्वारा भेजे हुए आम को खा लेतीं तो दासी के स्थान पर आज मैं तुम्हें खो चुका होता।”

तो बंधुओ, कहने का आशय यही है कि रानी कलावती ने गर्भवती होने के कारण दोहद होते हुए भी अपनी आम खाने की इच्छा का निरोध किया और उसके परिणामस्वरूप मृत्यु के मुख से बच गई। केवल एक इच्छा का निरोध होने पर ही जब वह एक बार की मृत्यु से बच गई तो अनेकानेक इच्छाओं का निरोध करने वाला व्यक्ति पुनः-पुनः मृत्यु से क्यों नहीं बच सकता? यानी अवश्य बच सकता है। अतः प्रत्येक आत्मार्थी को इच्छानिरोध-तप का आदर करना चाहिए तथा उसे अपनाकर बार-बार जन्म और मरण से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

अब हमें लेना है गाथा की चौथी बात। वह है—

**तरुणावस्था में इन्द्रियों का निग्रह**

इस संसार में मनुष्य के लिए धन, मान, यश एवं कीर्ति आदि नाना प्रलोभनों की वस्तुएँ विद्यमान हैं और मानव इन्हीं के आकर्षण में पड़ा हुआ अनेकानेक विडम्बनाएँ भोगता है। किन्तु इन सबसे बड़ा आकर्षण या प्रलोभन एक और है तथा वह है काम-भोग। यह विकार संसार के समस्त विकारों से प्रबल और उग्र होता है। प्रत्येक प्राणी इसके अधीन होते हैं चाहे वह पशु, पक्षी या मनुष्य हों। काम-विकार बड़े-बड़े योगियों को भी भोगियों की श्रेणी में उतार लाता है। इसकी व्यापकता और प्रबलता को बताते हुए कहा गया है—

**ज्ञानी हूँ को ज्ञान जाय ध्यानी हूँ को ध्यान जाय,  
माननी हूँ को मान जाय सूरा जाय जंग ते।**

योगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिधाई जाय,  
बड़े की बड़ाई जाय रूप जाय अंग ते ॥

धर की तो प्रीति जाय लोकों में प्रतीति जाय,  
त्याग बुद्धि भीत जाय विकल होय अंग ते ।  
संजम का बिहार जाय हानि का उपचार जाय,  
जन्म सब हार जाय काम के प्रसंग ते ॥

कवि ने कहा है—इस काम-विकार से ज्ञानी का ज्ञान, ध्यानी का ध्यान और प्रतिष्ठित व्यक्तियों का सम्मान नष्ट हो जाता है । यह प्रबल विकार शूरवीर को युद्ध से विमुख करता है, सिद्ध पुरुषों की सिद्धता को मिटाकर उनकी जीवन भर की कमाई समाप्त कर देता है तथा योगियों के योग-बल पर पानी फेर देता है ।

महान् और बड़े व्यक्तियों के बड़प्पन को तथा शरीर के अनुपम सौन्दर्य को भी यह नष्ट कर देता है । इतना ही नहीं, इस विकार का शिकार व्यक्ति न तो घर में किसी का प्रेम-भाजन रहता है और न ही बाहर के व्यक्तियों का विश्वास प्राप्त कर सकता है । हम देखते भी हैं कि व्यभिचारी पुरुष के स्वजन, सनेही और मित्र-दोस्त भी उसका सर्वथा परित्याग कर देते हैं । इन्द्रिय-संयम एवं ज्ञानादि गुणों के अभाव में विकारी पुरुष का जीवन दुर्गुणों की खान बन जाता है और अपना समग्र जीवन वह दुःखपूर्ण एवं व्यर्थ बना लेता है । संक्षेप में इस दुर्गुण के कारण यह उत्तम मानव जीवन वरदान बनने के बदले घोर अभिशाप बन जाता है ।

किन्तु प्रत्येक प्राणी इस विकार के समक्ष हथियार डाल ही देता है, यह बात भी नहीं है । इसी संसार में अनेकों भव्य प्राणी ऐसे हुए हैं जो इससे सबंधा अछूते और दूर रहकर अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण अंकुश किये रहे । परिणाम यह हुआ कि ऐसे संयमी प्राणी अपने मन एवं आत्मा को निर्दोष रखकर आत्म-कल्याण कर गये हैं ।

इसी पृथ्वी पर भीष्म पितामह जैसे अनेकों बालब्रह्मचारी हुए हैं और आज भी अनेक संत-महापुरुष विद्यमान हैं जो कि पूर्ण युवावस्था में भी संयम ग्रहण करके साधना-मार्ग पर चल रहे हैं । यद्यपि जैसा कि गाथा में कहा गया है युवावस्था में इन्द्रियों पर काबू रखना सरल नहीं अपितु महान् दुष्कर है और साधारणतया तो यही देखा जाता है कि वृद्धावस्था तक भी अपने मन एवं इन्द्रियों पर संयम नहीं रख पाते । किन्तु जो भव्य पुरुष संसार की असारता को समझ लेते हैं तथा आत्मा का कल्याण या उसकी मुक्ति किस प्रकार संभव है, यह जान लेते हैं वे तो क्षणमात्र में भी संसार से विमुख होकर आत्म-साधना में जुट जाते हैं । अगर ऐसा न होता तो

मगवान नेमिनाथ तोरण पर से वापिस कैसे लौट जाते और सिद्धार्थ यशोधरा एवं अपने एकमात्र पुत्र नन्हें से राहुल को छोड़कर किस प्रकार वन-गमन करते ?

### दो विभूतियाँ

जैनाचार्य श्री उदयसागर जी महाराज, जिन्हें आज भी व्यक्ति बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं। वे जब युवा थे तो उनका विवाह तय हो गया। तत्पश्चात् उनकी बारात ससुराल पहुँची और तोरण द्वार पर ज्योंही उन्होंने अपना सिर नीचा किया, संयोगवश उनके मस्तक पर से कलंगी समेत साफा नीचे गिर गया।

लोग दौड़े और उनके भिन्नो ने साफा उठाकर पुनः उनके मस्तक पर रखना चाहा। किन्तु उदयसागर जी के मन में उसी क्षण यह विचार आगया कि जो वस्तु छूट चुकी है उसे पुनः ग्रहण करना ठीक नहीं है। यह विचार आते ही अपने गुरुजनों के तथा बरातियों एवं ससुराल वालों के लाख समझाने पर भी न उन्होंने मस्तक पर साफा रखा और न ही विवाह किया तथा उलटे पैरों लौट आये। घर आकर उन्होंने अपना इरादा व्यक्त कर दिया कि वे संयम ग्रहण करना चाहते हैं। इरादे के अनुसार ही उन्होंने साधुत्व ग्रहण कर लिया तथा आत्म-कल्याण के प्रयत्न में जुट गये।

इसी प्रकार श्री जयमलजी म० जिनके नाम से आज भी सम्प्रदाय चल रही है, अपने विवाह के केवल छः मास पश्चात् मेड़ता में व्यापार के सिलसिले में आये और स्थानक में संतों के दर्शनार्थ गये। किन्तु स्थानक का द्वार छोटा था अतः सिर झुकाकर अन्दर आने के प्रयत्न में उनकी पगड़ी नीचे गिर गई।

पगड़ी के गिरने पर उन्होंने पुनः उसे मस्तक पर नहीं रखा और न लौटकर अपने घर ही गये। उसी क्षण उन्होंने प्रवृज्या लेने का निश्चय कर लिया और यह नियम कर लिया कि जब तक साधु का प्रतिक्रमण याद नहीं कर लूंगा, बैठूंगा नहीं और न ही अन्नजल ग्रहण करूँगा। खड़े-खड़े ही तीन दिन में उन्होंने साधु का प्रतिक्रमण याद कर लिया तथा दीक्षा लेने से पूर्व किया जाने वाला ज्ञान प्राप्त करके दीक्षा ले ली।

उदयसागरजी म० और जयमलजी म० दोनों ही युवा थे पर एक तो विवाह करने के लिए जाकर भी लौट आये और दूसरे ने विवाह के छः मास पश्चात् ही साधु धर्म अंगीकार कर लिया।

कहने का अमिप्राय यही है कि तरुणावस्था में इन्द्रियों पर संयम रखना बड़ा दुष्कर है किन्तु जन्म, जरा और मृत्यु से सदा के लिये अपनी आत्मा को मुक्त करने

की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु, पुरुष मन पर काबू कर लेते हैं तथा इन्द्रियों के विषयों को ठोकर मारकर आत्म-साधना में जुट जाते हैं ।

तो बंधुओ, अगर मानव दृढ़ संकल्प कर लेता है तो कोई भी कार्य वह दुष्कर नहीं मानता तथा उसे सफल बनाने में लग जाता है । दृढ़ संकल्प एक ऐसा गढ़ होता है जो कि संसार के प्रबलतम प्रलोभनों से भी मनुष्य को बचा लेता है । दृढ़ संकल्प की महिमा का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता पर हमारे इतिहास और पुराण सभी साक्षी हैं कि मनुष्य के संकल्प के सन्मुख देव और दानव सभी मस्तक झुका देते हैं । संकल्प मन के विकल्पों को निर्मूल कर देता है तथा उसको अपनी इच्छा-नुसार चलाता है ।

आराधनासार में कहा गया है—

“निम्नहिण् मणपसरे, अप्पा परमप्पा ह्वइ ।”

मन के विकल्पों को रोक देने पर आत्मा परमात्मा बन जाता है ।

जो सच्चे साधक ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं वे ही संवर मार्ग पर चलते हुए अपने आत्म-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करते हैं तथा सदा के लिये अजर एवं अमर बन जाते हैं ।



धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनों !

काफी समय से हम संवर तत्व को लेकर चल रहे हैं और उसमें आने वाले परिषद्‌ओं में से 'जल्ल परिषद्' का विवेचन कर चुके हैं। आज संवर के सत्ताईसवें भेद को लेना है जिसका नाम है 'सत्कार-पुरस्कार परिषद्'।

साधारणतया हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के द्वारा सत्कार और सम्मान पाने की अभिलाषा रखता है। भले ही वह सम्मान और आदर पाने की योग्यता न रखता हो, फिर भी अपमान और अनादर प्राप्त करना वह पसन्द नहीं करता तथा सम्मानित किये जाने की आकांक्षा रखता है।

किन्तु ऐसी आकांक्षा या चाह साधना के मार्ग पर चलने वाले साधक के मार्ग का रोड़ा बन जाती है। क्योंकि यह चाह मन में विकारों को आमन्त्रित करती है तथा कषायों को जन्म देती है। स्वाभाविक ही है कि जो सम्मान चाहता होगा, वह अपमान किये जाने पर क्रोधित होगा और सम्मान पाने पर अहंकार से भर जायेगा। इसलिए साधक को सत्कार एवं सम्मान की चाह को परिषद् समझकर त्याग देना चाहिए।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की अड़तीसवीं गाथा में भगवान महावीर ने कहा है—

अभिवायणमभुट्ठणं, सामी कुज्जा निमंतणं ।

जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसिं पीहए मुणी ॥

इस गाथा में जिन तीन बातों की चाह का भगवान ने मुनियों के लिए निषेध किया है उनमें से प्रथम है—अभिवायण। अभिवायण प्राकृत भाषा का शब्द है जिसे संस्कृत में अभिवादन कहा जाता है। इसे हम नमस्कार भी कहते हैं।

तो शास्त्र में मुनि के लिए नमस्कार किये जाने की इच्छा करने का निषेध किया गया है। आशय यही है कि मुनि न तो स्वतः किसी के द्वारा नमस्कार किये जाने की इच्छा रखे और न ही किसी और को नमस्कार किया जाता देखकर भी ऐसा विचार करे कि लोग मुझे नमस्कार करें। क्योंकि इस विचार या आकांक्षा में



अभिमान निहित होता है और अभिमान के रहते हुए मुनि संवर की आराधना नहीं कर सकता अथवा साधना पथ पर सुगमता से अग्रसर नहीं हो सकता। इस विषय पर एक छोटा सा दृष्टान्त है—

**कैसे नमस्कार किया ?**

एक गुरु और उनका शिष्य, दोनों मार्ग पर चल रहे थे कि सामने से आते हुए किसी श्रद्धालु भक्त ने उन्हें देखकर नमस्कार किया।

भक्त के नमस्कार करने पर गुरु समझे कि इस व्यक्ति ने मुझे नमस्कार किया है और शिष्य ने समझा मुझे। गुरुजी से रहा नहीं गया अतः अपने शिष्य से बोले—

“यह व्यक्ति बड़ा ही श्रद्धालु दिखाई देता है क्योंकि रास्ते में भी मुझे नमस्कार करता हुआ गया है।”

गुरु की बात सुनकर शिष्य का भी अहंभाव स्थिर नहीं रह सका। वह भी बोल पड़ा—

“मुझे तो लगता है कि यह व्यक्ति विद्वान है और मेरी विद्वत्ता का अनुमान करके मुझे ही नमस्कार कर गया है।”

वस्तुतः गुरुजी बड़े थे पर विद्वत्ता की दृष्टि से शिष्य अधिक पढ़-लिखकर अपने आपको गुरु से अधिक ज्ञानी समझता था। और इसीलिए एक में बड़प्पन का तथा दूसरे में विद्वत्ता का अहंकार था। परिणाम यह हुआ कि अभिमान रूपी दोनों हाथी आपस में भिड़ गये और दोनों अपने आपको शक्तिशाली साबित करने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु जब इसका कोई सही फल नहीं निकला तो अन्त में यही निश्चय किया गया कि नमस्कार करने वाले व्यक्ति से ही पूछा जाय कि उसने कैसे नमस्कार किया है।

तय होते ही गुरुजी और चेलाजी, दोनों ही अपने गन्तव्य की दिशा को छोड़ कर उलटे पैरों लौट पड़े। नमस्कार करने वाला व्यक्ति अधिक दूर तो पहुँचा नहीं था अतः शीघ्र ही उन्होंने उसे जा पकड़ा और पूछा—

“भाई ! तुमने हम दोनों में से किसे प्रणाम किया था ?”

श्रद्धालु राहगीर इस प्रश्न को सुनकर अवाक् रह गया और कुछ क्षण मौन रहकर उनके प्रश्न की तह को टटोलने लगा। पर वह विवेकी और बुद्धिमान था, अतः शीघ्र ही समझ गया कि गुरु और शिष्य दोनों ही अभिमान के हाथियों पर विराज रहे हैं। उन्हें सबक देने के लिए वह गम्भीरता पूर्वक बोला—

“मैंने उसे नमस्कार किया है जो साधनापथ पर चलने वाला सच्चा साधु है।”

यह सुनकर पुनः दोनों ने अलग-अलग प्रश्न किया—“क्या मैं साधु नहीं हूँ ?”

भक्त मुस्कुराकर बोला—“इस बात पर आप स्वयं विचार कीजिये कि अगर आप दोनों ही सच्चे साधु होते तो क्या यह पूछने के लिए लौटकर यहाँ तक आते कि मैंने किसे नमस्कार किया था ?”

यह सुनते ही दोनों संतों की आँखें खुल गईं और उन्हें समझ में आ गया कि नमस्कार किये जाने की इच्छा रखना साधु के लिए अनुचित है। दोनों ने अपनी भूल पर हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए पुनः मार्ग पकड़ा।

शास्त्रकार भी यही कहते हैं कि साधु को कभी यह इच्छा नहीं करनी चाहिए कि लोग मुझे नमस्कार करें। साथ ही अगर कोई राजा-महाराजा या सेठ-साहूकार उन्हें नमस्कार करे तो इस बात का गर्व नहीं करना चाहिए कि मुझे इतने धनाढ्य या बड़े-बड़े व्यक्ति नमस्कार करते हैं।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि कुछ व्यक्ति ऐसी शंका भी कर सकते हैं कि सम्मान-सत्कार तो मन को सुख-पहुँचाने वाली बातें हैं, फिर इन्हें परिषहों में क्यों माना जाता है ? परिषह तो कष्ट पहुँचाते हैं।

इसका उत्तर यही है कि अन्य परिषह जहाँ शरीर और मन को प्रत्यक्ष में कष्ट पहुँचाते हैं, ये परिषह यद्यपि प्रत्यक्ष में तो मन को सुखी करते हुए दिखाई देता है किन्तु वह सुख वास्तविक नहीं होता और सम्मान-सत्कार की प्राप्ति मन में अहंकार का उदय करके आत्मा को कालान्तर में कष्ट पहुँचाती है। इसीलिए इस परिषह को अनुकूल परिषह भी कहा गया है। बाईस परिषहों में से बीस परिषह तो प्रतिकूल माने जाते हैं और दो परिषह अनुकूल। सत्कार-परिषह भी अनुकूल परिषह है।

अब हम पूर्व में कही गई गाथा के दूसरे शब्द पर आते हैं, जिसकी चाह का भी मुनि के लिए निषेध किया गया है। बन्धुओ ! मुनि के लिए निषेध किया गया है इससे आप यह अर्थ न लगाएँ कि यह निषेध केवल मुनि या साधु के लिए ही है, श्रावकों के लिए नहीं। आप जानते हैं कि जिस प्रकार साधु अपनी आत्मा को कर्मों से सर्वथा मुक्त करना चाहते हैं, उसी प्रकार आप श्रावक भी तो मुक्ति की कामना करते हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है। इसलिए जिस प्रकार मुनि को समभावपूर्वक अनुकूल एवं प्रतिकूल परिषहों को सहन करके संवर का आराधन करना चाहिए, उसी प्रकार श्रावकों को भी यथाशक्य संवर मार्ग पर चलना चाहिए।

तो अब हमें शास्त्र की गाथा में दिये गये दूसरे शब्द को समझना है और वह है—अभ्युत्थानं। इसका अर्थ है—अभ्युत्थान, अर्थात् उठकर खड़ा होना। यह शिष्टा-

चार का एक अंग है कि कोई व्यक्ति हमारे यहाँ आए तो हम उसी वक्त उठकर खड़े होकर उसका सत्कार करें। आप गद्दी पर बैठे होते हैं और अगर कोई विशिष्ट व्यक्ति आपके सम्मुख आता है तो आप उसी क्षण उठकर उसका सत्कार करते हैं। यही साधु-संत के लिए होता है कि उनके सामने आते ही श्रावक उठकर खड़े हो जाते हैं और वन्दनादि के द्वारा उन्हें सम्मान देते हैं। किन्तु साधु के कहीं पहुँचने पर अगर कोई व्यक्ति ऐसा न करे तो भी उन्हें इस बात पर रंचमात्र भी ध्यान नहीं देना चाहिए और न ही इसकी आकांक्षा रखते हुए क्रोध करना चाहिए। साधु के मन में पल मात्र के लिए भी यह विचार कभी नहीं आना चाहिए कि अमुक व्यक्ति का या अमुक साधु का इस व्यक्ति ने खड़े होकर स्वागत किया और मेरे आने पर ऐसा नहीं किया। इस विचार को लेकर कभी यह भी नहीं सोचना चाहिए कि अब कभी मुझे इसके यहाँ नहीं जाना है। सामने वाला व्यक्ति उठकर खड़ा हो या न हो, नमस्कार करे या न करे, साधु के हृदय में इस बात के कारण किसी भी प्रकार की खेद-खिन्नता का भाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए। ऐसा होने पर ही अपने समभाव के कारण वह संवर में प्रवेश कर सकता है।

अब आता है तीसरा शब्द—‘निमन्त्रणं।’ इसका अर्थ है निमन्त्रण। साधारणतया आप लोग किसी के द्वारा निमन्त्रण देने पर ही भोजन करने अथवा चाय-नाश्ता लेने जाते हैं किन्तु साधु अतिथि होते हैं अतः वे निमन्त्रण की अपेक्षा नहीं रखते। चाहे कोई निमन्त्रण दे अथवा नहीं, वे जितनी जरूरत होती है, उतने के लिए बिना किसी के निमन्त्रित किये किसी के यहाँ भी जाकर भिक्षा आदि लाते हैं। वे यह विचार नहीं करते कि अमुक ने मुझे निमन्त्रण नहीं दिया या बुलाया नहीं तो उसके घर नहीं जाएँगे। निमन्त्रण देने पर ही जाना अन्यथा नहीं, ऐसा विचार करना घमण्ड का चोतक है और घमण्ड करना कर्म-बन्धन का कारण। इसलिए साधु को ऐसी भावना से सर्वथा परे रहना चाहिए। ऐसा न करने पर अर्थात् निमन्त्रित किये जाने और बुलाये जाने की अपेक्षा रखने पर कभी-कभी बड़े भयानक परिणाम सामने आते हैं और अगले जन्मों में भी उसका फल भोगना पड़ता है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करता हूँ।

### विचित्र दोहव

महाराज श्रेणिक के समय में एक तपस्वी संत थे। वे महीने-महीने की तपस्या किया करते थे। वे एक महीने का उपवास तप करके पारणा करते और पुनः मासखमण प्रारम्भ कर देते थे।

ऐसा करने के कारण शहर में उनकी बड़ी प्रशंसा होने लगी और राजा श्रेणिक के कानों तक भी यह बात पहुँची। सुनकर श्रेणिक के हृदय में उन्हें मासखमण का पारणा कराने की इच्छा हुई और उन्होंने संत के पास जाकर पारणे के दिन

अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया। तपस्वी ने भी निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया किन्तु जब पारणे का दिन आया तो राजा उन्हें बुलाना भूल गये। यह कोई बड़ी बात भी नहीं थी क्योंकि राजा के पीछे राज्य की अनेकों झड़टें और चिन्ताएँ लगी रहती हैं।

पर तपस्वी राजा के न बुलाने पर पारणे के दिन उसके यहाँ नहीं गए और बिना पारणा किये ही दूसरा मासखमण प्रारम्भ कर दिया। इधर कुछ दिन बाद जब राजा को यह ध्यान आया और मालूम हुआ कि तपस्वी ने पारणा किये बिना ही दूसरा मासखमण प्रारम्भ कर दिया है तो उन्हें अत्यन्त खेद हुआ और उसी वक्त जाकर उन्होंने तपस्वी से क्षमा याचना करके अगले पारणे के लिये निमन्त्रण दे दिया।

किन्तु संयोग की बात थी कि ठीक पारणे के दिन राजा श्रेणिक फिर उन्हें बुलाना भूल गये और तपस्वी ने तीसरा मासखमण प्रारम्भ कर दिया। पर ध्यान आते ही राजा को बड़ा भारी दुःख हुआ और वे तपस्वी के पास जाकर बोले—“महाराज ! मुझसे फिर महान् भूल हो गई। कृपा करके इस बार मेरे यहाँ अवश्य पधारियेगा।” तपस्वी ने उनके निमन्त्रण को फिर स्वीकार कर लिया।

किन्तु कहा जाता है कि—“होनहार कभी टल नहीं सकती।” दुर्भाग्यवश तीसरे मासखमण के पारणे के दिन भी श्रेणिक तपस्वी को बुलाना भूल ही गये। बहुत देर तक तो तपस्वी ने उनकी प्रतीक्षा की किन्तु वे नहीं आए तो उन्हें मयानक क्रोध ने आ घेरा।

अब क्या था। क्रोध तो जो न करे वही अच्छा है। आप जानते ही हैं कि क्रोध की आग क्रोध करने वाले को जलाती है और जिस पर किया जाय उसको भी जला डालती है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है—

कोहेण अप्पं उहति परं च,  
अत्थं च धम्मं च तहेव कामं ।  
तिव्वंपि वेरं य करेति कोहा,  
अधम्मं गतिं वाविउविति कोहा ॥

—ऋषिभाषित ३६-१३

क्रोध से आत्मा 'स्व' एवं 'पर' दोनों को जलाता है, अर्थ, धर्म और काम को जलाता है, तीब्र र भी करता है तथा नीच गति को प्राप्त करता है।

तो बंधुओ, यही क्रोध तपस्वी के मानस में प्रज्वलित हो उठा और उसने तपस्वी के विवेक को भस्म कर दिया। परिणाम यह हुआ कि मारे क्रोध के उसने निदान किया—“अगर मेरी तपस्या का फल मुझे प्राप्त हो तो यही कि मैं राजा श्रेणिक को मारूँ।”

इस प्रकार जिस तप के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट किया जा सकता है, उस तप को तपस्वी ने उलटे कर्म-बंधनों का कारण बनाया। वह मूल गया कि—

‘भव कोडी-संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ।’

अर्थात्—साधक करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर सकता है।

तपस्वी यह जानता था, किन्तु क्रोध ने उसे अंधा बना दिया और परिणाम यह हुआ कि वह मरकर राजा श्रेणिक की रानी चेलना के गर्भ में आया।

उसके गर्भ में आते ही रानी चेलना के हृदय में दोहद उत्पन्न हुआ कि—  
“मैं महाराज श्रेणिक के कलेजे का मांस खाऊँ।” चेलना सती-साध्वी नारी थी। अतः अपनी ऐसी इच्छा के जाग्रत होने पर बड़ी चकित और हैरान हुई। मला अपने ‘पति के कलेजे’ का मांस खाने की अभिलाषा वह कैसे व्यक्त कर सकती थी? उसे यह भी ज्ञात नहीं था कि उसके गर्भ में आने वाला जीव श्रेणिक के पूर्व जन्म का बैरी है।

वह उस गर्भस्थ प्राणी के कारण उत्पन्न होने वाली तीव्र इच्छा को दबाने लगी और इसका परिणाम यह हुआ कि निरन्तर हृदय के अपने भावों से संघर्ष करते रहने से उसका शरीर कमजोर, काँतिहीन और पीला पड़ने लगा।

अपनी प्रिय रानी चेलना की यह हालत देखकर राजा श्रेणिक को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने रानी से इसका कारण पूछा। रानी क्या बताती? कोई व्याधि तो उसके शरीर में थी नहीं। पर राजा के अत्यधिक आग्रह करने पर उसने अपने विचित्र दोहद के विषय में राजा को बताया।

राजा ने शांति से रानी की बात सुनी और उसके पश्चात् अपने बुद्धिमान मन्त्री अभयकुमार से इस बारे में बात की। अभयकुमार विचक्षण बुद्धि के धनी थे, वे समझ गये कि रानी के गर्भ में कोई श्रेणिक का शत्रु ही आया है और आते ही वह दोहद उत्पन्न करके अपना बैर निकालना चाहता है। उन्होंने राजा को सात्वना देते हुए कहा—“महाराज! आप चिन्ता मत कीजिये। मैं ऐसा उपाय करूँगा कि साँप भी मर जाएगा और लाठी भी नहीं टूटेगी।”

अपनी योजना के अनुसार अभयकुमार ने रानी के पार्श्व में स्थित भवन में किसी और प्राणी के मांस के टुकड़े किये, पर साथ ही राजा श्रेणिक को इस प्रकार कराहने एवं आर्तनाद करने के लिए कहा, जैसे कि उनके ही प्राण निकल रहे हों। कुछ समय पश्चात् ही मांस ले जाकर रानी को दिया गया और रानी ने उसे खाकर संतुष्टि का अनुभव किया। रानी का दोहद पूर्ण हुआ और राजा के प्राण भी अभयकुमार की बुद्धिमत्ता के कारण बच गये।

बंधुओ ! मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि तपस्वी ने राजा श्रेणिक के निमंत्रण और उसके पश्चात् बुलाये जाने की अपेक्षा रखी थी, उसके कारण ही उसकी स्वयं की घोर तपस्या तो निरर्थक गई ही साथ ही रानी चेलना और श्रेणिक को भी मुसीबत में पड़ना पड़ा ।

इसीलिये भगवान महावीर स्पष्ट आदेश देते हैं कि मुनि कभी भी किसी के द्वारा अभिवादन किये जाने की, किसी के द्वारा खड़े होकर अभ्यर्थना करने की और निमन्त्रित किये जाने की आकांक्षा न करे । ऐसा करने पर ही वह 'सत्कार परिषह' पर विजय प्राप्त कर सकेगा तथा संवर-मार्ग पर सरलता से बढ़ सकेगा । 'सत्कार परिषह' यद्यपि अनुकूल परिषह है और इसके कारण शरीर को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता, उलटे मन को सुख प्राप्त होता दिखाई देता है । किन्तु मन में राग-माद एवं अहंकार उत्पन्न करके यह आत्मा के बंधन का कारण बनता ही है और कालान्तर में उसे संसार-भ्रमण कराता हुआ कष्ट पहुँचाता है । अतः साधु के लिए और प्रत्येक अन्य मुमुक्षु के लिए भी सत्कार एवं सम्मान को परिषह समझकर उससे बचना आवश्यक है । ऐसा करने पर ही कर्मों के आवरणों को हटाया जा सकेगा तथा आत्मा निरन्तर हलकी हो सकेगी । ❀

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्व पर हमारा विवेचन चल रहा है। संवर के सत्तावन भेद हैं और उसमें सत्ताईसवाँ भेद 'सक्कार-पुरक्कार परिषह' बताया गया है। इस परिषह पर कल 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के दूसरे अध्याय की अड़तीसवीं गाथा को हमने लिया था और उस पर विचार-विमर्श किया था। आज हमें ३६वीं गाथा को लेना है, वह इस प्रकार है—

**अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए ।**

**रसेसु नाणुगिज्जेज्जा, नाणुतप्पेज्जे पन्तवं ॥**

यह गाथा साधु-साध्वियों के लिए बहुत ही विचारणीय है, क्योंकि इसमें उन्हें किस प्रकार रहना चाहिये यह बताया गया है। इसलिए हम इसमें दिये गये शब्दों को क्रमानुसार लेंगे।

(१) अल्प कषाय

गाथा में दिया गया पहला शब्द है—'अणुक्कसाई', अणुक्कसाई का अर्थ है अनुकषाई यानि कम कषाय होना। आप कहेंगे कि कषाय तो रहे ही क्यों? इसका तो सर्वथा नाश होना चाहिए तथा यही उपदेश भी दिया जाना चाहिये। आपका यह विचार ठीक भी है किन्तु मञ्जिल पर कोई एकदम नहीं पहुँच सकता, उसे पाने के लिए मार्ग तो तय करना ही होगा। मकान के ऊपरी खण्ड पर पहुँचने के लिए व्यक्ति जिस प्रकार सीढ़ियों पर चढ़ता है और क्रमशः सीढ़ियाँ पार करता हुआ उस पर पहुँचता है, उसी प्रकार संवर, मार्ग अथवा वे सीढ़ियाँ हैं, जिन पर क्रमशः चढ़ता हुआ व्यक्ति मुक्ति रूपी सर्वोच्च मञ्जिल पर जा पहुँचता है।

इस प्रकार कषायों का सर्वथा नाश होने पर तो केवलज्ञान हो जाता है, पर उसकी प्राप्ति से पहले तो कषायों को कम करते जाना साधक के लिए आवश्यक है। इन्हें कम से कम करते जाने पर ही केवलज्ञान रूपी स्थिति तक पहुँचा जा सकेगा।

पूज्य श्री त्रिलोकऋषि जी म० ने कषायों को लेकर एक बड़ा सुन्दर एवं प्रेरणात्मक पद्य लिखा है। वह इस प्रकार है—

प्रेमशी जुझारशी वश किया जीवराज,  
 मानसिंह मायादास मित्या चारों भाई है ।  
 करमचन्द जी काठा भया, रूपचन्द जी सँ प्यार,  
 धनराज जी की बात चाहत सवाई है ॥  
 शानचन्दजी की बात, मुने न चेतनराज,  
 आवे नहीं दयाचन्द सदा सुखदायी है।  
 कहत त्रिलोकरिख, मनाय लीजे प्रेमचन्द,  
 नहीं तो कालूराम आया विपत्ति सवाई है ॥

कच्छ देश में किसी के भी नाम के आगे 'शी' लगाने की प्रथा है। कवि ने भी यहाँ कषायों के आगे 'शी' लगाकर पद्य को आध्यात्मिक होते हुए भी रोचक बना दिया है। यहाँ पर प्रेमशी से आशय है लोभ और जुझारशी से क्रोध। कवि का कहना है कि क्रोध, मान, माया एवं लोभ इन चारों भाइयों ने मिलकर जीवराज अर्थात् आत्मा को घेरकर अपने वश में कर लिया है। परिणाम यह हुआ कि करमचन्द जी की पाँचों अंगुली घी में हो गई हैं। यानी आत्मा को कर्मों ने खूब अच्छी तरह से जकड़ लिया है।

आत्मा को बन्धन में डालने वाले कषाय ही हैं। इनकी तारीफ तो यह है कि इन चारों में से कोई एक भी अगर मन में किसी तरह प्रवेश कर लेता है तो अन्य तीनों को भी झट अपने पास बुला लेता है।

साधारणतया हम देखते हैं कि सांसारिक प्राणियों में से कोई एक जहाँ अपना अड्डा जमा लेता है, वहाँ दूसरे को फटकने देना भी नहीं चाहता। पेड़ों पर पक्षी घोंसले बनाते हैं पर अगर दूसरा पक्षी उनके घोंसले में आकर बैठ जाय तो उसी क्षण घोंसले में रहने वाला पक्षी चोंच मार-मारकर उसे भगा देता है। आप लोग भी रेलों और मोटरों में सफर करते हैं तथा सभी लोग टिकटों के उतने ही पैसे देते हैं। पर जो व्यक्ति उनमें पहले ही जाकर बैठ जाते हैं वे बाद में आने वालों को फूटी आँखों देखना भी पसन्द नहीं करते तथा खिड़कियों में बैठे रहकर ही बाहर वालों से कह देते हैं—'यहाँ जगह नहीं है, आगे देखो।'

किन्तु कषाय एक-दूसरे से कभी यह नहीं कहते, उलटे स्वयं अड्डा जमा कर जल्दी से जल्दी अपने अन्य साथियों को भी निमन्त्रण देकर बुला लेते हैं। परिणाम यही होता है कि इन चारों से जूझने में आत्मा असमर्थ हो जाती है और कर्मों का बन्धन वेश से होने लगता है। अपनी अज्ञानता के कारण यानी अपनी शक्ति को न



पहचान पाने के कारण वह कषायों के चक्रव्यूह में फँस जाती है और उनके द्वारा तैयार किये हुए कर्मरूपी शस्त्रास्त्रों से आघात पाती हुई जन्म-जन्मान्तर तक कष्ट पाती रहती है ।

बन्धुओ ! आत्मा को कर्म घेरे हुए हैं यह कोई नई बात नहीं है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि आत्मा अपनी शक्ति को अब पहचान ले तथा संवर के मार्ग को अपनाकर कषायों को कम करते हुए उनकी शक्ति को क्षीण करती चली जाय । बँधे हुए कर्मों के फल से तो नहीं बचा जा सकता, किन्तु संवर को अपनाकर नवीन कर्मों के बंधन से बचा जा सकता है । दूसरे शब्दों में, जो ललाट में लिखा जा चुका है उसे भेटने में तो कोई भी समर्थ नहीं होता पर नया लिखा जाने से बचा जा सकता है ।

संस्कृत के एक श्लोक में भी चन्द्रमा का उदाहरण देते हुए कहा है—

स हि गगनविहारी, कल्मषध्वंसकारी,  
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी ।  
विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ,  
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ॥

श्लोक में चन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह गगनविहारी अर्थात् आकाश में अधर विचरण करने वाला है, अन्धकार को नष्ट करता है, दस सौ यानी हजार किरण-रूपी हाथों का अधिकारी है तथा ज्योतिष शास्त्र में अपना बड़ा भारी महत्व रखता है । ज्योतिषी लोग कुण्डली देखते समय सर्वप्रथम चन्द्रबल देखा करते हैं ।

किन्तु इतना महत्व रखने वाला चन्द्र भी राहू के द्वारा ग्रसित होता है । राहू दो प्रकार के हैं । एक नित्यराहू, जो चन्द्रमा की एक-एक कला रोज खाता है और दूसरा पर्वराहू, जो पूर्णचन्द्र को खाता है । इसीलिए कहा गया है कि ललाट पर लिखे गये को भेटने में कौन समर्थ है ?

तो हजार हाथ रखने वाला तथा सदा गगन में विचरण करने वाला चन्द्र भी जब राहू के द्वारा ग्रस लिया जाता है तो फिर जीवात्मा कर्म-फल भोगने से कैसे बच सकता है ? यानी नहीं बच सकता, उसे उनका फल भोगना ही पड़ता है । पर खेद की बात यही है कि वह कर्मों के विषय में सब कुछ जानते-समझते हुए भी कषायों से परे रहने का प्रयत्न नहीं करता तथा लोभ-लालच से नहीं बचता । धन को महान् अनिष्ट-कारी तथा कर्म-बन्धन का मूल कारण जानकर भी प्राणी उसी पर आसक्ति रखता है तथा उसे एकत्रित करने में अनेकानेक प्रगाढ़ कर्म बाँध लेता है ।

कवि का कथन है कि 'चेतनराज लोभ में पड़कर ज्ञानचन्द की सीख भी नहीं मानता और न कभी दयाचन्द और नेमचन्द को अपने यहाँ आमंत्रित करता है ।'

चेतन, ज्ञान, दया और नेम आदि का नामकरण करते हुए कवि ने अपनी भाषा को मनोरंजक बनाया है पर उनका भाव यही है कि—‘जीवात्मा कषायों के फेर में पड़ कर अपने विवेक को खो बैठता है तथा जानी पुरुषों के उपदेशों को भी इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देता है। परिणाम यही होता है कि विवेक और ज्ञान के अभाव में वह कष्टना, दया एवं सद्भावना आदि के उत्तम गुणों को नहीं अपना पाता। पर ऐसा होना नहीं चाहिए। व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने मन को त्रुटों और नियमों के अंकुश में रखकर कषायों के आक्रमण से बचाए तथा कर्म-बंधन न होने दे। अन्यथा एक-एक क्षण करके जीवन सम्पूर्ण हो जायगा और ‘कालूराम’ यानी काल के आते ही विपत्ति में पड़ना पड़ेगा।

उस समय फिर कुछ भी नहीं हो सकेगा और केवल पश्चात्ताप ही हाथ आयगा। मृत्यु एक क्षण का भी मानव को अवकाश नहीं देती। कहा भी है—

**नाशासमो मच्चुमुहुस्स अत्थि ।**

मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी को मृत्यु न आए, ऐसा कमी नहीं हो सकता।

तो बंधुओ ! इसीलिए भगवान ने फरमाया है कि मुमुक्षु प्राणी को चाहे वह ग्रहस्थ हो या साधु, सदा अनुकषाई यानी अल्प कषाय वाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी वह संवर-मार्ग पर यथाविधि गमन कर सकेगा।

(२) अल्प इच्छाएँ

गाथा में दूसरा शब्द आया है—‘अप्पिच्छे ।’ इसका अर्थ है—अल्पइच्छाएँ रखने वाला। जब तक साधक वीतराग अवस्था तक नहीं पहुँचता है, तब तक उसकी इच्छाएँ समाप्त नहीं हो सकतीं। किन्तु प्रयत्न करते रहने से वह अपनी इच्छाएँ कम से कम करता जा सकता है। जो व्यक्ति ज्यादा इच्छाएँ रखता है, वह लोभ और लालच में फँसकर अधिक परिग्रह इकट्ठा कर लेता है तथा अधिकाधिक पाप-कर्मों में प्रवृत्त होता है। किन्तु जो भव्य प्राणी इच्छाओं को कम करता चला जाता है, उसकी सांसारिक पदार्थों पर से आसक्ति कम होती जाती है और वह स्वतः ही पाप-क्रियाओं से बचने लगता है।

हमारे धर्म-शास्त्रों ने इच्छाओं पर रोक लगाने के लिए ही गृहस्थों के लिए पाँचवाँ परिग्रह-परिमाण व्रत बताया है। इसे ग्रहण करने पर व्यक्ति कम से कम अपने परिग्रह की एक सीमा तो बाँध सकता है ताकि वहाँ तक पहुँचने पर संतोष धारण किया जा सके। अन्यथा तो इच्छाएँ कमी भी पूर्ण नहीं होतीं तथा कमी उनका अन्त भी नहीं आता। कहा भी है—

**“इच्छा हु आगाससमा अणलिया ।”**

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त या असीम हैं।

इच्छाओं की वृद्धि के कारण ही मानव परिग्रह बढ़ाता है तथा उसके लिए अनेकानेक पाप करता है। इतना ही नहीं, ये इच्छाएँ अन्य सभी कषायों को निमन्त्रण देकर उसकी आत्मा को नाना कर्मों में जकड़ देती हैं। परिग्रह के विषय में 'श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र' में तो यहाँ तक कहा गया है—

लोभ-कलि-कषाय-महबलंधो,

चिन्ता सयनिचयविपुलसालो ।

नत्यि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि,

सब्व जीवाणं सब्वलोए ॥

अर्थात्—परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध यानी तने हैं—लोभ, क्लेश और कषाय। तथा चिन्ता रूपी सैकड़ों सघन एवं विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ हैं।

आगे कहा है—इस सम्पूर्ण लोक में परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा और कोई जाल एवं बन्धन नहीं है।

अभिप्राय यही है कि अधिक इच्छाएँ अधिक परिग्रह बढ़ाने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती हैं और इसीलिए इन्हें कम करने के लिए 'परिग्रह-परिमाण व्रत' का विधान किया गया है। गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए संसारी व्यक्तियों को अपने परिग्रह की सीमा तो निर्धारित कर ही लेनी चाहिए और जब गृहस्थ के लिए भी इच्छाओं को कम करने की आवश्यकता है तो फिर जिन संत-मुनियों ने अपना धर-बार एवं सम्पूर्ण धन-वैभव त्याग दिया है तो फिर उन्हें इच्छाएँ और कषायादि रखना कहाँ उचित है? उन्हें तो इच्छाओं का समूल नाश कर देना चाहिये और छद्मस्थ होने के नाते इतना न हो सके तो उन्हें अल्प से अल्प करके साधना-पथ पर बढ़ना चाहिए। अन्यथा आत्मा का उद्धार कदापि सम्भव नहीं है।

वैदिक साहित्य में उल्लेख है कि आद्य शंकराचार्य एक साधारण कुल में उत्पन्न हुए थे, घोर दरिद्रता के बीच में ही किसी तरह उन्होंने अपनी बुद्धि एवं परिश्रम से ज्ञानार्जन किया एवं साधना करना प्रारम्भ कर दिया। चूँकि वे दरिद्रता में पले थे अतः उन्होंने अपनी साधना का लक्ष्य धन को बनाया अर्थात् धन के लिए साधना की। किन्तु इसमें वे सफल नहीं हो पाए और लक्ष्मी ने उन पर कृपा नहीं की। यह देखकर उन्हें उससे घोर विरक्ति हो गई और उन्होंने धन-प्राप्ति की इच्छा का सर्वथा त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लिया। पर संन्यासी बनने पर जब उन्होंने आत्म-कल्याण के लिए साधना करना प्रारम्भ किया तो लक्ष्मी भी उनके समक्ष हाजिर हो गई। पर वे लक्ष्मी से विरक्त हो गए थे अतः उन्होंने कह दिया कि अब उन्हें उसकी जरूरत नहीं है।

कहने का आशय यही है कि मनुष्य लक्ष्मी के पीछे जितना अधिक दौड़ता है, वह उतनी ही आगे चली जाती है और उससे मुँह मोड़ लेने पर वह हाथ जोड़कर

सामने आती है। भले ही ऐसा एक ही जन्म में न भी हो पर अगले जन्मों में भी वह प्राप्त होती है। ऐसे उदाहरण हमें शास्त्रों में मिलते हैं।

इसीलिए मानव को कम से कम इच्छाएँ रखनी चाहिए और साधु को तो उनका सर्वथा परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा करने पर ही उसकी साधना निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ सकती है। कोई कह सकता है कि संत के लिए इच्छाओं की कमी और वृद्धि क्या? वे तो वैसे ही कम परिग्रह रखते हैं। पर यह बात नहीं है। वे जो कुछ रखते हैं उनमें भी कमी हो सकती है। वस्त्र एवं पात्र आदि जितने कम रहेंगे, बोझ उतना ही कम हो जाएगा। दस पात्र के स्थान पर आठ रखे जायें तो परिग्रह में और इच्छा में कमी आई या नहीं? इसी प्रकार वस्त्र के लिए भी किया जा सकता है। दो वस्त्र भी कम कर दिये तो समझो इच्छा अल्प हुई। इसके अलावा इच्छा या आसक्ति भावना में होती है। एक चक्रवर्ती अगर अपने साम्राज्य एवं अपार वैभव में भी आसक्ति नहीं रखता तो वह अपरिग्रही माना जा सकता है और एक भिखारी अगर अपनी गुदड़ी में भी घोर आसक्ति रखता है तो वह परिग्रही कहा जाता है, क्योंकि उसकी उस गुदड़ी में अपार ममता होती है। इसलिए साधु के लिए तो भगवान का आदेश है कि वह अपनी इच्छाएँ अल्पतर करता चला जाय। दशबैकालिक सूत्र के तीसरे अध्याय में उसके लिए कहा भी है—'लघुभूय-विहारिणं।'

वस्तुतः हलके होकर विहार करने से चलने में तकलीफ नहीं होती और कम से कम सामग्री होने से मन को भी सन्तोष रहता है। साधु जितना लघुभूत रहेगा उतना ही अल्प-इच्छा वाला होकर संयम के मार्ग पर बढ़ सकेगा। मर्यादा में रहना आत्मा के लिए महान कल्याणकारी होता है तथा संवर के मार्ग पर सुगमता से गति हो सकती है।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति परिग्रह और उसके प्रति रहने वाली आसक्ति से होने वाले अनर्थ को समझकर अपनी तृष्णा एवं इच्छाओं को कम कर लेता है। मनीषी पुरुष कहते भी हैं कि व्यक्ति को तीन बातों में संतोष करना चाहिए और अन्य तीन बातों से कमी सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

आपको जानने की उत्सुकता होगी कि वे कौनसी तीन बातें सन्तोष रखने की हैं और कौनसी नहीं? मैं वे ही बताने जा रहा हूँ। प्रथम ये तीन बातें हैं जिनसे सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये—(१) पर-धन, (२) पर-स्त्री एवं (३) पर-निन्दा।

बंधुओ! धन के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। आप जानते ही होंगे कि मनुष्य का अपना धन भी तृष्णा, आसक्ति एवं कषायों को बढ़ाने का कारण होने से आत्मा के लिए कर्म-बंधन का कारण बनता है। तो फिर पराया धन हड़पना या उसे प्राप्त करने की निकृष्ट इच्छा रखना उसके लिए कितना हानि-

कारक नहीं होगा ? अपने धन के प्रति गृह्यता रखने पर तो फिर भी उसका फल तुरन्त न मिलकर अगले जन्मों में मिले किन्तु पराये धन को प्राप्त करने का प्रयत्न तो अधिकतर इसी जन्म में अपना प्रभाव दिखाई देता है । एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है ।

### पाप सिर पर चढ़कर बोलता है

एक व्यक्ति बड़ा गरीब था अतः उसने एक बार बहुत आवश्यकता होने के कारण किसी साहूकार से पाँच सौ रुपये उधार लिए और शर्तनामा लिखकर दे दिया । पाँच सौ रुपयों से उसने कुछ धंधा किया और सौभाग्य से उसे दिन प्रतिदिन काफी आमदनी हुई । दो साल में तो उस पूंजी से ही उसकी एक छोटी-सी दुकान चालू हो गई ।

पर ज्योंही उसके पास कुछ पैसा आ गया, उसकी नीयत बदल गई, और उसने व्यापारी के पाँच सौ रुपये हड़प जाने का इरादा किया । इधर दो वर्ष तक जब वह व्यक्ति साहूकार के रुपये या ब्याज देने नहीं आया तो साहूकार उसके घर पर रुपये माँगने गया ।

व्यक्ति का ईमान तो विचलित हो चुका था अतः उसने कहा—“मेरा रुक्का दिखाओ !”

साहूकार ने तुरन्त ही उसका रुक्का निकालकर व्यक्ति को देखने के लिए दे दिया । व्यक्ति ने वह रुक्का हाथ में आते ही तनिक उलटा-पलटा और शीघ्रतापूर्वक फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया ।

साहूकार को इस पर बड़ा क्रोध आया । उसने नगर के राजा के पास जाकर इस बात की फरियाद की । राजा ने दोनों व्यक्तियों को बुलाया और रुपयों के बारे में पूछताछ की पर रुपये लेने वाला व्यक्ति साफ बदल गया और उसने कह दिया—“मैंने स्वप्न में भी कभी इस साहूकार से रुपये उधार नहीं लिए । अगर लिए होते तो इसके पास मेरा शर्तनामा होता ।”

राजा की समझ में नहीं आया कि वह इस मामले में क्या करे । अतः उसने अपने बुद्धिमान मंत्री को यह झगड़ा निपटाने का कार्य सौंप दिया । मंत्री ने उस दिन तो दोनों को घर भेज दिया किन्तु अगले दिन पुनः दरबार में उपस्थित होने का आदेश दिया ।

इस बीच मंत्री ने रुपये देने वाले साहूकार को चुपचाप बुलवाया और उससे पूछा—“उस व्यक्ति का लिखा हुआ शर्तनामा कितना लम्बा-चौड़ा था ?” साहूकार ने सच बात बता दी । तब मंत्री ने सोच-विचारकर उससे कहा—“कल तुम दरबार में आकर कह देना कि इस व्यक्ति का लिखा हुआ शर्तनामा एक हाथ लम्बा था ।”

अगले दिन साहूकार और वह रुपये लेने वाला व्यक्ति, दोनों ही दरबार में उपस्थित हो गये। मंत्री ने साहूकार से पूछा—“तुम्हारा शर्तनामा कितना लम्बा था?”

साहूकार ने कहा—“मंत्री जी ! शर्तनामा एक हाथ लम्बा था।”

यह सुनते ही रुपये लेने वाला व्यक्ति क्रोध के मारे भान भूल गया और चिल्लाकर बोला—“सरकार ! यह साहूकार झूठा और मक्कार है। पाँच सौ रुपये का शर्तनामा हाथ भर का क्या होता, वह तो केवल बालिशत भर का ही था।”

इस प्रकार स्वयं रुपये लेने वाले के मुँह से ही सच्ची बात प्रकट हो गई और उसे बेईमानी करने के अपराध में जेल भेज दिया गया।

तो बंधुओ मले ही पैसा थोड़ा था, किन्तु दूसरे का धन हड़प जाने की भावना होने के कारण उस व्यक्ति को तुरन्त ही कुफल प्राप्त हो गया।

इसलिए व्यक्ति को कमी दूसरे का धन प्राप्त करने की वाञ्छा नहीं करनी चाहिए तथा इसी प्रकार पराई स्त्री की ओर भी कुदृष्टि नहीं डालनी चाहिए। परस्त्री का अमिलाषी रावण किस प्रकार अपने कुल सहित नष्ट हुआ, यह तो जगत-प्रसिद्ध बात है ही। पूज्य श्री अमीरुद्दिन जी म० ने भी कहा है—

परत्रिय संग किये हारे कुल, कान दाम,  
नाम धाम धरम आचार वे विस्तार के।  
लोक में कुजस नहीं करे परतीत कोउ,  
प्रजापाल बंडे औ विटंबे मान परि के ॥  
पातक है भारी दुःखकारी भवहारी नर,  
कुगति सिधाबै वश होय परनारि के।  
यातैं अमोरिख धारे, शियल विशुद्ध चित्त,  
तजो कुव्यसन हित-सोख उर धरि के ॥

महामना संत श्री का कथन है कि जो नीच पुरुष अपने धर्म, आचार एवं विवेक का त्याग करके परस्त्री-गमन करते हैं वे अपने कुल का गौरव, लज्जा एवं धन आदि सभी से रिक्त हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति संसार में अपयश का और अप्रतीति का पात्र बनते हुए न्यायालय से भी दण्डित होते हैं। इतना ही नहीं, इस जन्म में परस्त्री-गमन के पाप की सजा भोग लेने पर भी मरने के पश्चात् कुगति को प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को शुद्ध हृदय से शीलव्रत का पालन करते हुए स्व-स्त्री से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

तीसरी बात है पर-निन्दा। पराई निन्दा करने से किसी का कोई लाभ नहीं होता, उलटे उसके मूल में ईर्ष्या एवं द्वेषादि कषायों के जाग्रत रहने से अनेकानेक कर्मों का बंधन होता रहता है। इसलिए अपने धन, जन एवं ज्ञानादि में सन्तोष रखते हुए मनुष्य को औरों की निन्दा से बचना चाहिए।

अब हमारे सामने वे तीन बातें भी आती हैं, जिनसे व्यक्ति को कभी सन्तोष नहीं करना है। ये बातें हैं—दान, ज्ञानार्जन एवं कर्म। जो भव्य प्राणी इन बातों के महत्त्व को समझ लेता है वह संवर-मार्ग पर बड़ी सरलता से बढ़ चलता है।

दान वही व्यक्ति कर सकता है जो कि धन-दौलत में गृह्यता न रखता हो। वास्तव में धन-वैभव के द्वारा आत्मा का तनिक भी कल्याण नहीं होता। फिर भी मानव माया के लिए नाना कुकर्म करके आत्मा को पाप-कर्मों से जकड़ लेता है। वह धन आदि परिग्रह के लिए अठारह पापों का सेवन करने में भी नहीं हिचकिचाता पर ऐसा होना नहीं चाहिए और मानव को जितना भी हो सके मुक्त हाथ से अभाव-ग्रस्त प्राणियों को दान देते रहना चाहिए। उससे लेने वाले को तो लाभ होगा ही साथ ही स्वयं उसे पुण्य के रूप में अनेक गुना वापिस मिल जाएगा। इसीलिए कहते हैं कि दान देने से कभी सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए तथा अधिक से अधिक देने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए।

दूसरी बात है ज्ञानार्जन की। आज हम देखते हैं कि थोड़ा-सा पढ़-लिखकर ही व्यक्ति अपने आप को विद्वान या महापण्डित मानकर गर्व से भर जाता है। पर वह यह नहीं समझ पाता कि ज्ञान तो ऐसा अगाध सागर है जिसमें चाहे जीवनभर गोते लगाते रहो, सदा ही कुछ न कुछ हासिल होता रहेगा। फिर थोड़ी सी विद्या हासिल करके ही अपने आपको ज्ञानी मान लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? ज्ञान ऐसी वस्तु ही नहीं है जिसे कोई व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से प्राप्त कर ले। उसे तो व्यक्ति ज्यों-ज्यों हासिल करता है, त्यों-त्यों उसके विचारों में सरलता, निष्कलुषता एवं विशालता आती है। जिसके द्वारा भेद-भाव, संकीर्णता एवं क्षुद्रता का नाश होता है।

### ज्ञान का प्रभाव

कहा जाता है कि बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक देवेन्द्रनाथ ठाकुर पहले धार्मिक एवं साम्प्रदायिक दृष्टि से बड़े ही संकीर्ण विचारों के थे। अपने धर्म और सम्प्रदाय के समक्ष अन्य धर्मों को वे अत्यन्त हेय और तुच्छ समझते थे। किन्तु ज्यों-ज्यों उन्होंने ज्ञान हासिल किया त्यों-त्यों उनके हृदय से अन्य धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति रही हुई नफरत की भावना लुप्त होती गई।

इसके कारण जब एक बार ब्रह्म समाज के बड़े भारी विचारक एवं उपदेशक प्रतापचन्द्र मजूमदार उनके घर गये तो यह देखकर चकित रह गये कि देवेन्द्र ठाकुर के यहाँ सभी धर्मों के उच्च कोटि के ग्रन्थ रखे हुए थे। मजूमदार ने आश्चर्य के मारे पूछ भी लिया—“भाई ठाकुर ! तुम तो अपने धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म का नाम भी सुनना नहीं चाहते थे, फिर आज तुम्हारे यहाँ इन सब धर्मों का साहित्य मैं कैसे देख रहा हूँ ?”

देवेन्द्रनाथ ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—

‘बन्धु ! तुम्हारा कहना यथार्थ है पर बात यह है कि जो व्यक्ति जमीन पर चलता है उसे धरातल पर भूमि ऊबड़-खाबड़ दिखाई देती है, किन्तु जब वह कुछ ऊपर उठ जाता है तो यही पृथ्वी उसे समतल दिखाई देने लग जाती है। मेरा भी यही हाल हुआ है। जब तक मेरे विचारों में परिपक्वता नहीं थी, तब तक मेरा हृदय धार्मिक एवं साम्प्रदायिक भेदों से भरा रहता था, किन्तु ज्ञान की थोड़ी सी ऊँचाई पर पहुँचते ही अब मुझे सभी धर्म समान महत्वशाली दिखाई देने लगे हैं और मेरे मन में समता तथा सद्भाव के पतप जाने के कारण मेरी वृत्ति प्रत्येक धर्म-शास्त्र से गुण एवं विशेषताएँ ग्रहण करने की बन गई है।’

कहने का अभिप्राय यही है कि थोड़ा-सा ज्ञान हासिल करके सन्तुष्ट हो जाने वाला व्यक्ति तुच्छ, संकीर्ण एवं अहं के भावों से भरा रहता है जो कि आत्मा को लाभ पहुँचाने के बजाय उलटा हानिकर बनता है। किन्तु ज्ञान प्राप्ति से कभी सन्तुष्ट न होने वाला व्यक्ति शनैः-शनैः सम्पूर्ण भेद-भाव तथा संकीर्णता आदि से ऊपर उठकर जीव और जगत के गम्भीर रहस्यों को समझता हुआ अपनी आत्मा को सरल, निष्कपट और उन्नत बना चलता है।

‘व्यवहारभाष्य’ में कहा भी है—

‘सर्व जगुज्जोयकरं नाणं, नाणेण नज्जए चरणं ।’

ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है और ज्ञान से ही मनुष्य को कर्तव्य का बोध होता है।

इसलिए बन्धुओ ! मुमुक्षु प्राणियों को कभी भी यह विचार नहीं करना चाहिए कि हम ज्ञानी बन गये हैं और अब अधिक ज्ञानार्जन की आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो जीवन के प्रत्येक क्षण को कछ न कुछ हासिल करने में लगाना चाहिए। अपने ज्ञान से सन्तुष्ट न होकर जब वे अधिक से अधिक ज्ञान की गहराई में उतरेंगे, तभी उन्हें आत्म-ज्ञान का कुछ लाभ हासिल हो सकेगा।

अब हमारे समक्ष तीसरी बात आती है। वह यह है कि मनुष्य कभी पुरुषार्थ या कर्म से सन्तुष्ट होकर न बैठे। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र में कार्य करे, चाहे राजनीतिक क्षेत्र में और चाहे धार्मिक क्षेत्र में। आवश्यकता इसी बात की है कि वह निरन्तर कार्य करता चला जाय। उसे प्रत्येक समय और वय के प्रत्येक माग में कर्म करना आवश्यक है।

संस्कृत भाषा के एक पद्य में कहा गया है—

प्रथमे नाजिता विद्या, द्वितीये नाजितम् धनम् ।

तृतीये नाजितम् पुण्यम्, चतुर्थे किं करिष्यसि ?

श्लोक में बड़ी सुन्दर और यथार्थ सीख दी गई है कि अगर मनुष्य बाल्यावस्था में ज्ञानार्जन नहीं करता है, युवावस्था में धनोपार्जन नहीं करता है उसके पश्चात्



प्रौढ़ावस्था में पुण्य का संचय नहीं कर पाता है तो फिर वृद्धावस्था में क्या कर सकेगा ?

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है कि वैसे तो मनुष्य ये सब कार्य सभी अवस्थाओं में कर सकता है और करता भी चाहिए किन्तु बुद्धि और शक्ति आदि विशिष्ट गुणों को देखते हुए ही साधारणतया यह विभाजन किया गया है। हम देखते ही हैं कि बाल्यावस्था में बालक की बुद्धि तीव्र होती है, अतः वह ज्ञानार्जन कर सकता है किन्तु शारीरिक शक्ति अधिक न होने से और सांसारिक दृष्टि से व्यवहार-कुशलता एवं विचारों की परिपक्वता न होने से वह धनोपार्जन नहीं कर पाता। इसी प्रकार युवावस्था में धनोपार्जन तथा अन्य गार्हस्थ्यक जिम्मेदारियों के कारण बालक के समान पूर्ण निश्चित और निराकुल रहकर ज्ञानार्जन नहीं कर सकता। रही बात तीसरी अवस्था में दानादि के द्वारा पुण्य-संचय की। तो वह भी व्यक्ति तभी कर सकता है जबकि युवावस्था में वह धन का उपार्जन करे तथा अपने बाहुबल से उपाजित धन को शुभ-कार्यों में लगाए। अन्यथा दूसरों का मुँह ताकने से क्या बनेगा ? किसी और के द्वारा कमाये हुए धन से पुण्य-संचय करने की उसकी अमिलाषा कभी पूरी नहीं हो सकेगी और इसके लिए धन देगा भी कौन ? कहने का अमिप्राय यही है कि उसे स्वयं पुरुषार्थ करना चाहिए और उससे अर्जित धन को शुभ-कार्यों में लगाकर पुण्य संचित करना चाहिये।

चौथी अवस्था वृद्धावस्था होती है। इस अवस्था में आप जानते ही हैं कि व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है, इन्द्रियाँ पूरा काम नहीं करती और उसके परिणामस्वरूप न वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न धन कमा सकता है और न ही धर्म क्रियायें यथाविधि करने में समर्थ रह जाता है। इसलिए वृद्धावस्था आने से पहले ही उसे जितना भी हो सके ज्ञानार्जन, दान-पुण्य और धर्म-ध्यान करना चाहिए।

जो व्यक्ति व्रत, नियम, प्रत्याख्यान एवं अन्य धर्मक्रियाएँ करने के लिये कल, परसों, अगले महीने, अगले वर्ष और यहाँ तक कि वृद्धावस्था में करेंगे ऐसा कहकर बहाने बनाया करते हैं, वे अपना जीवन प्रमाद ही प्रमाद में निरर्थक गँवा देते हैं और अन्त में पश्चात्ताप के अलावा कुछ भी हासिल नहीं कर पाते।

इसलिए हमारे धर्म-शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं कि—

तूरह धम्मं काउं, मा हु पमायं खणं वि कुब्बिदथा ।

बह्विग्घो हु मुहुत्तो, मा अबरण्हं पडिच्छाहि ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४६७५

अर्थात् धर्माचरण के लिए शीघ्रता करो, एक क्षण भी प्रमाद मत करो। जीवन का एक-एक क्षण विघ्नों से भरा है, इसमें संध्या की भी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

इसलिए बन्धुओ, जबकि अनेकानेक पुण्यों के फलस्वरूप हमें यह दुर्लभ जीवन मिला है तो इसका लाभ उठाकर हमें अपनी पुण्य की पूंजी को बढ़ा लेना है, उल्टे इसे नष्ट नहीं कर देना है। और यह तमी संभव हो सकता है जबकि हम कषायों को कम करें, वृष्णा पर रोक लगायें और इच्छाओं को अल्प से अल्प करते हुए संवर की आराधना करें। इच्छाओं की वृद्धि से मनुष्य संसार में उलझता चला जाता है और आत्मा का रंचमात्र भी कल्याण नहीं कर सकता। इसलिए भगवान ने प्रत्येक मानव को और मुनियों को अपनी इच्छाएँ अल्पतर बनाने का आदेश दिया है।

अब हम पुनः पूर्व में कही हुई उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा पर आते हैं। गाथा में मुनि के लिए तीसरी बात यह कही गई है कि वह 'अज्ञाएसी' हो।

### (३) अज्ञातएषणा

अज्ञाएसी का अर्थ है अज्ञातएषणा करने वाला। साधु को आहार-पानी लेने के लिए अग्र जाना है तो इस प्रकार जाना चाहिए कि उनके पहुँचने का किसी गृहस्थ को पता न हो। अगर किसी को यह ज्ञात होगा कि हमारे यहाँ मुनिराज गोचरी के लिए पधारने वाले हैं, तो वहाँ दोष लगने की संभावना रहेगी। साधु को वास्तव में अतिथि होना चाहिए कि वे किस दिन और कब आयेंगे। यह किसी को मालूम न हो। इस प्रकार आहार-पानी लाने पर दोष लगाने की संभावना नहीं रहेगी तथा निर्दोष भिक्षा मिल सकेगी। साधु के लिए निर्दोष आहार-जल लेना आवश्यक है। 'श्री ठाणांग सूत्र' में कहा गया है कि निर्दोष आहार जल लेने से मुनिराज ज्ञान के भागी बनते हैं। इसलिए बिना सूचना के और बिना निमन्त्रण के अज्ञात रूप से पहुँचकर आहार की गवेषणा करना और संयोग मिलने पर ही निर्दोष आहार लेना, यह मुनि का कर्तव्य है।

### (४) अलोलुपता

गाथा में अगला शब्द 'अलोलुए' आया है। इसका अर्थ है—अलोलुपी होना। मुनि यदि खाद्य पदार्थों में लोलुपता रखेगा तो उसे आहार सम्बन्धी दोष लगे बिना नहीं रहेगा। मान लीजिये कोई मुनि किसी गृहस्थ के घर आहार लेने के लिये पहुँच जाए और वह लोलुपी हो तो बाहर से ही पूछ सकता है 'कि आपके यहाँ किसी प्रकार का संगठा तो नहीं है?' और यह सुनकर कि संगठा नहीं है, वह आहार ले लेगा। कहने का अभिप्राय यही है कि जब लोलुपता रहेगी तब गवेषणा बराबर नहीं हो सकेगी और साधु 'सक्कार-पुरक्कार' परिषह को नहीं जीत सकेगा। इसलिए मुनि को संयोग के अनुसार निर्दोष आहार ही लेना चाहिए, भले ही वह रूखा-सूखा या रसहीन हो। अन्यथा वह दोष का भागी बनेगा। रस-लोलुपता से कमी-कमी कितना अनर्थ होता है यह श्रीलकराज ऋषि की कथा से सहज ही मालूम हो जाता है।

अनर्थकारी रस-लोलुपता

जाताधर्मकथा सूत्र में शैलकराज राजा के विषय में वर्णन आता है कि उनके पाँच सौ मांडलिक राजा भी थे। जब शैलकराज की भावना संयम ग्रहण करने की हुई तो उन्होंने अपने सभी मांडलिक राजाओं को अपना विचार सूचित किया।

मांडलिक राजाओं को जब यह ज्ञात हुआ कि हमारे स्वामी शैलकराज महा-राज दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं तो उन सबने आकर शैलकराज से कहा—“महाराज ! हमने अब तक के अपने जीवन में आपकी सेवा की है और आपके स्वामित्व को स्वीकार किया है अतः अब हम लोग अपने सिर पर दूसरे स्वामी को नहीं चाहते और आपके साथ ही संयम-मार्ग को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं, ताकि आगे भी आपकी सेवा में रह सकें।”

हुआ भी ऐसा ही, यानी जिस प्रकार शैलकराज ने अपने पुत्र को राजगद्दी देकर दीक्षा ग्रहण की उसी प्रकार पाँच सौ मांडलिक राजाओं ने भी अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर शैलकराज ऋषि का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

अब शैलकराज ऋषि अपने पाँच सौ शिष्यों सहित संयम का पालन करते हुए यत्र-तत्र विचरण करने लगे किन्तु रुखा-सूखा खाते रहने के कारण उनके शरीर को रोगों ने घेर लिया।

कुछ समय पश्चात् वे शिष्यों सहित विचरण करते हुए अपने शैलकनगर में आए तो उनके पुत्र ने प्रार्थना की—“आपका शरीर व्याधिग्रस्त है, अतः कुछ समय यहीं ठहरकर यहाँ के राजवैद्य से इलाज करवा लीजिये।”

शैलकराज ऋषि ने इसे स्वीकार कर लिया और अच्छे इलाज तथा उत्तम पथ्य आदि के निमित्त से उनका शरीर निरोग हो गया। किन्तु आराम से कुछ समय अपने नगर में रहने के कारण वे प्रमादी बन गये और साथ-साथ उत्तमोत्तम पथ्य के सेवन करने से सरस खाद्य पदार्थों में उनकी रुचि हो गई। फल यह हुआ कि गुरुजी के व्याधि रहित हो जाने पर जब उनके शिष्यों ने वहाँ से विहार करके अन्यत्र जाने का प्रस्ताव रखा तो वे मौन रह गये और उनके बार-बार कहने पर भी वे विहार करने के लिए तैयार नहीं हुए।

इस पर उनके शिष्यों ने यह सोचकर कि हमने घर-बार छोड़कर संन्यास ग्रहण किया है तो एक जगह पर ही रहने और अच्छा खाने-पीने के लिए नहीं, वहाँ से विहार कर दिया। किन्तु उन पाँचसौ शिष्यों में से सबसे बड़े पंथक नाम के शिष्य ने गुरुजी का साथ नहीं छोड़ा और सबसे कह दिया—

“मैं तो गुरु की सेवा को ही आत्म-कल्याण का मार्ग समझता हूँ अतः इन्हीं की सेवा में रहूँगा। गुरुजी सोये हुए सिंह हैं और निश्चय ही अचानक जाग जाएँगे। इनके पास रहने से ही मेरा कुछ भी नुकसान नहीं होगा। जिस प्रकार जहर खाने से आदमी मरता है पर जहर का व्यापार करने से वह नहीं मर सकता। अपने आपको सम्हालता हुआ मैं संयम का पालन भी करूँगा और गुरु की सेवा भी।”

एक दोहे में कहा गया है—

सुसंगति से सुधरयो नहीं, जाका बड़ा अभाग ।

कुसंगति से बिगड़यो नहीं, उनका मोटा भाग ॥

जो व्यक्ति सत्संगति पाकर भी अपने आपको सुधार नहीं सकता वह बड़ा अभाग्य है और कुसंगति में रहकर भी जो बिगड़ता नहीं है वह भाग्यशाली कहलाता है ।

पंथकजी ऐसे ही भाग्यशाली साधक थे जो कुसंग में रहकर भी अपना दामन स्वच्छ बनाये रहे । वे अन्य गुरुभाइयों के विहार कर देने पर अपने गुरु को उनकी इच्छानुसार आहार-जल ला देते थे तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे ।

इधर चातुर्मास प्रारम्भ हो गया और धीरे-धीरे वह समाप्त भी होने आया । पंथक जी तो बराबर अपना नित्य-नियम एवं प्रतिक्रमणादि करते थे किन्तु शैलक-ऋषि खाने-पीने के लोलुपी बन जाने के कारण प्रमादावस्था में पड़े रहते थे । रस-लोलुपता के कारण वे यह भी नहीं समझ पाए कि कब चातुर्मास प्रारम्भ हुआ और कब समाप्त हो गया ।

पर जब चातुर्मास समाप्त हुआ और पंथक जी ने प्रतिक्रमण करने के पश्चात् क्षमापाने के लिए गुरुजी के चरण स्पर्श किये तो वे जागे और क्रोध से आगबबूला होकर बोले—“कौन मृत्यु का आह्वान कर रहा है जिसने मेरे आराम में बाधा डाली ?”

पंथक जी बहुत विनयपूर्वक बोले—“गुरुदेव ! मैं आपको तकलीफ देना नहीं चाहता था, किन्तु आज चातुर्मास की समाप्ति का दिन है, अतः क्षमायाचना करने के लिए ही मैंने आपके चरणों का स्पर्श किया है । फिर भी आपको कष्ट हुआ इसके लिए क्षमा करें ।”

शैलकराज ऋषि ने बहुत चकित होकर पूछा—“क्या आज चौमासी है ?”

“हाँ भगवन् !” पंथक जी ने पुनः बड़ी शांति से उत्तर दिया ।

यह सुनते ही शैलकऋषि को धार पश्चात्ताप होने लगा और वे अत्यन्त दुखी होकर बोले—“अरे ! मैं कैसा प्रमादी और रस-लोलुपी बन गया ? कैसी मेरी कर्मगति है और कितनी भूल हुई मेरी ? सम्पूर्ण राज-पाट छोड़कर भी मैं जिह्वा के स्वाद में पड़कर संयम का भान ही भूल गया ।”

इस प्रकार घोर पश्चात्ताप की अग्नि में अपनी आत्मा को शुद्ध करते हुए शैलकराज ऋषि ने अपनी भूलों के लिए कठिन प्रायश्चित्त लिया और सेवाभावी शिष्य पंथक के साथ शैलकनगर से विहार कर दिया ।

तो बन्धुओ, संयम का पालन और संबर की आराधना करना बड़ा कठिन है । इसीलिए भगवान् ‘सत्कार-पुरस्कार’ परिषद् को भी अनुकषाई, अल्प इच्छावाला तथा अलोलुपी बनकर जीतने का आदेश देते हैं । जो भव्य प्राणी ऐसा करता है वह निश्चय ही आत्म-कल्याण करने में समर्थ बन जाता है ।



## प्रस्तुत कृति : विद्वानों की दृष्टि में

‘आनन्द प्रवचन’ को पढ़ते हुए अचसुच में एक आनन्दानुभूति होती है। इन प्रवचनों के माध्यम से भक्ति, त्याग, वैराग्य रुद्धभाव तथा सुसंस्कारिता की सुगंध समाज को मिलती है।

—मधुकर सुनि

श्रेय आचार्य प्रवच के प्रवचनों में जीवन का गहरा बोध रहता है। उनमें किसी भी व्यक्ति, संप्रदाय एवं धर्म के प्रति किसी प्रकार का आक्षेप तथा विरोध नहीं रहता, अहितु समत्व, प्रेम एवं एकता का मधुर घोष रहता है। उनके प्रवचन जीवन को पवित्र तथा आत्मा को उन्नत बनाने वाले हैं। सामाजिक विषमताओं को दूर कर सुसंस्कार तथा भ्रातृभाव का विकास करने वाले हैं।

—महाश्री उमशिवकर ‘अर्चना’

## हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

- अध्यात्म दशहरा
- समाज स्थिति-दिग्दर्शन
- ज्ञान कुंजर-दीपिका
- अमृत काव्य-संग्रह
- तिलोक काव्य-संग्रह
- चन्द्रगुप्त के सोलहस्वप्न
- श्रमणसंस्कृति के प्रतीक
- संस्कार (उपन्यास)
- ऋषिसम्प्रदाय का इतिहास
- त्रिलोक शताब्दि अभिनन्दन ग्रन्थ
- आनन्द प्रवचन, भाग १
- आनन्द प्रवचन, भाग २
- आनन्द प्रवचन, भाग ३
- आनन्द प्रवचन, भाग ४
- जैन जगत के ज्योतिर्धर  
आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि
- चित्रालंकार काव्य : एक विवेचन
- भावना योग : एक अनुशीलन
- तीर्थंकर महावीर
- आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि  
अभिनन्दन ग्रन्थ

प्राप्तिकेन्द्र

श्री गान्धारी मन्दिर प्रकाशनालय

Serving JinShasan



020149

gyanmandir@kobatirth.org

आवरण पृष्ठ के मुद्रक